CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

Hariguru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

5.1

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Gra

jGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalga

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड ७ अंक १

दिसम्बर, १९८५ / कार्तिक-मार्गशीर्ष, २०४२

संपादक

न्द्र बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

※ पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन और हिंदी विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रिका
※ नूतनमालिका (भूतपूर्व ' तत्त्वज्ञान–मंदिर ' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ※ राजेन्द्र प्रसाद ※ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ※ रमाकान्त सिनारी ※ विजयकुमार भारद्वाज ※ शारदा जैन संगमलाल पांडे ※ आर्. बालसुब्रमणियन् ※ अशोक रा. केळकर ※ के. जे. शहा ※ नारायणशास्त्री द्राविड ※ के. सच्चिदानंद मूर्ति ※ जी. सी. नायक ※ ग. ना. जोशी ※ मोहनलाल मेहता ※ जे. फाईस ※ सुमन गुप्ता ※ रा. स्व भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ※ चन्द्रकान्त बांदिवडेकर ※ सु. ए. भेलके

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें : कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :
संपादक, परामर्श (हिंदी) दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे–४११००७

अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा ।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. २०–००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. १४–००
(३)	छात्रों के लिए	रु. १०–००
	एक प्रति	रु. ०५–००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००–००
व्यक्तियों के लिए रु. २००–००

※ राशि चेक से भेजनी हो तो पांच रुपये अधिक जोड़ दें ।

आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जैविक विकास, जैव-आभियान्त्रिकी और धर्म

चार्ल्स डार्विन ने सर्व प्रथम अपने जैविक विकासवाद की प्रस्थापना का उद्घोष कर के पश्चिमी विचारजगत् के इतिहास में भूचाल सा ला दिया। उसके पूर्व ईसाई तथा अन्य धर्मों ने मनुष्य योनि को ईश्वर की एक विशिष्ट पैदायश स्वीकार किया था जो पृथ्वी पर सर्वश्रेष्ठ है और जिसे ईश्वर ने सम्पूर्ण पृथ्वी के जीवों पर शासन करने का जन्मसिद्ध अधिकार प्रदान किया है। डार्विन ने धर्म की इस मान्यता को चुनौती दे दी। उसने प्रतिपादित किया कि मनुष्य भी संसार के अन्य जीवों की तरह उन्हीं जैसा एक जीव है जो प्रकृति के सामान्य नियमों से शासित होकर विकसित हुआ है। प्रकृति का सम्पूर्ण कलेवर अपनी आंतरिक सुसंगति प्राप्त करने की दिशा में निरंतर गतिशील इकाई है। उस बृहत् गतिशील इकाई में असंख्य जीवों की दैहिक इकाइयाँ गतिशील हैं। सभी दैहिक इकाइयाँ प्राकृतिक पर्यावरण में अधिक से अधिक अवधि तक सुसंगत तरीके से जीना चाहती हैं और परस्पर अभियोजन करती हुई प्रकृति की आंतरिक सुसंगति प्राप्त करने के उद्देश्य में सहायक बनती हैं। इस अभियोजन क्रिया में देह के उपयोगी अंगों का संरक्षण, परिवर्धन और नवसृजन होता रहता है तथा अनुपयोगी अंगों तथा उन के दैहिक गुणों का उत्सर्जन संकुचन और समापन भी। यही उपयोगी दैहिक गुणों का संरक्षण, परिवर्धन तथा नवसृजन एवं अनुपयोगी का उत्सर्जन संकुचन तथा समापन करने की क्रिया को डार्विनवादियों ने जैविक विकासवाद का नाम दिया। इस प्रकार जैविक चरित्र का लक्षण उपयोगिता कहना सार्थक हो गया। इस जैविक उपयोगितावादी विकासक्रम में सम्पूर्ण जीवराशि एककोशीय अमीबा से लेकर असंख्य कोशीय मनुष्यदेह तक श्रेणी रूप में प्रकट हुई। इस श्रेणीबद्धता में अभियोजनक्षमता के मापदण्ड से जो जीवक्रम सब से अधिक अभियोजित हुआ वह सब से ऊपर और फिर क्रमशः कम कम अभियोजित जीवक्रम नीचे की श्रेणी में रखे गए। इस श्रेणीकरण में अमीबा सब से नीचे और मनुष्य सब से ऊपर आया। शेष सारी जीवयोनियाँ इन दोनों श्रेणियों के मध्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में रहीं। इस के साथ ही यह भी विशेष रहा कि ये सारी दैहिक श्रेणियों आंतरिक रूप से एक दूसरे से जुड़ी भी रहीं और इन का उत्पत्तिक्रम नीचे से ऊपर की ओर मान्य हुआ। इस प्रकार अमीबा उत्पत्तिक्रम की अपेक्षा सारी जीवराशि का अतिदूरागत पूर्वज कहलाया और मनुष्य उस क्रम की अति-निकटवर्ती संतति। मनुष्य का सन्निकट पूर्वज चिम्पांजी बंदर मान्य हुआ। हम बंदर की संतान ठहराये गए। और इस प्रकार मनुष्य की स्वकल्पित विशिष्ट श्रेष्ठता के सिद्धान्त की धज्जियां उड़ गयीं। मनुष्य और पशुओं की जाति एक हो गई। बल्कि इससे यह भी स्वीकार हुआ कि मनुष्य पशु पहले है और कुछ बाद में। यानी मनुष्य की देवत्व से समीपता समाप्त होकर पशुत्व से समीपता सिद्ध हो गई।

डार्विन का मानना रहा कि समय गुजरने के साथ जीवों की प्रजातियों क्रमशः अपने पूर्वजों से अधिक कुशल होती गयीं तथा शारीरिक गुणों में पर्यावरण के अनुकूल परिवर्तन करती हुई नयी नयी उच्चतर प्रजातियों में ढलती गयीं। जो प्रजातियाँ पर्यावरण के अनुकूल परिवर्तन नहीं कर सकीं वे मिटती गयीं और केवल योग्यतम ही जीने में सफल रहीं। योग्यतम होने के लिए जीवों को पर्यावरण के घटक तत्त्वों से जूझना पड़ा। इस जूझ में कुछ तो पर्यावरण बदला कुछ जीव स्वयं बदला, और अभियोजन होता गया। इसी अभियोजन के संघर्ष की अंतिम परिणति हुई आज का मनुष्य, जिस ने अपने पूर्वज जीवों से विशिष्ट मस्तिष्क-रचना का विकास किया और सृष्टि पर आश्चर्यजनक रूप से छा गया। वह सम्पूर्ण संसार का स्वामी हो गया।

द्रष्टव्य है कि डार्विन तथा उसकी परम्परा के अनुचिन्तकों का पूरा जोर पर्यावरण तथा जीव की दैहिक संरचना के विकास पर रहा है। सीधी सी बात है, वे व्यक्ति को प्रकृति का ऐसा उपकरण मानते हैं जिस के रूपाकार, बनावट और चरित्र का निर्धारण पर्यावरण की जरूरत से होता है। प्रकृति की जैसी माँग होती है उसी के अनुसार व्यक्तित्व और उस का चरित्र ढल जाता है। जो व्यक्तित्व प्रकृति की माँग पूरी नहीं करता वह तनावग्रस्त होता हुआ धीरे धीरे क्षय होने लगता है और एक दिन उस की वह प्रजाति प्रकृतिमंच से गायब हो जाती है। इसके विपरीत वे व्यक्ति जो प्रकृति की माँग का अधिक से अधिक ख्याल रखते हैं धीरे धीरे अतिमानव (सुपरमैन) होने की दिशा में बढ़ उठते हैं और एक दिन प्रकृति की सारी प्रजातियों के स्वामी हो जाते हैं। अति-मानव का इस प्रकार स्वामी होना उस का जन्मसिद्ध अधिकार है। डार्विन की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस क्रान्तिकारी प्रस्थापना से जीवतत्त्व के बारे में निम्नलिखित निष्कर्ष निगमित हुए :-

१. जीव प्रकृति या पर्यावरण का दास है। जीव-रचना वैसी ही होगी जैसा उसे पर्यावरण मिलेगा। वह पर्यावरण के नियमों से शासित उस का एक उपकरण मात्र है।

२. प्रत्येक जीव की अंतर्रचना पर्यावरण से निर्दिष्ट दैहिक रूप से जीवयापन की मूल प्रेरणा से चालित होती है। वे मूल प्रेरणाएँ या मूलप्रवृत्तियाँ जीव का सम्पूर्ण स्व हैं। दूसरे शब्दों में, जीव का जीवत्व मूलप्रवृत्तियों का समुच्चयमात्र है।

३. अतिमानव भी पर्यावरण की कठपुतली है। वह सारी प्रजातियों का स्वामी होते हुए भी पर्यावरण की मांग का उल्लंघन नहीं, बल्कि उन की जरूरतों का पूरण ही करता है और अधिक से अधिक मूल-प्रवृत्तियों की तृप्ति करता है। मूलप्रवृत्तियों की तृप्ति याने पशुत्व का पोषण याने अतिमानव सारे पशुओं के ऊपर एक दैत्य पशु से अधिक नहीं होता।

जैविक विकासवादियों के उपर्युक्त निष्कर्षों के पिष्टपेषण में समाज के क्षेत्र में मार्क्सवादियों ने, मनोविज्ञान के क्षेत्र में व्यवहारवादियों ने तथा दर्शन के क्षेत्र अस्तिववादियों के एक वर्ग ने सिद्धान्त निरूपित किए। इन सब के सिद्धान्तों का सारतत्व यह था, कि जैविक इकाई पूर्णतः स्थूल की पैदाइश है। फिर स्थूल पर्यावरण के साथ क्रिया-अनुक्रिया, चयापचय के द्वारा जीव की स्थूल संरचना सूक्ष्मोन्मुखी हो उठती है। तभी उस के अन्दर अनुभूतिचेतना, चिन्तन मनन के तत्त्व विकसित होते हैं। अतः ये जीवन के अभौतिक और सूक्ष्म आयाम भी स्थूल से आते हैं और ये भी जैविक विकास के विभिन्न सोपान हैं। जैसा स्थूल होता है वैसा ही सूक्ष्म बनता है। स्थूल ही सूक्ष्म को नियंत्रित करता है। स्थूल तत्त्व नेता है, सूक्ष्म उस का अनुचर। स्थूल कारण है, सूक्ष्म उस का कार्य। स्थूल के होने पर ही सूक्ष्म होता है। स्थूल नहीं तो सूक्ष्म भी नहीं।

जैविक विकासवाद की प्रस्थापना पर काफी ऊहापोह हुआ। फिर परवर्ती विचार-परम्परा में विकासवाद के अनेक सिद्धान्त प्रतिपादित हुए। उन सब का विवेचन करना यहाँ अभिप्रेत नहीं हैं, किन्तु यह देखने की बात है कि उसी विचारमंथन के माहौल में मनोविश्लेषण और आनुवंशिकी-विज्ञान जैसे स्वस्थ अध्ययनों का विकास हुआ। इन दोनों अध्ययनों को श्रेय जाता है कि इन्होंने वैज्ञानिक विचार-तकनीकी से सिद्ध किया कि स्थूल सूक्ष्म का नियामक नहीं है,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सूक्ष्म स्थूल का नियामक है। मनोविश्लेषण ने स्थापित किया, कि अचेतन मन ही सम्पूर्ण बाह्य व्यवहार तथा व्यक्तित्व-निर्माण के लिए उत्तरदायी है। आनुवंशिकी ने सूक्ष्म वंशसूत्रों (जीन्स) में सम्पूर्ण स्थूल संरचना के कारण स्थापित किए। फलतः चिन्तनप्रवाह फिर सूक्ष्म से स्थूल की ओर चल पड़ा। स्थूल फिर से सूक्ष्म का कार्य मान्य किया जाने लगा।

आनुवंशिकी और मनोविश्लेषण ने मानवीय चिन्ता में कुछ नये प्रश्नचिन्ह लगाए तो कुछ पुराने निपटाए भी। देखने की चीज है, दोनों अध्ययनों ने कुछ नये ढंग से धार्मिक मान्यताओं के द्वार भी खोले जो हम आगे चर्चाएंगे। सम्प्रति हमें यह स्पष्ट करना है कि इन से हमें पुनः इस निष्कर्ष पर लौटे कि मनुष्य का अस्तित्व स्वाधीन और मौलिक ही है। वह पर्यावरण का दास नहीं है। शारीरिक बनावट में नये गुणों का अर्जन और कुछ पुरानों का क्षरण केवल पर्यावरण के बदलने से नहीं होता, अपितु उन का निर्धारक सूक्ष्म वंश-सूत्रों में निहित गुणों से होता है। ये वंशसूत्र पीढ़ी दर पीढ़ी संतति में संक्रमित होते जाते हैं जिन पर पर्यावरण का प्रभाव पड़ता है या नहीं, या पड़ता भी है तो कैसे यह कुछ तय नहीं है। बहरहाल, यह तय जरूर है, कि इन्हीं वंशसूत्रों में स्थित जीन्सों के कारण पीढीयों की शारीरिक बनावट अपने पूर्वजों जैसी होती चली जाती है। जीन्सों की अपनी दुनियाँ है जो इस यथाकथित पर्यावरण से पूर्ण स्वतंत्र है और जिस का नियमन इस स्थूल पर्यावरण के नियमों से बँधा नहीं है। यदि इन जीन्सों की रचना को अपने सूक्ष्म जैविकीय साधनों से परस्पर घोलमेल करें तो ये वर्णसंकर हो जाते हैं और इस से संतानों के वर्णसंकर शरीर पैदा हो जाते हैं. जिन शरीरों को पर्यावरण की मांग से बने नहीं कहा जा सकता। अब तो इस प्रकार घोलमेलों के प्रयोग रोजमर्रा के काम हो गए हैं और नित नयी प्रजातियों के आविष्कार हो रहे हैं। इन नयी प्रजातियों में नई नई क्षमताओं के भी दर्शन हो रहे हैं। अब तो ऐसा प्रतीत होता है कि डार्विन का जैविक विकासवाद अब पर्यावरण की लाखों, करोडों वर्षों की मेहनत की तुलना में मनुष्यों की प्रयोगशालाओं की कुछ वर्षों की मेहनत से पीछे छूट जाएगा और मनुष्य मनचाही सृष्टि करने में सफल हो जाएगा। और यह सिद्धान्त कब तक स्थिर रह सकेगा, कि जीव मूलप्रवृत्तियों का समुच्चय है तथा वह शारीरिक आवश्यकताओं से शासित पशुमात्र है – कहा नहीं जा सकता।

जैसे जैसे वर्णसंकर के जैविकी अध्ययन के चरण आगे बढ़ रहे हैं मनुष्य का शरीरजीवी पशुरूप गौण होता जा रहा है और उस का बुद्धिजीवी रूप प्रमुख। मूलप्रवृत्तियाँ जो परम्परा की रूढ़ आदतें मात्र हैं। धीरे धीरे वर्णसंकर प्रजातियों

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में लुप्त हो रही हैं और वे नई नई प्रवृत्तियों को प्रकट कर रही हैं। अतिमानव की कल्पना अब दैत्य, पशु से हटकर प्रखर बुद्धिजीवी की ओर आ रही है, जिस का जीवनमूल्य अब केवल भोजनान्वेषण और प्रजनन ही नहीं अपितु इन से परे मूल्यों की स्थापना है। वे परे के मूल्य, यह निश्चय लगता है, शारीरिक आवश्यकताओं मात्र से अनुशासित नहीं हैं, अपितु वे पराशारीरिक हैं। अतिमानव पराशारीरिक, परामौतिक जीवनमूल्यों की और बढ़ता हुआ दिखाई पड़ता है।

तो अब प्रश्न यह है, कि ये परामौतिक जीवनमूल्य क्या हैं, और इन की क्या उपयोगिता है। अभी इस प्रश्न का उत्तर बिल्कुल साफ तो नहीं है, किन्तु यह स्पष्ट जरूर है कि आज वैज्ञानिक मेधा से मंडित व्यक्ति शारीरिक वासनाओं तक सीमित नहीं है। उस की सारी वासनाओं की तृप्ति के साधन जुटा देने के बाद भी ऐसा बहुत कुछ शेष रह जाता है जिस के लिए भोग के साधनों का कोई मूल्य नहीं है। प्रकृति के गुह्य रहस्यों के प्रति जिज्ञासा, गणित की सूक्ष्म परिकल्पनाएँ आज के अतिमानव की चिन्ता के विषय हैं और जटिलतम गणनाएँ, परमाणुओं और जीवाणुओं की सूक्ष्म परिकल्पनाएँ आज के अतिमानव की चिन्ता के विषय हैं और उस की शक्ति के स्रोत हैं। उस की जीने की कला और जीवन की उपलभ्यमान स्थितियाँ शरीराश्रित नहीं रहीं हैं। उस के लक्ष्यविन्दुओं का क्षेत्र भले ही दृश्य-जगत् में हो किन्तु वे बिन्दु अवश्य ही हैं और उन की उपयोगिता बौद्धिक परितृप्ति में निहित है। इसलिए जैविक विकास स्थूल चरण में दाखिल हो चुका है। अन्नमय कोश से प्राणमय और प्राणमय कोश को भी लाँघता हुआ मनोमय कोश में पहुँच चुका है और वहाँ से भी आगे विज्ञानमय कोश के दरवाजे पर दस्तक दे रहा है। बिल्कुल एक नई जैविकी का जन्म हो चुका है और मनुष्य की एक बिल्कुल विलक्षण प्रजाति प्रयोगशाला-स्तर पर निर्माणाधीन है।

एक बात विशेषरूप से देखने की है, कि जैविक विकासवादियों की मुख्य यह है प्रस्थापना कि पर्यावरण के बदलने से तदनुकूल अभियोजनार्थ शरीर में परिवर्तन होता है और वह शारीरिक परिवर्तन पीढ़ी दर पीढ़ी थोड़ा थोड़ा कर के प्रजातियों में आगे संक्रमित होता जाता है। इस के अनेक उदाहरण दिए गए, जैसे, जिराफ और ऊँट की लम्बी गर्दन, हिरनों की छोटी पूँछ, मनुष्य शरीर में पूँछ और एपेंडिक्स आदि। किन्तु बाद के प्रयोगें में यह तथ्य स्थापित न हो सका। चूहों की कई पीढ़ियों तक पूँछ काटी गई, किन्तु किसी पीढी में बिना पूँछ का तो दूर छोटी पूँछ का चूहा भी पैदा नहीं हुआ। इस प्रकार मात्र शरीर स्तर पर अर्जित किया हुआ गुण संक्रमित नहीं हो सका। वह तभी संक्रमित होने की स्थिति में पहुँचा जब जीव के वंश-सूत्रों में तदनुसार जीन्सों में परिवर्तन हो गया। जीन्स

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का परिवर्तन मनुष्य की इच्छाशक्ति, जिस का स्रोत बाहर न हो कर भीतर से है, के कारण ही हुआ। इस से यह सिद्ध हुआ कि पर्यावरण शरीर-परिवर्तन अथवा जैविक विकास में वाह्य निमित्त कारण तो हो सकता है किन्तु इस का वास्तविक उपादान कारण नहीं। उपादान कारण तो जीव की इच्छाशक्ति और उस की जीन्स-रचना में निहित है। और इस उपादान कारण का अपना स्वतन्त्र अस्तित्व है। यह पर्यावरण का दास घटकमात्र नहीं है।

जैविक विकासक्रम की व्याख्या में हम धीरे धीरे स्थूल से सूक्ष्म कारणों की खोज में ही बढ़ते गए। शारीरिक अंगों से जीवकोशिका, कोशिका से कोश-नाभि, नाभि से डी. एन ए., डी. एन ए. से वंशसूत्र, वंशसूत्रों से जीन्सों के अध्ययन तक हम आ पहुँचे हैं। यह संभव लगता है कि यह अध्ययन-यात्रा और सूक्ष्म की ओर बढ़ेगी और प्राचीन धर्मदर्शनों में तैजस् और कार्माण शरीर-संहति तथा आद्या प्रकृति के अध्ययनों से मेल खा सकेगी। फिर भी अब तक के अध्ययनों से यह बात स्पष्ट हो गई है, कि डी. एन. ए., आर. एन. ए., जीन्स आदि स्वयं में कोई जीवधारी नहीं है, अपितु प्रोटीन और बीस प्रकार के आम्लों के घोलमेल के आधार पर बने रासायनिक तत्त्व मात्र हैं। इन रासायनिक तत्त्वों के आगे के घोलमेल से ऐसा भौतिक आधार अवश्य बन जाता है जिस में जीव का प्राणतत्त्व विकसित हुआ दिखाई पड़ता है। किन्तु इस में एक प्रश्न अब भी अनुत्तरित है कि इन जीन्सों के बनने, बिगड़ने, जमने, फुदकने के पीछे प्रेरक शक्ति कौन सी है। साथ ही जीव में ज्ञान और स्वानुभूति और अंतर्दृष्टि का कर्ता कौन है ? व्यक्ति में संकल्पशक्ति का स्रोत कहाँ है। ये कुछ प्रश्न हैं जो जैविक विकास की प्रस्थापना से स्पष्ट नहीं होते। यदि इस के लिए जल्दबाजी में कह दें क्योंकि प्रत्येक जीव जीना चाहता है इसलिए वह अभियोजन की दिशा में जैविक विकास करता है, तो इसका मतलब हुआ, विकास-प्रक्रिया के पहले जीने का संकल्प प्रेरक रूप में मौजूद था। फिर तो जीने के संकल्प का कर्ता विकास-प्रक्रिया से पूर्व स्वाधीन अस्तित्व में होना चाहिये, जिस के लिए ही विकासक्रय चालित होता है। उस कर्ता का जो भी नाम दें लेकिन विकासक्रम की तार्किक परिणति यह जरूर बनती है कि वह कर्ता स्वाधीन अस्तित्व में ज्ञान, अनुभूति और संकल्प का धारक विलक्षण द्रव्य है। उस कर्ता को चाहे आत्मा कहें या ब्रह्म, पुरुष या रूह -- उस से कोई अंतर नहीं पड़ता। धर्म इसी कर्ता की खोज-खबर लेने वाली प्रणाली है और धर्म-दर्शन उस प्रणाली की व्याख्या करने वाली प्रविधि है।

आनुवंशिकी और जैव आभियांत्रिकी ने मनुष्य के सामने कुछ नई और विलक्षण समस्याएँ पैदा कर दी हैं। आनुवंशिकी के क्षेत्र में जीन्सों का बनाना,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बिगाड़ना और उन की कलमें लगा कर उन्हें संकर बनाना सम्भव हो गया है। आण्विक विस्फोटों से जीन्सों के क्षेत्र में इस प्रकार के परिवर्तन किए जा सकते हैं। वनस्पतियों और पशुओं में हम ने इसी तकनीक से नयी प्रजातियाँ तैयार कर ली हैं। मनुष्यों में भी वह तकनीक लागू होने वाला है। कल्पना की जाने लगी है रक्त बैंक की तरह शुक्राणु बैंक की, जिस में भिन्न भिन्न प्रकार के जीन्सों की उपलब्धता रहे। फिर हम उन जीन्सों में घोलमेल करें और उन में भावी संतति के गुणों के समीकरण तैयार करें और मनुष्यों में भी नयी नयी प्रजातिया बनाएं। दूसरी सम्भावना टेस्टट्यूबों में भ्रूणों को बनाने और पालने से सम्बंधित है। प्रयोग सफल हो चुका है। जैविकी के क्षेत्र में इस प्रकार किए जाने वाले प्रयोगों से मनुष्य का जीवन नई दिशाएँ लेता हुआ और उस के चिन्तन पर क्रान्तिकारी प्रभाव भी पाड़ता हुआ दिखाई पड़ता है। जैविकी अभियंत्रण से निम्नलिखित परिणाम सामने आ रहे हैं, जिन का सीधा सम्बन्ध मनुष्य की आज तक की धार्मिक मान्यताओं से जुड़ा हुआ है :-

१- जीन्सों के मनोनुकूल परिवर्तन से धर्म में पोषित कर्म-सिद्धान्त निरर्थक हो जाएगा। अब हम उक्त कर्मों का क्षरण, उत्सर्जन, संक्रमण, परिवर्तन अपनी जैव प्रयोगशाला में कर सकेंगे। धर्म-साधना की कोई जरूरत नहीं रहेगी।

२. जैव रसायनों के घोलमेल से हम जीवन की उत्पत्ति अपनी प्रयोग-शाला में करेंगे। अतः जीवों के जन्मजन्मान्तर, पुनर्जन्म, स्वर्गनरक आदि अलौकिक कल्पनाओं का कोई मूल्य नहीं रहेगा।

३. शुक्राणु और रज का वांछित जीनों के साथ मिश्रण स्त्री पुरुष के समागम के बिना ही प्रयोगशाला या कर्मशाला में कर सकेंगे और संतानोत्पत्ति शुद्धतः जैव अभियंत्रण का परिणाम हो सकेगी ताकि फिर सेक्स, प्रेम, विवाह का कोई मूल्य नहीं रहेगा। परिवार समाप्त हो जाएँगे। जीवन को निरर्थकथा बढ़ जाएगी।

४. सृष्टि का कर्ता और नियंता जैव अभियन्ता होगा और सारा जीवन कम्प्यूटरों से चालित होगा। युद्ध और शान्ति कम्प्यूटरों के विवेक पर निर्भर करेगी। अब ईश्वर की जरूरत नहीं रहेगी। मंदिरों की वेदी पर कम्प्यूटरों की स्थापना शुरू हो जाएगी। मनुष्य मशीनचालित खुद एक मशीन हो जाने के लिए अभिशप्त होगा। आत्मा और ब्रह्म कोरी गप्पों की कोटी में चले जाएँगें। धर्म की जरूरत समाप्त हो जाएगी।

ऐसी ही कुछ आसन्न समस्याओं पर आगे संक्षिप्त ऊहापोह करें।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हो सकता है, भविष्य में हमारी जैविक आभियांत्रिकी इतनी विकसित और सक्षम हो जाए, कि हम जैविक संरचना में छिपे परत दर परत तैजस् (वैद्युतिक-चुंबकीय) और कार्माण (मॉलिक्युलर) शरीरों के सूक्ष्मतम अदृश्य स्कंधों का का प्रहस्तन कर सकें और उन्हें मनचाहे ढंग से घोलमेल कर के रद्दोबदल कर सकें, मन के गुह्य अंतराल में बैठी बेचैन मनोग्रंथियों, व्याधियों, कुंठाओं की स्कांधिक संरचनाओं को तोड़ सकें, तो इस में कोई शक नहीं, यह अचिन्तनीय एवं चामत्कारिक उपलब्धि होगी। यह भी, कि भविष्य में स्त्रियाँ प्रसव-पीड़ा से मुक्त हो जाएँ और रज, वीर्य सम्बंन्धित बैंकों से खरीद कर किसी कार्यशाला में टेस्ट-ट्यूब की कृत्रिम योनि में रख कर बच्चों का प्रजनन कर लिया जाय तथा बच्चों में भी लिंग गुणों का चुनाव मनोनुकूल हो सके। यह सब होने पर भी क्या धर्म की प्रासंगिकता समाप्त हो सकेगी ? धर्म तो वस्तुतः व्यक्ति की रिक्तता-बोध से निपटने की प्रणाली है। प्रकृति ने नारी को माँ बनने की व्यवस्था दी है। वह जन्म से ही मातृत्व का पूर्वाभिनय करती है और जीवनपर्यंत बच्चे जन कर उनके पालन-पोषण की व्यस्तता के सहारे माँ होने के अहसास के साथ प्राण त्याग देती है। पुरुष भी गर्भ-धारण का निमित्त बनता है और जीवन भर नारी द्वारा जनित सतति की रक्षा करते हुए व्यस्त रह कर प्राण त्यागता है। दोनों ही इस क्रिया-कलाप में आनन्द लेते हुए व्यस्त रहकर अपना जीवन भरा भरा महसूसते हैं। फिर भी इन व्यस्त क्षणों की श्रृंखला में संधि-स्थलों पर छुटी हुई रिक्तता रह जाती है। उसी से मनुष्य संत्रस्त होकर अदृष्ट प्रभु की गुहार लगा उठता है और धर्म की शरण खोज उठता है। तो फिर जब जैविक आभियांत्रिकी की कृपा से मनुष्य प्रजनन और पालनपोषण के व्यक्तिगत दायित्व से भी मुक्त हो गया तो उसे व्यस्त रहने का कौन सा सार्थक आधार प्राप्त रह सकेगा। क्या उस का जीवन खाली खाली, निरर्थक, निरुद्देश्य न हो जाएगा ? निश्चय ही उस का रिक्तता-बोध बढ़ेगा और उस संत्रास से निपटने के लिए उसे और अधिक गहराई से धर्म की शरण खोजने को मजबूर होना पड़ेगा। फिर धर्म अप्रासंगिक कहाँ हुआ ? उस की प्रासंगिकता तो और बढ़ गई लगती है।

आनुवंशिकी और जैविक आभियांत्रिकी के द्वारा हम शरीरोत्पत्ति की क्रिया मनोवांछित रूप से तो कर सके और प्रकृतिप्रदत्त मात्र संयोग के दास नहीं रहे। यहाँ तक तो हमारा पराक्रम रहा, किन्तु इस पराक्रम से हमें हासिल क्या हुआ ? क्या हमने कुछ ऐसा कर दिखाया जो प्रकृति जिस रीति से नये शरीर गढ़ती है, जैव अभियन्ताओं ने भी वही रीति अपनाई। हाँ, इन्होंने नारी-योनि की नकल टेस्टट्यूब में उतारी, उसी में स्त्री पुरुष से ही रज, वीर्य लेकर प्रकृति-रीति से गर्भ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public,Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बनाया और उसे सेया और बच्चा जना। सारी रीति प्रकृति से चुराई और अपना पराक्रम घोषित किया। पराक्रम आखिर किस बात का ? नकलची होने का न ? और इस पराक्रम ने मनुष्य को क्या विलक्षण दिया जो उसे प्रकृति नहीं दे सकी थी ? मिला सिर्फ बाँझपन नारी को, निठल्लापन पुरुष को। प्राकृतिक प्रजनन से सम्भोग का आनन्द अतिरिक्त मिलता है, जिसे यह जैव आभियांत्रिकी उस से छीननेवाली है। या फिर बंध्याकरण करने के बाद केवल सम्भोगजनित आनन्द के लिए सम्भोग करना, करवाना क्या निरुद्देश्य और अस्थाई मूल्य का कार्य-व्यापार नहीं हो जाएगा ?

हाँ इतना जरूर है, कि जैविकी अध्ययन से मनुष्य का यथार्थबोध बढ़ रहा है और वर्तमान जीवन-मूल्यों के प्रति मोह-भंग पैदा हो रहा है। धर्म के बारे में यह स्पष्ट हो रहा है कि धर्म नैतिकता से बँधा हुआ नहीं है और नैतिकता सेक्स पर ही केन्द्रित नहीं है। सेक्स-मुक्त नैतिकता और नैतिकता-मुक्त धर्म हो सकता है। धर्म तो आत्म को पहचानने की प्रणाली है। वह तो मात्र आत्म-बोध है। आत्म-बोध का उदय तभी होता है जब व्यक्ति का नैतिक संस्थाओं से और रूढ़ि मान्यताओं से मोह-भंग हो जाए। उसे जीवन निरर्थक, अस्तित्व खाली खाली सा लग उठे, मृत्यु का विराट् शून्य, नकार का घोर अंधकार घेरने लगे, तब वह सचमुच निरीह होकर किसी उद्धारक की पुकार मचाएगा। संसार से वैराग्य उपजेगा और अदृष्ट सत्ता की शरण में गिरने को वह उद्यत हो जाएगा। ऐसे क्षण में ही धर्म की प्रासंगिकता स्पष्ट होगी। धर्म उस के उद्धार का एकमात्र रास्ता होगा। तो इस जैविक आभियांत्रिकी से हम प्रजनन और जीन्स-संकरीकरण के बारे में कितना ही पराक्रम क्यों न सहेजें, और हम शरीर शरीर की कितनी ही सूक्ष्म संरचना में क्यों न उतर जाएँ वह पूरा का पूरा प्रकृति का क्षेत्र रहेगा। पुरुष द्रष्टा और ज्ञाता है, जहाँ से विवक और संकल्प चूता है। प्रकृति में भोग है और वह मूलप्रवृत्तियों से चालित होती है। संकरता प्रकृति में ही सीमित है। वह प्रकृति के सामान्य नियमों का उल्लंघन नहीं कर सकती। पुरुष जब तक प्रकृति पर मोहित है वह अपना विवेक और संकल्प प्रकृति के हवाले किए है और प्रकृति के साथ नाच रहा है। जैसे ही उस का मोह-भंग होता है, वह वैराग्य से भर जाता है। उस का विवेक और संकल्प अपने में सिमट उठता है। वह आत्म-दर्शी हो उठता है। फिर वह स्वयं धर्म का प्रतीक हो जाता है।

विज्ञान ने मनुष्य को आँखें दीं, जिस से वह प्रकृति को काफी दूरी तक पहचानने में समर्थ हो सका। किन्तु उस ज्ञान का प्रयोग प्रकृति का संतुलन बिगाड़ने में करने जा रहा है जो मनुष्य जाति के लिए शुभ नहीं है। जैसा कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होता आया है, प्रत्येक नये ज्ञान का प्रयोग पहले ध्वंस करने के लिए किया गया है। इस नये जैविकी ज्ञान का प्रयोग भी यदि विनाश के लिए किया गया तो यह अणुबम् से भी अधिक खतरनाक साबित हो सकता है। जैविक और रासायनिक युद्ध कई पीढियाँ तक विनाश के कारण बने रह सकते हैं। इस भयावहता को रोकने का एक मात्र उपाय धर्म है। धर्म, कर्मकाण्डी पुरातन-पंथी धर्म नहीं, अपितु अधुनातम आत्मदर्शी धर्म जो वैज्ञानिक विवेक से संगति रखता हुआ चले। ऐसें ही नये भाव-बोध और यथार्थ-बोध से संपृक्त धर्म से जो उगती हुई नयी अंतर्राष्ट्रीय संस्कृति अनुस्यूत होगी वही मानवता के लिए कल्याणकारी होगी। बिना धर्म के भावी संस्कृति और सभ्यता केवल शैतान की हुकमत होगी जो भंयकर विनाश के अतिरिक्त और कुछ न दे सकेगी।

– प्रद्युम्न कुमार जैन

प्रधानाचार्य
आदित्य नाथ झा राजकीय इं. कालेज
रुद्रपुर २६३१५३
नैनीताल (उ. प्र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समीक्षा और सर्जना

काव्य के सर्जन-पक्ष और आस्वाद-पक्ष की पृथक्ता का प्रतिपादन करते हुए गोस्वामी तुलसीदास ने लिखा है :

मणि मानिक मुकुता छबि जैसी । अहि गिरी गज सिर सोहन तैसी ।।
नृप किरीट तरुनी तनु पाई । लहहिं सकल सोभा अधिकाई ।।
तैसेहि सुकवि कबित बुध कहहीं । उपजहिं अनत अनत छबि लहहीं ।।

मणि, माणिक्य और मुक्ता का सौंदर्य वहाँ उजागर नहीं होता जहाँ ये पैदा होते हैं । मणि साँप के फन पर होती है, माणिक्य पहाड़ पर और मुक्ता हाथी के सिर पर, लेकिन सजते हैं ये सब राजा के मुकुट और तरुणी के शरीर पर । इसी प्रकार काव्य उत्पन्न कहीं होता है और प्रशंसित कहीं और । गोस्वामीजी ने यह बात काव्य के संबंध में कही है, लेकिन अन्य कलाओं के विषय में भी यह उतनी ही सच है जितनी काव्य के विषय में ।

सही बात यह है कि काव्य तथा अन्यान्य कलाएँ सर्जक और आस्वादक रूपी दो तटों को अपने प्रवाह से जोड़े रहती हैं । कला-सर्जक इस संबंध में प्रायः सचेत रहते हैं कि रची जा रही वस्तु का सौंदर्य दूसरों तक पहुँचने के लिए है । इसलिए प्रत्येक कलाकार चेतन-अचेतन रूप में सम्प्रेषण को साधता है । कई बार कलाकार को लगता है कि उसने अपने आपको सफलतापूर्वक व्यक्त तो कर दिया है, लेकिन उसकी रचना दूसरों के लिए सुग्राह्य नहीं बन पाई है । रचना के सम्प्रेषण को बाधित होते देख उसे लगता है कि वह उस यश से वंचित रह जाएगा जो उसकी कला-साधना की एक प्रमुख प्रेरणा रहा है । इस स्थिति में वह या तो आत्माभिव्यक्ति को ही कला का अंतिम उद्देश्य मानकर संतोष कर लेता है या फिर वह भवभूति की तरह कह सकता है कि धरती बहुत बड़ी है और समय की कोई सीमा नहीं है; कहीं-न-कहीं, कभी-न-कभी तो कोई मेरा समानधर्मा उत्पन्न होगा जो मेरी रचना को समझ सकेगा :

परामर्श (हिंदी), खंड ७, अंक १, दिसम्बर, १९८५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथिवी ।

ऐसे संकट की स्थिति में समीक्षा सर्जन की सहायता के लिए अपने आपको प्रस्तुत करती है। वह सर्जन की उन सूक्ष्मताओं को आलोकित करती है जो आस्वादक की दृष्टि में सामान्यतया आ नहीं पातीं। सर्जन की सूक्ष्मताओं को आलोकित करने का अर्थ शिल्प-सौष्ठव का विश्लेषण करना नहीं है। इसके विपरीत समीक्षा रचना को इस तरह खोलती है कि उसके सर्जनात्मक सौंदर्य के उद्घाटन के साथ ही उसका अभिप्राय भी खुल जाता है।

रचना जितनी संश्लिष्ट होती है उतनी ही उसकी कलात्मक समृद्धि की संभावना बढ़ जाती है, लेकिन उसका अभिप्राय भी उतना ही प्रच्छन्न हो जाता है। जयशंकर 'प्रसाद' की प्रसिद्ध काव्यकृति कामायनी और मुक्तिबोध की अनेक कविताओं के नाम उदाहरण के लिए गिनाये जा सकते है। इन रचनाओं की कलात्मकता की प्रशंसा मुक्त कंठ से की जाती रही है; लेकिन उनमें व्यक्त अभिप्रायों के विषय में मतभेद बने हुए हैं। उनके विषय में समीक्षकों ने अपनी-अपनी व्याख्याएँ दी हैं, जिन पर सहमति अभी तक नहीं हो पाई है। कभी-कभी समीक्षक द्वारा की गई कृति की व्याख्या रचनाकार द्वारा घोषित अभिप्राय के भी विरुद्ध चली जाती है। प्रत्येक समीक्षा रचना के निकट पहुँचने के लिए प्रयत्नशील रहती है, लेकिन इस प्रयत्न में वह कई बार रचना को आवृत कर जाती है। ऐसी स्थिति में जयशंकर 'प्रसाद' की ये पंक्तियाँ याद आती हैं :

सब कहते हैं 'खोलो खोलो;
छवि देखूंगा जीवन-धन की।'
आवरण स्वयं बनते जाते
हैं भीड़ लग रही दर्शन की ॥

सहज ही प्रश्न उठता है कि यदि समीक्षा रचनाकार के अभिप्राय को आवृत करती है तो उसका तिरस्कार क्यों न किया जाए ? समीक्षा का कार्य सम्प्रेषण में सहायता देना है; अभिप्राय को आवृत कर वह अपने प्रयोजन के विरुद्ध कार्य करती है तो उससे क्या लाभ ?

इस प्रश्न पर विचार करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि रचना करते समय रचनाकार ने जो कथ्य अपने सामने रखा वही रचना का कथ्य हो, यह आवश्यक नहीं है। रचनाकार यदि यह कहे कि उसने यह 'थीम' सामने रखकर रचना की थी तो भी यह नहीं माना जा सकता कि उसकी रचना का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

थीम वही है जो रचनाकार बतला रहा है। यह बात नहीं कि वह झूठ बोलता है। वह सच कहता हो तो भी इस संबंध में उसका विश्वास नहीं किया जा सकता। विश्वसनीय रचना होती है, रचनाकार नहीं। रचना जब रचनाकार के मानस में उगती-बढ़ती है तो अपना आकार वह स्वयं ग्रहण करती है। अपने आगे बढ़ने की दिशा स्वयं तय करती है और अपना रास्ता आप बनाती है। रचनाकार जो कहना चाहता रहा था वह इस प्रक्रिया में बहुत बार तिरस्कृत होकर रह जाता दिखलायी देता है। तुलसीदास तक ने स्वीकार किया है कि चंद्रमा लिखते-लिखते राहु लिख दिया जाता है : "लिखत सुधाकर गा लिखि राहू"। साहित्य में ऐसी कितनी ही कृतियाँ उपलब्ध हैं जिनमें लेखक जो मंतव्य प्रकट करने चला था, उससे सर्वथा भिन्न मंतव्य को वाणी मिली है।

इसलिए समीक्षा सर्जना की समझ के लिए अपरिहार्य हो जाती है। वह सर्जना के एक-एक पेच को खोलकर रचना के अपने साक्ष्य के बूते पर उसके अभिप्राय को उसकी संरचना से निकालती है। इसमें यह खतरा तो रहता ही है कि समीक्षक की आत्मपरकता रचना के वास्तविक अभिप्राय को ढँक ले; किंतु सर्जन की वस्तुपरकता समीक्षक की आत्मपरकता का प्रतिरोध करती है। समीक्षक इस प्रतिरोध की जितनी अवमानता करता है, उसकी व्याख्या उतनी ही पथच्युत होती है। इसके विपरीत समीक्षक अपनी आत्मपरकता को रचना की वस्तुपरकता से जितना संतुलित होने देता है उसकी व्याख्या कृति के अपने अभिप्राय के उतने ही निकट पहुँच जाती है। इस प्रकार समीक्षा की सर्जनोन्मुखता उसे रचना के सम्प्रेषण की क्षमता प्रदान करती है।

अभी-अभी कहा गया कि सर्जन के दौरान रचना रचनाकार के अपने अभिप्राय को लाँघ जा सकती है; लेकिन इसका अभिप्राय यह नहीं है कि रचनाकार एक तटस्थ दर्शक बनकर निष्क्रिय रूप से विवशतापूर्वक अपनी रचना को अपने भीतर उगते-बढ़ते देखता रहता है। इसके विपरीत प्रत्येक रचना रचनाकार के समीक्षात्मक नियंत्रण में आकार ग्रहण करती है।[1] यह सही है कि रची जा रही कृति को रचनाकार उसके विकास के प्रकृत पथ से हटाकर मनमाने ढंग से उसे हाँकता है तो रचना बिगड़ जाती है; लेकिन इसके साथ ही यह भी सच है कि रचनाकार का समीक्षात्मक नियंत्रण ही इस बात की जाँच करता है कि रचना अपने प्रकृत पथ पर बढ़ रही है या नहीं। रचनाकार जैसे ही रचना आरंभ करता है, उसकी आंतरिक संगति की माँग उसके सामने आ जाती है। यह माँग उसे अनभीष्ट दिशा में जाने से रोक कर उस दिशा में आगे बढ़ाती है जिसमें वह अपनी आवयविकता को बनाए रख सके। रचनाकार का काम केवल यह देखना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रह जाता है कि रचना के प्रकृत विकास की अभीष्ट दिशा कौन-सी है और वह किस तरह उस ओर अग्रसर हो सकती है। यही समीक्षात्मक नियंत्रण है।

रचना-प्रक्रिया में समीक्षात्मक नियंत्रण का साक्ष्य उस काट-छाँट में मिलता है जो रचनाकारों ने अपनी पांडुलिपियों में की है। कामायनी की पांडुलिपि प्रकाशित हो चुकी है। उसमें की गई काट-छाँट से पता चलता है कि 'प्रसाद' ने किस तरह अपनी रचना में एक शब्द की उपयुक्तता से संतुष्ट न होकर उसके स्थान पर दूसरा शब्द रखा है, यहाँ तक कि पूरे छंद को काटकर उसके स्थान पर दूसरा रचा है। मुक्तिबोध के लेखों से हमें यह जानकारी मिलती है कि वे अपनी कविताओं में तब तक काट-छाँट करते रहते थे जब तक थककर ऐसा करना बंद करने के लिए विवश नहीं हो जाते। फिर भी उन्हें पूरी तरह संतोष नहीं होता था। इसीलिए उन्होंने अपनी कविताओं को 'अधूरी' कहा है।

ऐसी भी कृतियाँ होती हैं जिनकी रचना तत्क्षण हो जाती है। कितने ही दोहे और गीत हमारे देखते-देखते काट-छाँट किए बिना तुरंत लिख दिए जाते हैं। आशुलेखन और स्वचालित लेखन से हम सब परिचित हैं। ऐसी रचनाओं को देखकर भ्रम होता है कि सर्जन में सर्वत्र समीक्षात्मक नियंत्रण सक्रिय नहीं रहता। जैसा कि विन्सेंट टॉमस ने लिखा है, इस कोटि के लेखन में सर्जन और समीक्षात्मक नियंत्रण के क्षण एकाकार हो जाते हैं।[२] इसीलिए उसमें समीक्षात्मक नियंत्रण पहचान में नहीं आता और पांडुलिपियों में उसके चिह्न नहीं मिलते। लेकिन समीक्षात्मक नियंत्रण के न पहचाने जाने या उसके चिह्न न मिलने का अर्थ यह नहीं है कि इस कोटि की रचनाओं में उसका अस्तित्व ही नहीं होता।

जिस प्रकार सर्जन-प्रक्रिया में समीक्षात्मक नियंत्रण रची जा रही कृति को पटरी से उतरने से बचाता है उसी प्रकार रचित कृतियों के संसार में– जिसे हम कला-जगत् कहते हैं– समीक्षा सर्जन का स्तर बनाए रखती है। यदि समीक्षा न हो तो कला और कलाभास में अंतर करना कठिन हो जाए। कला के साथ सदा कलाभास लगा रहता है। कला की तुलना में वह अधिक 'लोकप्रिय' भी होता है। तथाकथित 'लोकप्रिय' उपन्यासों की बिक्री की बराबरी अच्छे-से-अच्छे साहित्यिक उपन्यास की बिक्री नहीं कर सकती। व्यावसायिक फिल्में बॉक्स ऑफिस पर जो सफलता प्राप्त करती हैं, कला-फिल्में उसकी कल्पना भी नहीं कर सकती। ऐसी स्थिति में वास्तविक कला हतोत्साहित हो सकती है; लेकिन समीक्षा समझदार कला-रसिकों की दृष्टि में रचना को जो सम्मान प्रदान करती

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है उसके आगे यह लोकप्रियता सर्जन को तुच्छ प्रतीत होती है। तुलसीदास ने इसीलिए कविता को बुधजन से प्राप्त होनेवाले सम्मान को महत्त्व दिया है। कालिदास ने भी इस मामले में समझदार लोगों को ही प्रमाण माना है। उन्होंने जब लिखना आरंभ किया ही था और उनका नाटक पहली बार रंगस्थल पर लाया जा रहा था तो उन्हें आशंका हुई कि भास, सौमिल्ल, कविपुत्र आदि प्रतिष्ठित नाटककारों के सामने वे किस गिनती में आएँगे ! तभी उनमें विवेकवान् दर्शकों की समझ के भरोसे ने आत्मविश्वास का संचार किया और वे सोचने लगे कि समझदार लोग रचना के गुण-दोष देखते हैं, रचनाकार की प्रतिष्ठा नहीं। इस अभिप्राय की अभिव्यक्ति उन्होंने मालविकाग्निमित्र में सूत्रधार के मुख से कराई है :

पुराणमित्येव न साधु सर्वं न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते मूढः परप्रत्ययनेय बुद्धिः॥

समीक्षा केवल सम्प्रेषण में योग नहीं देती, वह सर्जन की जटिलताओं को भेद कर उसकी सूक्ष्मताओं को भी आलोकित करती है। रचना की शिल्पगत अपलब्धियों से होते हुए वह रचनाकार की उस कल्पना तक पहुँचती है जो कृती में ढली है। समीक्षा अनेक बार रचना में रूपायित कल्पना के स्रोतों तक पहुँच कर सर्जन की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डालने का दायित्व भी अपने ऊपर लेती है और इस दायित्व के निर्वाह के लिए रचनकार के व्यक्तित्व और रचना के सामाजिक आधार की खोज भी करती है। इस प्रयत्न में समीक्षा बहुत बार इतनी दूर निकल जाती है कि सर्जन से उसका सम्बंध ही समाप्त होता दिखलाई देता है। इसलिए कला के प्रति संवेदनशील दृष्टिकोन इस प्रकार की समीक्षा का विरोध करता है। इसमें संदेह नहीं कि समीक्षा सर्जन के आकलन के लिए होती है, इसलिए जो भी चीज सर्जन से उसका ध्यान हटाती है वह त्याज्य है। अभिप्राय का संधान भी यदि सर्जन के विचार से हटकर केवल कथ्य का विचार करने की दिशा में जाता है तो वह भी समीक्षा के लिए प्रयोजनीय नहीं रहता। अभिप्राय के सम्प्रेषण का विचार सम्प्रेषण की विधि के साथ जोडकर करने पर ही समीक्षा सर्जना से जुडी रह सकती है।

ऐसा होने पर ही समीक्षा सर्जन की उत्तमता के निदर्शन के साथ उसकी कमियों पर भी प्रकाश डाल सकती है; लेकिन कमियों की चर्चा जितनी उपयोगी हो सकती है उतनी प्रिय नहीं। अपने प्रति निर्मम होकर अपनी कमियों का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सामना करने की क्षमता बहुत कम लोगों में होती है। बहुत थोडे लोग ही इस सीख को मन से ग्रहण करते हैं :

निंदक नियरे राखिए आंगन कुटी छवाय।
बिन साबुन पानी निर्मल करे सुभाय॥

इस कारण समीक्षा और सर्जना के मध्य प्रायः तनातनी रहती है। समकालीन रचनाकार और समीक्षक में बहुत कम पटती है; कई बार तो उनमें व्यक्तिगत द्वेष तक उत्पन्न हो जाता है। लेकिन इसका सारा दोष रचनाकार की असहिष्णुता के माथे नहीं मढ़ा जा सकता। कई बार समीक्षा सर्जन की गतिशीलता का साथ नहीं दे पाती। वह पुराने प्रतिमाओं से ही नये साहित्य को मापने का प्रयत्न करती है। स्वभावतः वह असफल होती है और अपनी असफलता को सर्जना के दोष के रूप में प्रक्षेपित करती है।

फिर भी सर्जन जब अपने ऊपर किए गए आक्षेपों को दुर्भाव मान कर उनकी अनदेखी करने के स्थान पर उन्हें गंभीरता से लेता है तो इससे उसे लाभ हो सकता है। जयशंकर 'प्रसाद' के जीवन-काल में उनके साहित्य पर दो आक्षेप विशेष रूप से किए जाते थे : (१) वे गढ़े मुर्दे उखाड़ते हैं; (२) उनके नाटक रंगमंचीय दृष्टि से शिथिल हैं। पहले आक्षेप की परिणति कंकाल– जैसे यथार्थवादी उपन्यास की रचना में हुई और दूसरे की ध्रुवस्वामिनी जैसे कसे हुए नाटक की सृष्टि में।

कभी-कभी समीक्षा साहित्य की धारा को ही बदल देती है। जब हिंदी में रंगमंचीय नाटकों के अभाव की बात बार-बार कही गई तो जगदीशचंद्र माथुर, उपेन्द्रनाथ अश्क, उदयशंकर भट्ट और गोविंदवल्लभ पंत जैसे नाटककार सामने आए जिन्होंने रंगमंच को ध्यान में रखकर नाटक लिखे। उपन्यासों के क्षेत्र में अन्तर्जगत् के उद्वेलन के अभाव की बात जब कही गई तो जैनेन्द्र और 'अज्ञेय' जैसे उपन्यासकारों का उदय हुआ।

समीक्षा सर्जना को प्रभावित करती है तो स्वयं भी उससे प्रभावित होती है। हिंदी में रंगमंचीय नाटकों के अभाव की बात कभी से कितने जोर से कही जाती रही हो, नाटक-समीक्षा में रंगमंचीय अन्तर्दृष्टि तभी दिखलाई दी जब मोहन राकेश के नाटक हिंदी को मिले जिनमें साहित्यिकता और रंगमंचीयता एकात्म हो गई थी। मोहन राकेश के नाटकों से पहले समर्थ नाट्य-समीक्षा हिंदी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में दिखलाई नहीं दी तो इससे यही प्रकट होता है कि सर्जन की समृद्धि समीक्षा को भी समृद्ध करती है।

लेकिन इस कारण समीक्षा को सर्जना का पिछलग्गू मानना उतना ही गलत होगा जितना समीक्षा को नियामक मानना। दोनों सहयात्री हैं जो एक-दूसरे का साथ देते हुए विकास-पथ पर आगे बढ़ते हैं। साथ देने की इस प्रक्रिया में दोनों में सहयोग के साथ टकराव भी होता है, लेकिन यह टकराव भी उनके लिए हितकर होता है क्योंकि यह उन्हें नई संभावनाओं की खोज के लिए प्रेरित करता है और इस खोज की निरंतरता में ही विकास निहित रहता है।

५६, गोल्फ कोर्स
जोधपुर (राजस्थान)

— जगदीश शर्मा

टिप्पणियाँ

१.–२. द्रष्टव्य : मॉरिस वाइत्स द्वारा संपादित पुस्तक प्रॉब्लेम्स इन एस्थेटिक्स में विन्सेण्ट टॉमस का लेख "क्रीएटिविटी इन आर्ट"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साङ्ख्य दर्शन में मन और शरीर का सम्बन्ध

साङ्ख्य दर्शन में मन और शरीर के सम्बन्ध के प्रश्न को लेकर उस तरह की समस्या खड़ी नहीं होती जिस तरह पाश्चात्य दर्शन में। इसका मूलभूत कारण यह है कि प्रायः पाश्चात्य विचारक मन को शरीर से पूर्णतः पृथक् मानते हैं और मन का आत्मा से तादात्म्य स्थापित कर लेते हैं। [1] सामान्यतः पाश्चात्य दर्शन में शरीर और मन के बीच द्वैत को स्वीकार किया गया है जिन्हें गुणात्मक रूप से दो भिन्न स्तरों से सम्बद्ध माना जाता है। किन्तु साङ्ख्य दर्शन में मन और शरीर के मध्य इस प्रकार का कोई भी भेद स्वीकार नहीं किया गया है। इसका कारण यह है कि साङ्ख्य के अनुसार शारीरिक और मानसिक अस्तित्व दोनों एक ही तत्त्व (प्रकृति) पर आधारित हैं तथा प्रकृति के दो भेदरूप मात्र हैं। इस कारण एक रूपभेद का दूसरे रूपभेद से कोई भेद नहीं किया जाता है। मानसिक और शारीरिक अस्तित्व के मध्य सूक्ष्मता के परिमाणानुसार अवश्य भेद किया जाता है किन्तु वह भेद एक ही प्रकार के अस्तित्व के बीच गुण का नहीं केवल मात्रा का भेद मात्र ही है। जाति की दृष्टि से वे एक ही वर्ग अव्यक्त के अन्तर्गत आते हैं। मन सूक्ष्म होने के कारण शरीर की अपेक्षा अधिक प्रभावशाली है। आत्मा के प्रकाश से प्रकाशित होकर ही मन और शरीर अपने समस्त कार्यों को संपादित करते हैं। साङ्ख्यानुसार वे उस समय तक अचेतन ही बने रहते हैं जबतक पुरुष की अनुभवातीत चेतना का प्रतिबिम्ब ग्रहण नहीं कर लेते हैं।

सांख्य के अनुसार प्रकृति त्रिगुणात्मक है। ये तीन गुण सत्त्व, रजस्, एवं तमस् हैं जिनके स्वभाव क्रमशः प्रकाशस्वरूप, क्रियास्वरूप तथा स्थितिस्वरूप हैं।[2] मानसिक जगत् में ये गुण स्पष्टीकरण, प्रेरणा तथा आवरण का क्रमशः कार्य करते हैं। प्रकृति से गुणों को पृथक् नहीं किया जा सकता है। तीनों गुणों का कभी भी सम्बन्ध विच्छेद नहीं होता है। बल्कि शरीर की छाया की भाँती प्रत्येक गुण अन्य दो गुणों का अनुवर्तन करता है। प्रत्येक गुण में अन्य दो गुणों का अंश विद्यमान रहता है [3—4]। ऐसी कोई भी वस्तु नहीं है जो केवल एक गुणात्मक है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रत्येक प्रधान गुण अन्य दो अप्रधान गुणों से अनुरंजित होकर ही सृष्टि करता है। जब सत्त्वगुण की प्रधानता होती है तो मन और इन्द्रियों की उत्पत्ति होती और जब तमोगुण की प्रबलता होती है तो स्थूल शरीर की। इस प्रकार स्पष्ट है कि मानसिक एवं शारीरिक, उभयविध जगत् में प्रकृति के ये तीनों गुण व्याप्त है।

पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने मन को विषयी एवं विषय दोनों रूपों में प्रयोग किया है किन्तु साङ्ख्य दर्शन में इसके प्रयोग में मूलभूत अन्तर है। सांख्य दार्शनिकों के अनुसार विषयी एवं विषय दोनों एक दूसरे से पृथक् अस्तित्व रखते हैं। ये एक ही तत्त्व के पहलू नहीं है। विषयी-स्वरूप मन आत्मा तथा विषय-स्वरूप मन अन्तःकरण या मनस् है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सांख्य विचारधारा पाश्चात्य धारणा के बिल्कुल विपरीत है। परन्तु कुछ पाश्चात्य विचारक सांख्य के समान ही मन और शरीर को एक ही तत्त्व से उत्पन्न मानते हैं। रसेल को इसी श्रेणी में रखा जा सकता हैं।[५]

भारतीय दर्शन का यह एक मुख्य प्रश्न रहा है कि मन को इन्द्रिय माना जाय अथवा नहीं। अद्वैत वेदान्त मन को इन्द्रिय रूप में स्वीकार करने के पक्ष में नहीं है क्योंकि विवरणकार के अनुसार मन प्रामाणिक ज्ञान का करण नहीं है बल्कि आधार है। श्रुति भी इस मत का समर्थन करती है।[६,७,८] न्यायवैशेषिक मन को इन्द्रिय मानते हैं[९]। भगवद्गीता में मन को छठवीं इन्द्रिय के रूप में स्वीकार किया गया है[१०]। चरक संहिता में भी इसे षडिन्द्रिय कहा गया है[११] साङ्ख्य दार्शनिक भी मन को इन्द्रिय के ही रूप में स्वीकार करते हैं। उनका कहना है कि ग्यारह इन्द्रियों में मन दोनों ही प्रकार का अर्थात् ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय भी है क्योंकि मन से संयुक्त होकर चक्षु इत्यादि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक् इत्यादि कर्मेन्द्रियाँ अपने विषय में प्रवृत्त होती हैं। इसलिए इसे उभयात्मकम् कहा गया है।[१२]

इसी सन्दर्भ में मन के परिमाण के विषय में भी विचार कर लेना आवश्यक है क्योंकि इससे मन और शरीर के सम्बन्ध पर विशेष प्रभाव पडता है। मन के आकार के सम्बन्ध में भारतीय विचारक एकमत नहीं है। न्यायदर्शन में मन को नित्य, निरवयव तथा अणु माना गया है।[१३] चरक भी मन को अणु ही मानते हैं[१४]। साङ्ख्य टीकाकार अनिरुद्ध तथा महादेव वेदान्ती ने मन को मध्यम परिमाण वाला माना है। उसका कारण यह है कि सूक्ष्य शरीर सावयव है इसलिए वह अत्यन्त सूक्ष्म अणु-परिमाण नहीं हो सकता[१५] आचार्य विज्ञानभिक्षु मन को विभु भी नहीं मानते हैं क्योंकि यह करण है[१७]। इसके उदय व्ययुक्त धर्म हैं। मन क्रियायुक्त है तथा इसकी गति का वर्णन श्रुतियों में पाया जाता है। अतः मन विभु नहीं है[१८]। मन मध्यम परिमाण का सावयव पदार्थ है। मन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निरवयव नहीं है क्योंकि उसका इन्द्रियों के साथ संयोग होता है [१९]। भाट्ट मत और योग के अनुसार मन विभु है। संकोच और प्रसार ये लोग अन्तःकरण वृत्तियों में ही स्वीकार करते हैं, मन में नहीं। अद्वैतवेदान्ती भी सांख्य की तरह मन को मध्यपरिमाण वाला ही मानते हैं। यदि मन विभु होता तो कोई भी व्यक्ति किसी भी समय सभी वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त कर लेता। परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः मन विभू नहीं हो सकता। मन सावयव है। इसमें संयोग और वियोग होता है। अतः यह अणु भी नहीं हो सकता। यदि मन को मध्यम परिमाण का सावयव पदार्थ माना जाय तो किसी भी प्रकार की कठिनाई नहीं होगी। [२०]

सांङ्ख्य के अनुसार मन और शरीर दोनों एक दूसरे के सहभागी हैं। मन के बिना शरीर तथा शरीर के बिना मन अपने कार्यों को संपादित करने में असमर्थ है। मन के अभाव में इन्द्रियों को अपने-अपने विषयों का ज्ञान नहीं होता। श्रुति कहती है, "मैंने अमुक व्यक्ति को नहीं सुना क्योंकि मन कहीं दूसरी जगह था, मैंने अमुक व्यक्ति को नहीं देखा क्योंकि मन अन्यत्र था [२१]।" इससे सिद्ध होता है कि मन के बिना इन्द्रियों को बाह्य विषयों का ज्ञान नहीं हो सकता है। साङ्ख्य दार्शनिक कहते हैं कि मन से ही संयुक्त होकर चक्षु इत्यादि ज्ञानेन्द्रियाँ तथा वाक् इत्यादि कर्मेन्द्रियाँ अपने अपने विषय में प्रवृत्त होती है [२२]। न्याय-वैशेषिक भी इसका समर्थन करते हैं। उनका कथन है कि यदि मन कहीं अन्यत्र लगा हो तो इन्द्रिय का विषय से योग होने पर भी प्रत्यक्ष नहीं होता। पहले इन्द्रियों का मन से संयोग होता है फिर इन्द्रिय-संयुक्त मन का आत्मा से संयोग होता है, तब प्रत्यक्ष उत्पन्न होता है [२३]।

मन शरीर के अन्तर्गत ही अपने कार्यों को संपादित करता है। इसलिए हिन्दू दर्शन में यह प्रश्न उठता है कि मन का निवास स्थूल शरीर में कहाँ है? पतंजलि हृदय को इसका निवास स्थल बतलाते है [२४]। नैयायिकों के अनुसार प्रत्येक शरीर में एक मन है तथा वह संपूर्ण शरीर में व्याप्त रहता है [२५]। निद्रा की अवस्था में वह पुरीतत् नाड़ी में निवास करता है [२६]। अद्वैत वेदान्ती भी सेश्वर साङ्ख्य या योग दार्शनिकों की तरह हृदय को ही मन का निवास स्थल स्वीकार करते हैं [२७]। इस मत की पुष्टि प्राचीन भारतीय चिकित्सक सुश्रुत [२८] तथा चरक [२९] के दृष्टिकोण से भी होती है।

जन्म के समय मनुष्य का मन सफेद स्लेट की तरह नहीं रहता जैसा कि पाश्चात्य विचारक लॉक [३०] की मान्यता है बल्कि संस्कारों से घिरा रहता है। सांख्य के अनुसार मन (बुद्धि) में जन्म-जन्मांतरों के संपूर्ण अनुभव के संस्कार विद्यमान रहते हैं। [३१] वासना का आश्रय साधिकार मन (चित्त) है। सांख्य शरीर को पूर्वजन्मों के कर्मों का परिणाम मानता है। [३२] मन प्रत्येक जीव के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समस्त संस्कारों के साथ रहता है तथा शरीर के छूटने पर कर्मानुसार अन्य शरीर में उन समस्त संस्कारों के साथ चला जाता है। जीव कर्म के अनुरूप अनेक योनियों में होकर विचरण करता है। वही जीव कभी पक्षी, कभी पशु और कभी मनुष्य आदि योनियों को प्राप्त होता रहता है। आधुनिक मनोविज्ञान में डॉ. युंग के विचार-संप्रदाय ने मनुष्य की मनोरूप गुहा बहुत ही गहरी होने की बात सिद्ध कर दिखायी है। फ्रॉइड ने केवल बाल्य की मर्यादा तक ही मन की गहराई पहचानी है। युंग ने रॅडिकल तक मन की गहराई का पता लगाया किंतु सांख्य के मतानुसार यह गहराई पूर्वजन्म तक पहुँचती है।

अन्त में यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि सांख्य दर्शन में मन और शरीर का घनिष्ट संबंध है। मन और शरीर दोनों एक-दूसरे के पूरक हैं। इनके बीच न तो अन्तक्रियावाद का संबंध है, न समानांतरवाद का। इनके संबंध को सहसंबंध के नाम से अभिहित किया जा सकता है। चूंकि मन और शरीर दोनों एक ही तत्त्व से उत्पन्न हैं अतः दोनों एक निश्चित नियम के अनुसार अपने-अपने कार्यों के संपादन में एक-दूसरे की सहायता करते रहते हैं।

दर्शन विभाग — देवव्रत चौबे
काशी हिंदू विश्वविद्यालय
वाराणसी– २२१ ००५ (उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. गिल्बर्ट राइल, द कॉन्सेप्ट ऑफ माइण्ड, पृ. ६१, सन् १९४९।
२. सांख्यकारिका १२
३. परस्परोपरोक्तविभागाः। व्यासभाष्य, पृ. १९५, (सं. दामोदर शास्त्री) चौखम्मा प्रकाशन, वाराणसी १९३५।
४. योग वार्तिक, पृ. १६५ (सं. दामोदर शास्त्री) चौखम्मा प्रकाशन, वारणसी, १९३५।
५. द्रष्टव्य : रसेल, ॲनालिसिस ऑफ माइण्ड।
६. कठोपनिषद् १ : ३ : १०
७. कठोपनिषद् १ : ३ : ४
८. मुण्डकोपनिषद् २ : १ ३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

९. न्यायभाष्यं १ : १ : १६
१०. भगवद्गीता १५ : ७
११. चरक संहिता, सूत्र २६ : ४३
१२. उभयात्मकमत्रमनः । सांख्यकारिका, २७ ।
१३. न्यायसूत्र ३ : २ : १
१४. अणुत्वमथ । चरकसंहिता, शारीर १ : १९
१५. सांख्यसूत्र ५ : १९
१६. सांख्यप्रवचनभाष्यम् ३ : १४ १५
१७. सांख्यप्रवचनभाष्यम् ५ : ६९
१८. वही ५-७०
१९. वही ५-७१
२०. विवरण प्रमेय संग्रह, सूत्र १, वर्णन ४
२१. अन्यत्र मना अभूवं नादर्शम्, मनसा ह्येव पश्यति, मनसा ह्येव श्रुणोति । बृहदारण्यकोपनिषद् १ : ५ : ३
२२. सांख्यतत्त्वकौमुदी २७
२३. वैशेषिकसूत्र ३ : २ : १
२४. योगसूत्र ३ : ३४ व्यासभाष्य
२५. न्यायसूत्र ३ : २ : ५६
२६. सिद्धांतमुक्तावली, पृ. २१६, द डिवाइन लाइफ सोसायटी, पृ. ६८
पंचदशी २ : १२
२८. सुश्रुतसंहिता, शारीर स्थान ४ : ३३
२९. चरकसंहिता, सूत्र ३० : ४
३०. सी. आर. मॉरिस, लॉक, बर्कले ह्युम, पृ. २४ आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस १९३० ।
३१. सांख्यप्रवचनभाष्य २ : ४२
३२. सांख्यतत्त्व कौमुदी ४०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्लोताइनस का दर्शन और भारतीय चिंतन

नव प्लेटोवाद के प्रवर्तक प्लोताइनस की उसके पूर्वगामी और समकालिक भारतीय चिन्तन धाराओं से निकटता इतनी सुस्पष्ट है, कि स्वयं उसके द्वारा और उसके दर्शन के अधिकांश विद्वान् व्याख्याताओं द्वारा उसके दर्शन पर भारतीय प्रभाव का समुचित स्वीकरण न किया जाना एक जटिल पहेली है। प्लोताइनस ने प्लेटो के सिद्धान्त का परिष्कार करके प्लेटोवाद की पुनर्स्थापना के प्रति उत्साह प्रदर्शित किया है; और प्लोताइनस की ईमानदारी पर कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। अपने गुरु अमोनियस से तत्कालीन पारसी और भारतीय ज्ञान और बुद्धिमत्ता के प्रति उत्कट प्यास प्राप्त कर सम्राट गार्डियानस तृतीय की सेना के साथ प्लोताइनस के ईरान जाने का उल्लेख तो प्राप्त है, किन्तु २४४ ई. में सम्राट गार्डियानस की हत्या के बाद स्वयं बच कर निकल भागने, और उसी वर्ष किसी तरह रोम पहुँच कर दार्शनिक विद्याभ्यास के लिए एक संस्था की स्थापना तक प्लोताइनस पर क्या-क्या बीता, इसका विस्तृत विवरण उपलब्ध नहीं है। इसके बाद भी लगभग १० वर्ष इस संस्थान के विकास और स्वयं अपने संघर्ष के विषय में प्लोताइनस को क्या कुछ करना पड़ा, इसका भी कोई प्रामाणिक विवरण प्राप्त नहीं है। नये सम्राट गैलियेनस का विश्वास-पात्र और कृपा-पात्र बन कर, सन २५२ ई. के बाद, प्लोताइनस का लेखन कार्य आरम्भ हुआ, जो आज उसके शिष्य पॉरफायरी द्वारा सम्पादित *Enneads* के रूप में उपलब्ध है। आश्चर्य की बात यह है कि इस साहित्य में पारसी और भारतीय ज्ञान और बुद्धिमत्ता का कुछ भी स्पष्ट उल्लेख नहीं है, जिसके प्रति संलग्नता के परिणाम स्वरूप प्लोताइनस सम्राट गार्डियानस की सेना के साथ ईरान गया था। तो क्या प्लोताइनस को भारतीय और पारसी चिन्तन धाराओं से सर्वथा अछूता मानना उचित है?

प्लोताइनस का सर्वोपरि 'एक' (one) प्लेटो के प्रत्यय पिरामिड के शीर्षस्थ 'शुभ' (good) की अपेक्षा वेदान्त (उपनिषद्) के ब्रह्म के अधिक निकट है। दूसरा तत्त्व 'विबोध' (Reason-Nous) सांख्य दर्शन की प्रकृति के अंतर्गत

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ७, अंक १, दिसम्बर, १९८५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पहले तत्त्व 'महत्' का पर्याय सा प्रतीत होता है। आत्मा (Soul) के स्वरूप और गति के विषय में प्लोताइनस द्वारा प्रस्तुत किये गये विवरण और विवेचन में भारत के जैन दर्शन और हिन्दू षट् दर्शनों में सामान्यतया परिव्याप्त जीवात्मा के बंधन और मुक्ति के सिद्धान्तों की प्रतिध्वनि पाई जाती है, जो प्लेटो के आत्मा-विषयक मनोविज्ञान को पुनर्प्रस्तुत करने की अपेक्षा, उसका परिवर्धन और परिष्कार अधिक करती है।

सांख्य के आदर्श 'कैवल्य' और पातंजल अष्टांग योग के अंतिमचरण समाधि का सुस्पष्ट संदर्भ प्लोताइनस के दर्शन में मौजूद है। निस्सरण (Emanation) और अवतरण (Incarnation) के सिद्धान्तों के प्रतिपादन में जहां वह प्लेटो से अपनी भिन्नता प्रतिपादित करने का दावा करता है, वहां उसके सिद्धान्त पर उपनिषद् या सांख्य या जैन दर्शन की छाया की स्पष्ट झलक दिखाथी पड़ती है। और सबसे ऊपर प्लोताइनस की मूल दार्शनिक दृष्टि (पाश्चात्य) यूरोपीय की अपेक्षा मुख्यतया (प्राच्य) भारतीय है, जो बौद्धिक विलास अथवा तार्किक व्यायाम के स्थान पर मांगलिक दर्शन (Beatific Vision) अथवा समाधि जन्य (तुरीयज) साक्षात्कार (Ecstatic Realisation) को दार्शनिक उपलब्धि के रूप में प्रतिष्ठित करती है। इस बिन्दु पर प्लेटो स्वयं, अन्य किसी भी पाश्चात्य दार्शनिक की अपेक्षा, भारतीय दर्शन परम्परा के अधिक निकट है। वास्तव में ग्रीक दर्शन के क्षेत्र में सुकरात, प्लेटो, अरस्तु के द्वारा स्थापित और विकसित चिन्तन-पद्धति और दर्शन-संहति पर तत्कालीन और पूर्वगामी भारतीय दर्शन-परम्परा के प्रभाव का विवेचन स्वयं ही एक गम्भीर अन्वेषण-अनुसंधान का विषय है।

जिस समय प्लोताइनस अपने गुरु अमोनियस से प्रेरणा ग्रहण कर प्राच्य-दर्शन-परम्परा के प्रति श्रद्धा-समन्वित होकर गार्डियानस तृतीय की सेना के साथ आया उस समय शक्तिशाली कुषाण साम्राज्य के पराभव के बाद भारत में विभिन्न गणराज्यों के अन्तंगत बौद्ध धर्म और दर्शन के विरुद्ध वैदिक संस्कृति के पुनरुत्थान के सशक्त आन्दोलन चल रहे थे। इन आन्दोलनों का आरम्भ दूसरी शताब्दी ईसवी पूर्व में हो गया था, जब अन्तिम मौर्य सम्राट बृहद्रथ की हत्या कर उसका प्रधान सेनापति पुष्पमित्र शुंग मगध साम्राज्य का अधिपति बना था। पाणिनीय व्याकरण के व्याख्याकार और योग-सूत्र के प्रणेता पतंजलि इसी ब्राह्मण सम्राट पुष्य-मित्र शुंग के गुरु कहे जाते हैं, जिसने ब्राह्मणेतर मौर्यों द्वारा पोषित अवैदिक बौद्ध धर्म के विरुद्ध तथा-कथित सनातन वैदिक ब्राह्मण धर्म के उत्थान और पुनर्प्रतिष्ठापन के आन्दोलन को संरक्षण प्रदान किया। यह धार्मिक-सांस्कृतिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आन्दोलन लगभग सात आठ शताब्दियों तक फलता–फूलता रहा और चौथी–पाँचवी शताब्दी ईसवी में गुप्त वंश के शासन काल में इसका स्वर्ण युग कहा जाता है। प्लोताइनस के दर्शन पर जिन उपर्युक्त वैदान्तिक, सांख्य योग और कदाचित् जैन अध्यात्म का सुस्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है उनका मूल प्रणयन ईसाई धर्म के आरम्भ से पहले हो चुका था, और दूसरी तीसरी शती ईस्वी में उनकी विवृति और विस्तार प्रबल हो रहे थे। प्रथम शती ईसवी के अन्तिम चरण में कुषाण सम्राट् कनिष्क ने बौद्ध महायान धर्म और दर्शन को अवश्य पर्याप्त संरक्षण प्रदान किया था, और आचार्य वसुमित्र की अध्यक्षता में काश्मीर के कुण्डल–वन विहार में चौथी बौद्ध संगीति (महासभा) का आयोजन कराया था, और उसी के निकट आज के पाकिस्तान और अफगाणिस्तान के सीमावर्ती क्षेत्र में एक नया नगर पुष्पपुर (कुसुमपुर अथवा नया पाटलिपुत्र) बसा कर उसे अपने विशाल साम्राज्य की राजधानी बनाया था। यही नगर आज का पेशावर है। बाद के कुषाण सम्राट् स्वयं ब्राह्मण धर्म और दर्शन के पुनरुत्थान की लहरों से प्रभावित हुए, जैसा कि हुविष्क और वासुदेव के सिक्कों से निर्विवाद रूप में प्रमाणित है।

प्लोताइनस के ईरान तक आने के समय वहाँ पार्थियन साम्राज्य के छिन्न–भिन्न हो जाने के बाद सासनिद (Sasanid) साम्राज्य की स्थापना हो चुकी थी, जो धीरे-धीरे रोमन साम्राज्य के प्रतिद्वन्द्वी के रूप में शक्ति-सम्पन्न हो रहा था। उन सासनिद सम्राटों के समय, ईराण में भी, भारत की ही भाँति, ईरान के प्राचीन झरथुष्ट्र (Zarathustra)– धर्म और दर्शन के पुनरुत्थान का प्रयास प्रबल हुआ, और जिन्दवेस्ता आदि पारसी धर्म शास्त्र के प्रणयन और विवृत्ति को महत्त्व प्राप्त हुआ। भारत में इस समय हरियाणा, पंजाब, उत्तरी राजस्थान में यौधेस, कुणीन्द्र, आर्जुनायन, आदि गणराज्योंका एक संघ सत्ता-सम्पन्न था; वर्तमान उत्तर प्रदेश, मध्य प्रदेश क्षेत्र में नाग-वंशी भारशिव राजाओं का शासन स्थापित था, और पाटलिपुत्र में इस समय भी कुषाण सम्राट् कनिष्क द्वारा नियुक्त क्षत्रप वनस्पर (विश्व स्फूर्ति) के वंशजों का शासन कायम था, जिन्हें हिन्दू पुराणों में मुरुण्ड (मुलुन) शासक कहा गया है। २५० ई. के लगभग फूनान उपनिवेश का एक राजदूत पाटलिपुत्र आया था, और वहाँ के मुलुन राजा ने अपना राजदूत फूनान भेजा था। यह सभी शासक बौद्धों की अपेक्षा सनातन हिन्दू धर्म के पुनरुत्थान के समर्थक थे और पौराणिक देवताओं के उपासक थे जिसका प्रमाण उनके सिक्कों से प्राप्त होता है।

कुषाण साम्राज्य के विस्तार के साथ महायान बौद्ध धर्म और संस्कृति का प्रसार, उत्तर-पश्चिम देशों में हुआ; और पामीर पठार के इर्द–गिर्द शैल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

देश (काश्गर), चीक्कुक (यारकंद), खोतन्न (खोतन), कुची (कुचर), भरुक (पांलुकिया), अग्निदेश (कराशहर) और कोचांग (तुफान) आदि भारतीय उपनिवेश राज्य विकसित हुए, जो उत्तर – पश्चिमी बृहत्तर भारत का अंग कहे जाते हैं। प्लोताइनस के समकालीन युग में भारत के राजकुल में उत्पन्न एक नव-युवक बौद्ध भिक्षु कुमारायन के कुचां जाने और वहाँ भिक्षु-धर्म त्याग कर कुची के राजा की बहन जीवा से विवाह कर लेने की कथा प्रसिद्ध है। इन्हीं जीवा और कुमारायन के पुत्र कुमारजीव ने बौद्ध और वैदिक शास्त्र और साहित्य में प्रकाण्ड विद्वत्ता प्राप्त की, और कुची पर चीन का अधिकार हो जाने पर कैदी के रूप में चीन जा कर वहाँ के राजा को प्रभावित किया। इन्हीं आचार्य कुमारजीव ने पुण्यत्रात, बुद्धयश, संघदेव, धर्मयश, गुणभद्र और बुद्धवर्मन् आदि भारतीय विद्वानों को चीन बुलाया और अनेक संस्कृत ग्रन्थों का चानी भाषा मे अनुवाद कराया। इन महायान बौद्ध ग्रन्थों की मूल संस्कृत प्रतियाँ प्राप्त न रह जाने के कारण उनका चीनी भाषा से फिर संस्कृत में अनुवाद किया जा रहा है। कुची के पूर्व तुङ्वहा के निकट नंगा–पर्वत–मालाओं मे अजन्ता शैली का विशाल सहस्रबुद्धगुहा विहार भारतीय – गान्धार – चीनी – युनानी – ईरानी नेपाली कला शैली के मंजुल समन्वय का अनुपम स्मारक तो है ही, वहाँ की खुदाई में एक गुंफा में हजारों हस्तलिखित पुस्तकों का भण्डार प्राप्त हुआ है, जिनकी पूरी सूची भी अभी नहीं बन पायी है। यह पुस्तकें चीनी – तिब्बती – उदगुर और संस्कृत भाषाओं में हैं और इनमें बहुत सी पुस्तकों में ब्राह्मी और खरोष्ठी लिपियों का प्रयोग किया गया है। तुङ्वहा की ही तरह कुचा, कासगर और लोलन आदि मध्य एशिया के अन्य स्थानों स भी प्राचीन पुस्तकें प्राप्त हुई हैं। प्राचीन सीरिया और मेसो-पोटामिया में भी छोटे छोटे भारतीय उपनिवेश विद्यमान थे। ३०४ ईस्वी में यूफ्रेटस नदी के तट पर भारतीयों के दो बड़े मन्दिरों को सेंट ग्रेगरी के नेतृत्व में ईसाइयों ने धर्म प्रसार के जोश में आक्रमण कर के तहस–नहस कर दिया था, और वहाँ की भारतीय बस्ती भी छिन्न–भिन्न कर डाली थी।

इस ऐतिहासिक विवरण के उल्लेख का उद्देश्य निम्नांकित स्थापनाओं को रेखांकित करना है।

१. प्लोताइनस के समय पश्चिम-एशिया, मध्यपूर्व और पश्चिमोत्तर बृहत् भारत में, भारतीय धर्म, संस्कृति और दर्शन विषयक सामग्री प्रचुर मात्रा मे बिखरी हुई थी। भारतीय दर्शन और संस्कृति के प्रति आदर और श्रद्धा भारतीय उपनिवेश तक ही सीमित न थी, बल्कि उसका प्रसार यूनान और रोम तक था। प्लोताइनस का आरम्भिक जीवन-चरित्र स्वयं इसका प्रमाण है। ईरान तक आते हुए प्लोताइनस का इस सामग्री से अछूता रहना संभव नहीं, बल्कि इससे अछूता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और अप्रभावित रह पाना आश्चर्य की बात होगी, जब कि वह इसी की खोज में गार्डियानस तृतीय की सेना के साथ चला था।

२. प्लोताइनस के ईरान आने के समय भारत में प्राचीन आस्तिक, वैदिक, ब्राह्मण धर्म और दर्शन के नवोत्थान का सशक्त आंदोलन चल रहा था। इसके प्रबल समाघात (Impact) के अंतर्गत, बौद्ध धर्म और दर्शन स्वयं परिवर्धित हो रहा था, और वैदिक-जैन– बौद्ध सांस्कृतिक संघर्ष और समन्वय के परिणाम स्वरूप षट्दर्शन का विकास हुआ था, जिसकी वेदांत और सांख्य-योग शाखा का सुस्पष्ट प्रभाव प्लोताइनस के दर्शन पर निर्विवाद रूप से सिद्ध किया जा सकता है।

३. प्राचीन संस्कृति के पुनरुत्थान का बल भारत तक सीमित न था। ईरान में भी इसी प्रकार की प्रवृत्ति आंदोलन का रूप ले चुकी थी। इस प्रवृत्ति का यूनानी और रोमन संस्कृतियों में भी, उस समय प्रबल होना असंभव नहीं। यदि इस प्रवृत्ति का यूरोप में श्री गणेश करके नव-प्लेटो-वाद स्थापित करने का श्रेय प्लोताइनस को दिया जाये तो यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि प्लोताइनस ने अपने इस तथाकथित मौलिक योगदान के लिए भी भारत और ईरान में पुनरुत्थान– आंदोलनों के आदर्श से प्रेरणा ग्रहण की होगी।

अतः निष्कर्ष के रूप में मेरा अनुमान यही है कि अपनी विशिष्ट परिस्थितियों, और स्वयं अपनी प्राचीन सांस्कृतिक थाती के नवोन्मेष की तत्कालीन भारतीय और ईरानी परंपरा के परिप्रेक्ष्य में, प्लोताइनस ने अपने दर्शन को प्लेटो के दर्शन का नवोन्मेष घोषित किया, और जिन भारतीय चिंतन धाराओं का वास्तव में उस पर प्रभाव है, उनका कोई उल्लेख उसने और उसके दर्शन को वे व्यवस्थित रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास करनेवाले उसके शिष्य पॉरफायरी ने नहीं किया। आध्यात्मिक और धार्मिक अनुभूति और उस पर आधारित चिंतन सरणि को अन्य पूर्ववर्ती या समकालिक प्रतिद्वन्द्वी या समानांतर, अनुभूति या चिंतन सरणियों के द्वारा प्रभावित न मानने की परंपरा काफी पुरानी और व्यापक है। वैदिक ऋषि, जैन मुनियों या शैव योगियों का ऋण स्वीकार नहीं करते। बुद्ध वैदिक ऋषियों या जैन चिंतन परंपरा से अपनी अनुभूति और विचारसरणि को नहीं जोड़ते। हिंदू षट्-दर्शन, बौद्ध दर्शन और अध्यात्म के प्रति कृतज्ञता-यापन नहीं करते। जरथुष्ट्र भी कदाचित् ही वैदिक या किसी अन्य परंपरा के प्रति स्वयं के आभारी अनुभव करते हों। मूसा और ईसा अपने को किसी वास्तविक मानवीय चिंतन सरणि का ऋणी नहीं कहते। तो फिर प्लोताइनस भी अपने दर्शन को अपनी आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि मात्र की देन कहे तो आश्चर्य क्यों हो?

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आगे चल कर इस्लाम ने तो पगंबर के आध्यात्मिक और धार्मिक– दार्शनिक योगदान पर किसी पूर्व-गामी या समकालीन प्रभाव का विचार भी मन में लाना कुफ्र घोषित कर दिया, जिसका किसी प्रकार का प्रतिवाद पैगंबर के कट्टर अनुयायिओं को आज भी बर्दाश्त नहीं। संभवत: आध्यात्मिक साधना की प्रगति की दृष्टि से यह अभिवृत्ति उचित और उपयोगी हो, जैसे विज्ञान के विविध क्षेत्रों में प्रयोगों और अभ्यासों में संलग्न विद्यार्थी को, उनके इतिहास के पचड़े में पड़ने की आवश्यकता नहीं होती। किंतु विद्वत्ता-परक अनुसंधान की दृष्टि से इस प्रकार की अभिवृत्ति सर्वथा हानिकारक है, क्योंकि वह अप्रबुद्ध अंधापन, और रूढ़ि-मूलक जड़ता ही पैदा करती है। संघ-शक्ति में बुद्धि के एक व्यावहारिक लाभ की दृष्टि से इसकी भी अपनी उपयोगिता है, किंतु प्रबुद्ध उदार-चेता, सहिष्णु कृतज्ञता की लचीली विनम्र भावना किसी संस्कृति की वह सुदृढ़ नींव है, जिसके कारण इक्बाल के शब्दों में : 'कुछ बात है कि हसती मिटती नहीं हमारी।'

मुझे लगता है कि विनम्रता की अनुभूति ने भारत में वेदांत युग के मनीषियों को मौलिकता का दावा करने से एकदम उल्टी दिशा में मोड़ दिया। किसी भी विद्या, शास्त्र, या चिंतन-सरणि का प्रणेता या व्याख्याकार जाने कितने पूर्वगामी ज्ञात अज्ञात मनीषियों का लघु उच्छिष्ट अपने टूटे-फूटे शब्दों में प्रस्तुत करने के विनय के साथ ग्रन्थ का आरंभ करता है, और बड़े-से-बड़ा मौलिक चिंतक, केवल विवृति या भाष्य प्रस्तुत करता है। वैसे यह विनम्रता की वृत्ति भी अपने सीमित उद्देश्य से विच्छिन्न हो कर हीनता-मूलक बन गयी है, और साहसी चिंतन की ताज़गी के हित में किंवा, घातक सिद्ध हुई है। इस विनम्र ऋण–स्वीकार की अभिवृत्ति के विषय में भी एक विचित्र बात है कि कृतज्ञता या आभार में अपनी ही प्राचीन परंपरा का स्वीकार किया जाता है, न कि समकालिक प्रतिद्वन्द्वी या समानांतर परंपरा का। प्लोताइनस ने इसी प्रवृत्ति को अपनाया है। भारत और ईरान में उस समय की प्रचलित परंपरा के आदर्श के अतिरिक्त प्लोताइनस की निजी विशिष्ट परिस्थितियाँ भी इसके लिए जिम्मेदार हो सकती हैं। २४४ ईस्वी में ईरान से भाग कर रोम पहुँचने और वहाँ एक शिक्षण-संस्थान आरंभ करने पर भी, वह अपने विचारों और सिद्धांतों का विज्ञापन लगभग ९ वर्ष बाद ही शुरू कर सका, जब वह नये सम्राट् गालियानस का विश्वासपात्र और कृपापात्र बन पाया। इस नये सम्राट की रुचि, धार्मिकता-शून्य मूल यूनानी पेगन आदर्शों को पुनरुज्जीवित करने में थी, जो ईसाइयत की धार्मिक अधिवृत्ति में विलीन हो गये थे। प्लोताइनस ने इस सम्राट से पर्याप्त भू-खंड की माँग की, जहाँ वह प्लेटो के विधान के अनुसार, एक समुदाय विकसित करने का प्रयोग कर सके। सम्राट के समर्थन और सहमति के बावजूद प्लोताइनस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की यह योजना, कतिपय सशक्त दरबारी पार्षदों के विरोध के कारण पूरी न हो सकी। २६८ ई. में सम्राट गैलियानस की हत्या के बाद प्लोताइनस का शिक्षा-संस्थान भी धीरे-धीरे छिन्न-भिन्न हो गया और दो वर्ष बाद २७० ई. में संभवतः कुष्ठ रोग से पीड़ित प्लोताइनस की मृत्यु रोम से दूर उसके एक अरब-नस्ल के मित्र के फार्म या जागीर पर हुई, जहाँ प्लोताइनस का केवल एक चिकित्सक शिष्य मौजूद था। पॉरफायरी प्लोताइनस के साथ २६३ से २६८ ई. तक ही रहा। उसकी सारी शिक्षा-दीक्षा एथेंस में हुई थी, जहाँ से लगभग ३१ वर्ष की परिपक्व वय में वह २६३ ई. में रोम गया था। प्लोताइनस के दर्शन को व्यवस्थित रूप में संकलित-संपादित करते समय, पॉरफायरी के अपने पूर्वाग्रहों का भी महत्त्व कम नहीं कहा जा सकता। बहरहाल, प्लोताइनस के दर्शन पर, अत्यंत सुस्पष्ट भारतीय और ईरानी प्रभावों के समुचित स्वीकरण के अभाव की कतिपय व्याख्या इस लेख में विनम्र रूप से प्रस्तुत करने का मैंने प्रयास किया है।

दर्शन विभाग — सूर्यप्रसाद श्रीवास्तव
युवराजदत्त स्नातकोत्तर महाविद्यालय
लखीमपुर– खीरी (उ. प्र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुनर्जन्म : एक दार्शनिक वैज्ञानिक व्याख्या

पूर्व और पश्चिम सब कहीं पुनर्जन्म संबंधी विचार, किसी न किसी रूप में अवश्य पाये जाते है किंतु पूर्व में, जिसका प्रतिनिधित्व करने का श्रेय युगों युगों से भारतवर्ष को प्राप्त रहा है, पुनर्जन्म विषयक जितना व्यापक, व्यवस्थित एवं सूक्ष्म विवेचन मिलता है, वह अन्यत्र, संभव नहीं है। प्राचीन भारतीय दार्शनिक साहित्य का, चार्वाक-विचार[1] को छोड़कर भले ही विभिन्न दृष्टिकोणों से सृजन हुआ हो, किसी भी परिस्थिति ने चाहे विभिन्न दृष्टिकोणों को जन्म दिया हो, किंतु जनर्जन्म वाद पर आकर सभी सहमत हो जाते हैं।[2] यह बात अलग है कि पुनर्जन्म के स्वरूप निर्धारण तथा तत्संबंधी मान्यताओं के प्रश्न पर मतैक्यता की पर्याप्त कभी पायी जाती है, जिसका मूलभूत कारण समाज का विकास की विभिन्न अवस्थाओं से गुजरने और उसके परिणाम स्वरूप उत्पन्न होने वाली विभिन्न दार्शनिक अवधारणाओं का तत्कालीन सामाजिक व्यवस्थाओं से प्रभावित होना स्वाभाविक ही था। पुनर्जन्म के स्वरूप निर्धारण के संबंध में उत्पन्न मत-वैभिन्यता को समझने के लिये वेद से बौद्ध तक के लंबे कालक्रम में हुए उतार चढाव की तह में जाना आवश्यक है। पुनर्जन्मवाद[3], जिसे भारतीय दर्शन की एक विशेष उपलब्धि कहा जा सकता है तथा कर्मफल का सिद्धांत जिसके साथ संग्रथित है, इसे व्यापक जनसमर्थन तथा तदानुरूप आचरण का श्रेय प्राप्त रहा है।[4] इसका मुख्य कारण यह रहा है कि मुख्यतः भारतीय तत्त्व-वेत्ताओं ने कार्यकारण सिद्धांत को दृष्टिगत रखते हुए अपने विचारों, सिद्धांतों तथा निष्कर्षों का प्रतिपादन किया, जिसका मुख्य परिणाम पुनर्जन्म समर्थित आस्तिकवाद के रूप में सामने आया। यही कार्य-कारण विषयक चिंतन तथा अनुसधान परंपरा आज भी जारी है। तथ्यों तथा तर्कों द्वारा पुनर्जन्म को सिद्ध करने में शायद ही कोई प्रयत्न शेष रहा होगा। उन सभी युक्तियों का खंडन किया गया मिलता है, जो पुनर्जन्म के विपरीत दी जा सकती हैं।[5]

यही कारण है कि आज भी पुनर्जन्म समर्थित आस्तिकवाद का विश्व के समस्त मुख्य आस्तिकवादों में महत्त्वपूर्ण स्थान है। पदार्थ-चतुष्टय, द्वैतवाद और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पुनर्जन्म संबंधी अवधारणाओं के कारण वैदिक आस्तिकवाद के विभिन्न पहलुओं पर अनुसंधान तथा पुनर्मूल्यांकन की महती आवश्यकता ने विश्व के प्रमुख शोधार्थियों का ध्यान अपनी ओर आकृष्ट किया है। विश्व-प्रतिष्ठित तत्त्वज्ञों ने इसके महत्त्व, तथ्य-परकता और आवश्यकता को स्वीकार भी किया है।[६]

परंतु विज्ञान के बढ़ते कदमों के साथ-साथ स्थिति यहाँ तक पहुँच चुकी है कि पुनर्जन्म और धर्मसंबंधी अवधारणाओं में विश्वास व्यक्त करना, वर्तमान तथाकथित सभ्य समाज में मूर्खता का द्योतक माना जाने लगा है।[७]

किंतु दैनिक जीवन-गत अनुभव[८] सामाजिक घटनायें[९] और कतिपय अनुसंधानात्मक तथ्य[१०] उक्त धारणा के ठीक विपरीत जाते हैं। जीवन में सामंजस्य स्थापित करने के लिये पुनर्जन्म और तत्संबंधी मान्यतायें अनिवार्य रूप से स्वीकार्य प्रतीत होती हैं।

इसी दृष्टिकोण को दृष्टिगत रखते हुए प्रस्तुत निबंध में वैज्ञानिक पद्धति द्वारा पुनर्जन्मवाद को सिद्ध करने का प्रयास किया गया है। आशा है– सत्यार्थी चिंतक और पुनर्जन्म के संबंध में शोध-कार्यों में रत अनुसंधाता इस धूमिल वैज्ञानिक सत्य को पूर्ण रूपेण प्रकाश में लाने के लिये यथाआवश्यक सहयोग और सद्भावनायें प्रदान करेंगे। आगामी पृष्ठों में गैल्टनवाद का खंडन तथा मनुष्य के निर्माण विकास में पैतृकता और परिवेश के अलावा पूर्वजन्म अर्जित संस्कारों की अनिवार्यता का प्रतिपादन किया जायेगा।

यहाँ यह तथ्य स्पष्ट किया जाना चाहिए कि पुनर्जन्म को वैज्ञानिक पद्धति से सिद्ध किये जाने के पश्चात् जीव की उत्पत्ति के विषय में सोचने का कोई कारण नहीं रह जायेगा। क्योंकि जब जीवात्मा नित्य है, कर्मफलानुसार शरीर धारण करता तथा त्यागता है और यही चक्र सृष्टि (पुनर्जन्म-विषयक मान्यतानुसार) अथवा मुक्तिपर्यंत चलता रहता है[११] तो इस तथ्य को स्वीकार करने के पश्चात् जीव की उत्पत्ति के विषय में सोचने का प्रश्न ही नहीं उठता।

अभी भी जीव-वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक स्तर पर यही माना जाता रहा है कि "मनुष्य[१२] आनुवंशिक प्रकृति और पालन-पोषण वातावरण का गुणनफल है। (फ्रैंसिस गैल्टन)[१३] इसे और अधिक स्पष्ट करने के लिए यदि जीव वैज्ञानिकों और मनोवैज्ञानिकों से प्राणी की संपूर्णता के विभिन्न कारकों के विषय में पूछा जाय अथवा किसी प्राणी के किन्हीं लक्षणों, योग्यता तथा कार्यक्षमता के मूल कारणों के विषय में प्रश्न किया जाये तब वे इसका सीधा और स्पष्ट उत्तर यही देंगे कि "प्रत्येक प्राणी वही सब कार्य व्यवहार तथा योग्यताएँ अर्जित करता है, जो आनुवंशिक प्रदत्त और परिवेश-जन्य हों।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किंतु दैनिक व्यवहार में ऐसे बहुत से तथ्य सामने आते हैं जिनके आधार पर एक सत्य-शोधक को यह सोचने पर विवश होना पड़ता है कि आनुवंशिक प्रकृति और परिवेश के अतिरिक्त अन्य कोई तीसरा कारक भी विद्यमान है जो मानव (विस्तृत अर्थ में प्रत्येक प्राणी) की योग्यता, कार्यक्षमता तथा व्यवहार को प्रभावित करता है।

अपनी उक्त मान्यता की वैज्ञानिक पद्धति से व्याख्या करने के लिए वैज्ञानिक डब्ल्यू. ई. ब्लाट्ज तथा सहयोगी मनोवैज्ञानिकों– द्वारा डोयनी बहनों पर किये गये अनुसंधान के आकड़े प्रस्तुत किये जा रहे हैं, जिनके विश्लेषण से गैल्टनवाद का एकांगीपन पूर्णतया स्पष्ट प्रकट हो जायेगा।

पाँच जुडवा बहनों के अनुसंधानात्मक तथ्य

क्रमांक	नाम	सामाजिक सफलता	सामाजिक जनप्रियता	सामाजिक रुचि
१.	एनेट	१·३	०·८	२·७
२.	एसिली	१·३	१·२	१·८
३.	एमिली	०·९	१·०	०·६
४.	मैरी	०·९	०·७	०·४
५.	थूनी	१·८	१·६	१·०

यहाँ दिये गये आकड़े तीन वर्षीय पाँच जुड़वा बहनों के हैं। पाँचों बहनों को एक ही परिवेश में रखकर तीन वर्ष बाद वैज्ञानिक स्तर पर सामाजिक सफलता, सामाजिक जनप्रियता और सामाजिक रुचि को दृष्टिगत रखते हुए परीक्षण किया गया था, जिसके तथ्यात्मक निष्कर्ष पूर्वोक्त सारिणी में अंकित हैं।

पूर्व उल्लिखित अनुसंधान के आधार पर वैज्ञानिक स्तर पर यह निष्कर्ष निकाला गया था कि "समान आनुवंशिकता[१४] तथा परिवेश में समानता होते हुए भी प्राणियों में अंतर हो सकता है।"[१५] जबकि अभी तक दूसरी ओर वैज्ञानिक स्तर पर प्रत्येक प्राणी की संपूर्णता उसके आनुवंशिक लक्षणों तथा परिवेश जनित कारकों के समग्र से आंकी जाती है। दूसरे शब्दों में स्पष्ट करने के लिए कहना चाहिए कि प्रत्येक प्राणी की उत्तमता के लिए उसके पैतृक लक्षणों तथा वातावरण दोनों का होना आवश्यक है। अर्थात्, "जिस दर पैतृक लक्षणों तथा वातावरण में परिवर्तन होता जायेगा, ठीक उसी अनुपात में उसके गुण, कर्म, स्वभाव और संरचना में भी परिवर्तन होता जायेगा।" इस मान्यता के अनुसार आनुवंशिकता और परिवेश में समानता रखने वाली पूर्वोक्त पाँचों जुडवा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बहनों में तीनों क्षेत्रों (सामाजिक सफलता, सामाजिक जनप्रियता और सामाजिक रुचि) में परस्पर समानता होनी चाहिए। क्योंकि वर्तमान वैज्ञानिक मान्यता[१६] के अनुसार समान पैतृक गुणों व समान वातावरण में पाले गये सभी प्राणी सभी गुणों व लक्षणों में समान होंगे। किंतु पूर्वोक्त सारणी में दिये गये आकड़े प्राणी की संपूर्णता ज्ञात करने के वैज्ञानिक सूत्र का स्पष्टतः खंडन कर रहे हैं। जिन वैज्ञानिकों ने पूर्वोक्त आकड़ों को प्रकाशित कराया था, उन्होंने भी सत्यता जानने की कोशिश नहीं की और उसके बाद आने वाले वैज्ञानिकों (विशेष तौर पर मनोवैज्ञानिकों) ने भी उन्हींका अनुसरण किया, ऐसा प्रतीत होता है। अन्यथा अभी तक ऐसे अतीव महत्त्वपूर्ण तथ्यों की उपेक्षा न की गयी होती। मनोवैज्ञानिक ब्लाट्ज ने अपने सहयोगियों के साथ उक्त अनुसंधान के निष्कर्ष के संबंध में केवल यही कहना उचित समझा कि "समान पैतृकता और वातावरण में समानता होते हुए भी प्राणियों में अंतर हो सकता है।"[१७]

परंतु प्रश्न आज भी बना हुआ है कि आखिर ऐसा क्यों? यह अंतर होने के क्या कारण हो सकते हैं? लेकिन जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है कि ब्लाट्ज आदि ने कारण खोजने की कोशिश नहीं की। तो क्या भ्रमात्मक, प्रमाण-रहित उपरोक्त कथन से जिज्ञासु का मन शांत हो सकेगा? क्या इन अतीव महत्त्वपूर्ण तथ्यों की ओर से आँखें मूंद लेना एक सत्य-शोधक के लिए उपयुक्त होगा? क्या उक्त निष्कर्ष विज्ञान की स्वीकृत कसौटी के अनुरूप है? अथवा क्या यहीं तक (आनुवंशिकता और परिवेश की संपूर्णता=संपूर्ण प्राणी) पहुँचने का हमारे विज्ञान का लक्ष्य रहा है?

जहाँ तक इसे समझने का प्रयत्न किया गया है, उसके आधार पर निश्चय-पूर्वक कहा जा सकता है कि नहीं! कदापि नहीं! अंतिम तथा वास्तविक पूर्ण सत्य का प्रकाश-स्तंभ तो अभी पर्याप्त दूर है। हाँ, उस प्रकाश-स्तंभ की ओर हम अबाध गति से बढ़ रहे हैं। पूर्ण विश्वास के साथ कहा जा सकता है कि यदि हम इसी तत्परता, धैर्य, साहस और निष्पक्षता से बढ़ते गये तो एक दिन वह होगा जब हम उस प्रकाश-स्तंभ के निकट, अति निकट, होंगे और सत्य के गर्भ में जो अनन्त रत्न छिपे हैं उन सभी का ज्ञान तथा उपयोग करने में अधिक सक्रिय तथा समर्थ हो सकेंगे।

इतना स्पष्ट करने के पश्चात् यहाँ यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि जब प्रत्येक जीवधारी आनुवंशिकता और परिवेश का ही परिणाम माना जाता है तब एक साथ उत्पन्न हुए सम जुड़वा बच्चों (मोनोजाइगस) को समान वातावरण में रखने पर सभी गुण व लक्षणों यथा, रूप, रंग, शरीर-रचना, बौद्धिक क्षमता स्वभावों आदि में परस्पर समानता होनी चाहिए। परंतु व्यवहार में ऐसा दिखाई नहीं देता। प्रायः ५० % या इससे अधिक प्रतिशत भिन्नता दोनों जुड़वा बच्चों में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तीन-चार वर्ष पश्चात् ही स्पष्ट तौर पर प्रकट होने लगती है। निम्नलिखित उदाहरण से इसे भलीभाँति समझा जा सकता है।

उदाहरण[१८] दो सम जुड़वाँ बच्चे क्रमशः क, ख समान वातावरण में पाले गये। पाँच वर्ष पश्चात् तुलनात्मक परीक्षण किया गया। गैल्टनवाद के अनुसार पूर्वोक्त उदाहरण का विश्लेषण–

सूत्र– संपूर्ण प्राणी = आनुवंशिकता और वातावरण का गुणनफल

माना कि आनुवंशिकता = अ और वातावरण = ब

क्रमांक	नाम	आनुवंशिकता	वातावरण अथवा परिवेश	संपूर्ण प्राणी
१.	क	अ	ब	अ×ब = अब
२.	ख	अ	ब	अ×ब = अब

उपरोक्त सारणी के अनुसार– संपूर्ण प्राणी (क) = अब

संपूर्ण प्राणी (ख) = अब

तुलनात्मक $\frac{\text{क}}{\text{ख}} = \frac{\text{अब}}{\text{अब}}$ अथवा $\frac{\text{क}}{\text{ख}} = \frac{१}{१}$ अथवा क = ख

इस प्रकार इस उदाहरण की व्याख्या से हम यह भलीभाँति देख चुके हैं कि मनुष्य "क" की शारीरिक बनावट, रूप, रंग और मानसिक व शारीरिक क्षमता "ख" के बिल्कुल समान होगी। दूसरे शब्दों में ऐसी कोई भिन्नता या विशेषता नहीं होगी, जिससे एक को दूसरे से अलग पहिचाना जा सके। क मनुष्य ख की अनुकृति होनी चाहिए। गैल्टनवाद के अनुसार क और ख में असमानता नाम की कोई चीज नहीं हो सकती।

परंतु व्यवहार में ऐसी समानता मिलना असंभव है। पूर्वोक्त उदाहरण की व्याख्या को देखने पर आनुवंशिकता और परिवेश की समग्रता = संपूर्ण प्राणी इस सिद्धांत के अधूरेपन तथा दोष-परकता का स्वरूप स्पष्ट हो चुका है। प्रामाणिक तौर पर इस सिद्धांत के अधूरेपन को सिद्ध करने के लिए पूर्वोक्त जुड़वा बहनों की सारणी का विश्लेषण किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है। इस सारणी में, जैसा कि पूर्व ही लिखा जा चुका है, इन पाँचों बहनों की पैतृकता और परिवेश में परस्पर समानता थी। अतएव माना कि–

आनुवंशिकता = अ, परिवेश = ब

इसलिए सामाजिक सफलता, सामाजिक जनप्रियता और सामाजिक रुचि का परिवेश = ब

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्रमांक	नाम	सा. सफलता	सा. रुचि	सा. जन.	सर्वाधिक	सब से कम
१	एनेट	अ×ब = १·३०	अ×ब = २·७०	अ×ब = ०·८०		
२	एसिली	अ×ब = १·३०	अ×ब = १·८०	अ×ब = १·२०		
३	एमिली	अ×ब = ०·९०	अ×ब = ०·६०	अ×ब = १·००		
४	मैरी	अ×ब = ०·९०	अ×ब = ०·४०	अ×ब = ०·७०		
५	थूनी	अ×ब = १·८०	अ×ब = १·००	अ×ब = १·६०		
					सामाजिक सफलता = १·८० सामाजिक रुचि = २·७० सामाजिक जनप्रियता = १·६० क्रमशः थूनी, एनेट, थूनी	सामाजिक सफलता = ०·९० सामाजिक रुचि = ०·४० सामाजिक जनप्रियता = ०·७० क्रमशः मैरी, एमिली, मैरी, मैरी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विश्लेषण (१) सामाजिक सफलता

स्मरणीय– जबकि अ और ब पाँचों बहनों में समान मात्रा में उपलब्ध है फिर भी सबसे अधिक सामाजिक सफलता थूनी ने प्राप्त की और सबसे कम मैरी अथवा एमिली ने तो इस प्रकार–

$$\text{थूनी} = \text{अ} \times \text{ब} = १·८०$$

$$\text{और मैरी / एमिली} = \text{अ} \times \text{ब} = ०·९०$$

भिन्न में बदलने पर–

$$\frac{\text{थूनी}}{\text{मैरी / एमिली}} = \frac{१·८०}{०·९०} \text{ या } \frac{२}{१} = \frac{\text{अ} \times \text{ब}}{\text{अ} \times \text{ब}} \text{ या } \frac{१}{१}$$

या सामाजिक सफलता में थूनी = २ × एमिली अथवा मैरी।

परंतु प्राणी की संपूर्णता के सिद्धांत (आनुवंशिकता × परिवेश = संपूर्ण प्राणी) के अनुसार थूनी = मैरी अथवा एमिली होना चाहिए किंतु सामाजिक सफलता के क्षेत्र में मैरी और थूनी का अनुपात १ : २ है। या यों कहिये, थूनी ने मैरी या एमिली की अपेक्षा दो गुना अधिक सामाजिक सफलता अर्जित की।

(२) सामाजिक जनप्रियता–

सर्वाधिक जनप्रियता अर्जित की = थूनी = १·६०
और सबसे कम जनप्रियता अर्जित की = मैरी = ०·७०

अतएव गणना– अ × ब = १·६० थूनी
अ × ब = ०·७० मैरी

भिन्न में बदलने पर– $\frac{\text{अ} \times \text{ब}}{\text{अ} \times \text{ब}} = \frac{१·६०}{०·७०} = \frac{\text{थूनी}}{\text{मैरी}}$

अथवा $\frac{१}{१} = \frac{२·२८}{१} = \frac{\text{थूनी}}{\text{मैरी}}$ अथवा १ = २·२८। गैल्टनवाद के अनुसार यह मान प्राप्त होता है। उपरोक्त विश्लेषण से साफ तौर पर गैल्टनवाद की अपूर्णता सिद्ध हो जाती है। उक्त मान को संतुलित करने के लिए बायें पक्ष को २·२८ से गुणा किये जाना चाहिए। तभी मेरी की जनप्रियता (गैल्टनवाद की सीमा के बाहर) थूनी के समान हो सकती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(३) सामाजिक रुचि–

सर्वाधिक सामाजिक रुचि एनेट ने अर्जित की = २·७०
और सबसे कम सामाजिक रुचि मैरी ने अर्जित की = ०·४०

अतएव– अ × ब = २·७० एनेट
अ × ब = ०·४० मैरी

भिन्न के बदलने पर– $\frac{\text{अ} \times \text{ब}}{\text{अ} \times \text{ब}} = \frac{२\,७०}{०\,४०} = \frac{\text{एनेट}}{\text{मैरी}}$

अथवा– $\frac{१}{१} = \frac{६·७५}{१} = \frac{\text{एनेट}}{\text{मैरी}}$ या $\frac{१}{१}$

अथवा यों कहिये कि एनेट ने मैरी की अपेक्षा ६·७५ गुना सामाजिक रुचि अर्जित की। उपरोक्त मान $\frac{१}{१}$ = ६·७५ जो असन्तुलित है उसको सन्तुलित करने के लिए (गैल्टनवाद की सीमा से बाहर) तीसरे तत्त्व (?) ६·७५ से गुणा किया जा सकता है। एनेट ने मैरी की अपेक्षा ६·७५ गुना सामाजिक रुचि अर्जित की है। पैतृकता और परिवेश में समानता के बावजूद एनेट और मैरी में ६·७५ गुना अन्तर स्पष्टतया गैल्टनवाद के अधूरेपन को सिद्ध करता है।

अतएव यहाँ स्पष्ट तौर पर सिद्ध हो जाता है कि एनेट में मैरी की अपेक्षा आनुवंशिकता और परिवेश के अतिरिक्त अन्य कोई तीसरा कारक (?) अधिक मात्रा में विद्यमान रहा होगा। तभी तो मैरी की अपेक्षा एनेट ने ६·७५ गुना सामाजिक रुचि अर्जित की।

उपरोक्त इन तीनों उद्धरणों के गणितीय विश्लेषण के बाद इस बात की आवश्यकता नहीं रह जाती कि गैल्टनवाद की अपूर्णता और प्राणी के निर्माण बिकास में तीसरे तत्त्व की अनिवार्यता को स्वीकार करने के संबंध में और अधिक तथ्य उद्धृत किये जायें। वैसे यदि पाठक पूर्वोक्त सारणी में दिये गये सभी तथ्यों के आधार पर गैल्टनवाद की जाँच करेंगे तो प्रत्येक दशा में अधूरापन ही मिलेगा।

इतना स्पष्ट किये जाने के पश्चात् कि संपूर्ण प्राणित्व के निर्माण, विकास में आनुवंशिकता और परिवेश के अलावा एक तीसरा कारक भी मुख्य है, जिसकी प्राणी के निर्माण, विकास और अभिवृद्धि में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है वैज्ञानिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विश्लेषण (१) सामाजिक सफलता

स्मरणीय– जबकि अ और ब पाँचों बहनों में समान मात्रा में उपलब्ध है फिर भी सबसे अधिक सामाजिक सफलता थूनी ने प्राप्त की और सबसे कम मैरी अथवा एमिली ने तो इस प्रकार–

$$\text{थूनी} = \text{अ} \times \text{ब} = १·८०$$

$$\text{और मैरी / एमिली} = \text{अ} \times \text{ब} = ०·९०$$

भिन्न में बदलने पर–

$$\frac{\text{थूनी}}{\text{मैरी / एमिली}} = \frac{१·८०}{०·९०} \text{ या } \frac{२}{१} = \frac{\text{अ} \times \text{ब}}{\text{अ} \times \text{ब}} \text{ या } \frac{१}{१}$$

या सामाजिक सफलता में थूनी = २ × एमिली अथवा मैरी।

परंतु प्राणी की संपूर्णता के सिद्धांत (आनुवंशिकता × परिवेश = संपूर्ण प्राणी) के अनुसार थूनी = मैरी अथवा एमिली होना चाहिए किंतु सामाजिक सफलता के क्षेत्र में मैरी और थूनी का अनुपात १ : २ है। या यों कहिये, थूनी ने मैरी या एमिली की अपेक्षा दो गुना अधिक सामाजिक सफलता अर्जित की।

(२) सामाजिक जनप्रियता–

सर्वाधिक जनप्रियता अर्जित की = थूनी = १·६०
और सबसे कम जनप्रियता अर्जित की = मैरी = ०·७०

अतएव गणना– अ × ब = १·६० थूनी

अ × ब = ०·७० मैरी

भिन्न में बदलने पर– $\frac{\text{अ} \times \text{ब}}{\text{अ} \times \text{ब}} = \frac{१·६०}{०·७०} = \frac{\text{थूनी}}{\text{मैरी}}$

अथवा $\frac{१}{१} = \frac{२·२८}{१} = \frac{\text{थूनी}}{\text{मैरी}}$ अथवा १ = २·२८। गैल्टनवाद के अनुसार यह मान प्राप्त होता है। उपरोक्त विश्लेषण से साफ तौर पर गैल्टनवाद की अपूर्णता सिद्ध हो जाती है। उक्त मान को संतुलित करने के लिए बायें पक्ष को २·२८ से गुणा किये जाना चाहिए। तभी मेरी की जनप्रियता (गैल्टनवाद की सीमा के बाहर) थूनी के समान हो सकती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(३) सामाजिक रुचि–

सर्वाधिक सामाजिक रुचि एनेट ने अर्जित की = २·७०
और सबसे कम सामाजिक रुचि मैरी ने अर्जित की = ०·४०

अतएव– अ × ब = २·७० एनेट
अ × ब = ०·४० मैरी

भिन्न के बदलने पर– $\frac{\text{अ} \times \text{ब}}{\text{अ} \times \text{ब}} = \frac{२\,७०}{०\,४०} = \frac{\text{एनेट}}{\text{मैरी}}$

अथवा– $\frac{१}{१} = \frac{६·७५}{१} = \frac{\text{एनेट}}{\text{मैरी}}$ या $\frac{१}{१}$

अथवा यों कहिये कि एनेट ने मैरी की अपेक्षा ६·७५ गुना सामाजिक रुचि अर्जित की। उपरोक्त मान $\frac{१}{१}$ = ६·७५ जो असन्तुलित है उसको सन्तुलित करने के लिए (गैल्टनवाद की सीमा से बाहर) तीसरे तत्त्व (?) ६·७५ से गुणा किया जा सकता है। एनेट ने मैरी की अपेक्षा ६·७१ गुना सामाजिक रुचि अर्जित की है। पैतृकता और परिवेश में समानता के बावजूद एनेट और मैरी में ६·७५ गुना अन्तर स्पष्टतया गैल्टनवाद के अधूरेपन को सिद्ध करता है।

अतएव यहाँ स्पष्ट तौर पर सिद्ध हो जाता है कि एनेट में मैरी की अपेक्षा आनुवंशिकता और परिवेश के अतिरिक्त अन्य कोई तीसरा कारक (?) अधिक मात्रा में विद्यमान रहा होगा। तभी तो मैरी की अपेक्षा एनेट ने ६·७५ गुना सामाजिक रुचि अर्जित की।

उपरोक्त इन तीनों उद्धरणों के गणितीय विश्लेषण के बाद इस बात की आवश्यकता नहीं रह जाती कि गैल्टनवाद की अपूर्णता और प्राणी के निर्माण बिकास में तीसरे तत्त्व की अनिवार्यता को स्वीकार करने के संबंध में और अधिक तथ्य उद्धृत किये जायें। वैसे यदि पाठक पूर्वोक्त सारणी में दिये गये सभी तथ्यों के आधार पर गैल्टनवाद की जाँच करेंगे तो प्रत्येक दशा में अधूरापन ही मिलेगा।

इतना स्पष्ट किये जाने के पश्चात् कि संपूर्ण प्राणित्व के निर्माण, विकास में आनुवंशिकता और परिवेश के अलावा एक तीसरा कारक भी मुख्य है, जिसकी प्राणी के निर्माण, विकास और अभिवृद्धि में महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है वैज्ञानिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्तर पर अभी तक इस तीसरे अज्ञात कारक का प्राणी के गुण स्वभाव रुचि तथा इच्छा को प्रभावित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है इस तथ्य को अब नकारा नहीं जा सकता। पूर्व पृष्ठों में दिये गये उद्धरणों के विश्लेषण से यह भलीभाँति स्पष्ट हो चुका है।

अतएव तीसरे कारक (?) की खोज

पाठक इस तथ्य से भली-भाँति परिचित हो गये कि अभी तक वैज्ञानिक स्तर पर अज्ञात रहने वाला तीसरा कारक आनुवंशिकता और परिवेश से परे हट कर ही खोजा जा सकता है। अतः परिवेश से संबंधित समस्त कारकों को छोड़िये और माता-पिता के गुणों को भी, तथा इसके साथ-साथ अंडाणु, बीजाणु के ऊपर पड़ने वाले माता-पिता के पैतृक प्रभाव को छोड़कर ही तीसरे कारक की खोज की जा सकती है। क्योंकि यह स्पष्ट तौर पर प्रमाणित हो चुका है कि आनुवंशिकता और परिवेश की संपूर्णता का सिद्धांत प्राणित्व की संपूर्णता की व्याख्या करने में असमर्थ रहा है।

इस संदर्भ में, जैसा कि पूर्व पृष्ठों में ही संकेत दिया जा चुका है, इस समस्या का भारतीय तत्त्ववेत्ताओं ने जो समाधान प्रस्तुत किया है वह कार्य कारण के सिद्धांत के ऊपर आधारित होने के साथ-साथ व्यवहारिक जीवन से मेल भी खाता है।

इस विषय में भारतीय ऋषियों की मान्यता है कि जीव जो-जो कार्य करता है उनकी स्मृति होती है। स्मृति के बार-बार बनने से संस्कार बनते हैं जो क्रमशः चित्त मंडल पर अंकित होते जाते हैं। जब भी जीव समय आने पर अपना शरीर छोड़ता है उस समय सूक्ष्म शरीर[१९] सहित जीव वायुमण्डल में पहुँचता है और जनन द्वारा पुनः संसार में आता है, यही जन्म-मरण का चक्र, कल्प अथवा मुक्ति पर्यंत चलता रहता है।[२०]

जीव की नित्यता के सिद्धांतानुसार यही तीसरा कारक 'पुनर्जन्मवाद' है जो पूर्वजन्म से प्राप्त संस्कारों और कर्मफलानुसार वर्तमान जीवन को प्रभावित करता रहता है।[२१] पूर्वजन्म की उपलब्धि (मुख्य तीसरे कारक पूर्वजन्म के संस्कारों) के अनुसार जीव मातृ-पितृदेह में प्रवेश करता है। यह सब पूर्वजन्म के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कर्मफलों के अनुकूल होता है। तत्पश्चात् पैतृक शरीरों में आनुवंशिकता की अनुरूप वृद्धि तो करता ही है, किंतु साथ-साथ पैतृक गुणों, लक्षणों को ग्रहण करने की प्रक्रिया भी नियमानुसार चलती रहती है। यह सब जन्म-धारण से पूर्व की प्रक्रिया है। जन्म के पश्चात् शैशवकाल में ही देहधारी जीव पूर्वजन्म के संस्कारों और पैतृक लक्षणों को कमोवेश प्रदर्शित करने लगता है। साथ-साथ पालन पोषण (व्यापक अर्थ में परिवेश) का प्रभाव बढ़ते जाने से प्राणी के व्यवहार और स्वभाव में परिवर्धन तथा परिवर्तन होने लगता है। इस प्रकार प्राणी विकास के विभिन्न सोपानों से गुजरता हुआ विकास के उच्चतम शिखर तक पहुँचने का प्रयास करता रहता है ;

प्राणी की संपूर्णता मापने के लिए जीव-विज्ञान और मनोविज्ञान के वर्तमान सिद्धांत (आनु. × परिवेश) के अधूरेपन को दृष्टिगत रखते हुए तथा उक्त अधूरेपन की पूर्ति से संबंधित भारतीय आस्तिक विदों की तर्क-संगत मान्यता पुनर्जन्म को ध्यान में रखते हुए प्राणी की संपूर्णता को मापने के लिए उपरोक्त सिद्धांत से भिन्न वैकल्पिक इस सिद्धांत सूत्र को स्वीकार किया जाना चाहिए। "प्राणी पूर्वजन्म के संस्कारों, आनुवंशिक प्रकृति और परिवेश का समग्र गुणनफल है।" अर्थात्, वैकल्पिक इस सिद्धांत के अनुसार– संपूर्ण प्राणीत्व = अ × ब × स (गणीतीय भाषा में)

प्राणी की संपूर्णता = पूर्वजन्म अर्जित संस्कार ईकाई × आनुवंशिकता × परिवेश। ब्लाट्ज द्वारा प्रकाशित कराये गये डोयनी बहनों के आंकड़ों का इस सिद्धांत के आधार पर विश्लेषण किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है ताकि विज्ञ पाठक, विशेष तौर से विज्ञान के विद्यार्थी, देखेंगे कि कहाँ तक तथ्यों के सामंजस्य को स्थापित किया गया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्रमांक	नाम	सा. सफलता	सा. जनप्रियता	सा. रुचि	आनुवंशिकता	परिवेश	संस्कार इकाई	वैकल्पिक सिद्धांत
१.	एनेट	१·३०	०·८०	२·७०	अ	ब	$स_1$	
२.	एसिली	१·३०	१·२०	१·८०	अ	ब	$स_2$	
३.	एमिली	०·९०	१·००	०·६०	अ	ब	$स_3$	
४.	मैरी	०·९०	०·७०	०·४०	अ	ब	$स_4$	
५.	थूनी	१·८०	१·६०	१·००	अ	ब	$स_5$	

प्राणी की संपूर्णता = सस्कार इकाई × आनुवंशिकता × परिवेश
अथवा अ × ब × स

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणी : पाँचों बहनों की आनुवंशिकता समान होने से "अ" तथा परिवेश भी समान होने से "ब" द्वारा प्रदर्शित किया गया है। किंतु जीवात्मा की नित्यता की पुनर्जन्म विषयक मान्यतानुसार पाँचों बहनों के "संस्कारसमग्र" २२ भिन्न होने से पूर्वोक्त सारणी में क्रमशः $स_१$, $स_२$, $स_३$, $स_४$, $स_५$ के रूप में प्रदर्शित किये गये हैं। अतएव सामाजिक सफलता के क्षेत्र में पाँचों बहनों की संस्कार इकाई २३ को क्रमशः $स_१$, $स_२$ $स_३$, $स_४$, $स_५$ के रूप में प्रदर्शित किया जाना चाहिए। इसलिए यहाँ सामाजिक सफलता "स" द्वारा प्रदर्शित की गई है। सामाजिक सफलता ज्ञात करने का सूत्र- संस्कार इकाई×आनु. × परिवेश

(१) सर्वाधिक सा. सफलता अर्जित की थूनी ने = १·८० = स. $स_५$ × अ×ब

सबसे कम सा सफलता अर्जित की मैरी ने = ०·९० = स. $स_४$ × अ×ब

भिन्न के बदलने पर– $\frac{\text{थूनी}}{\text{मैरी}} = \frac{\text{स. } स_५}{\text{स. } स_४} = \frac{२}{१}$

मैरी की अपेक्षा थूनी ने दो गुना सामाजिक सफलता प्राप्त की, जब कि परिवेश और आनुवंशिकता दोनों में समान मात्रा में विद्यमान हैं। गणना से यह तथ्य भली-भाँति समझा जा सकता है। थूनी और मैरी में दुगुने अंतर का कारण पूर्वजन्म में अर्जित संस्कारों में अंतर होना रहा है। ध्यान देने की बात है, थूनी के सामाजिक सफलता संस्कार स. $स_५$ और मैरी के स. $स_४$ हैं।

(२) सामाजिक जनप्रियता (ज) की व्याख्या पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए।

सर्वाधिक सामाजिक जनप्रियता (ज) थूनी ने अर्जित की = १·६०
परन्तु सबसे कम सामाजिक जनप्रियता (ज) मैरी ने अर्जित की = ०·७०
सामाजिक जनप्रियता संस्कार थूनी और मैरी क्रमशः ज. $स_५$, ज. $स_४$

अतएव– थूनी = ज × $स_५$ × अ × ब = १·६०
मैरी = ज × $स_४$ × अ × ब = ०·७०

भिन्न में बदलने पर– $\frac{\text{थूनी}}{\text{मैरी}} = \frac{\text{ज. } स_५ \times \text{अ} \times \text{ब}}{\text{ज. } स_४ \times \text{अ} \times \text{ब}} = \frac{१·६०}{०·७०}$

अथवा– $\frac{\text{थूनी}}{\text{मैरी}} = \frac{\text{ज. } स_५}{\text{ज. } स_४} = \frac{२·२८}{१}$

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

थूनी और मैरी में सामाजिक जनप्रियता का अनुपात क्रमशः २·२८ : १ रहा है, जो स्पष्टतया सिद्ध करता है कि पूर्वजन्म के सामाजिक जनप्रियता (ज) के संस्कार एकक थूनी (जस$_५$) की अपेक्षा मैरी (जस$_४$) में कम रहे हैं। तभी यह विशाल अन्तर पैतृकता और परिवेश समान होते हुए भी अल्पवयस् में स्पष्ट तौर पर प्रकट हो गया।

इन पूर्वोक्त विश्लेषणों की भाँति सामाजिक रुचि (र) के क्षेत्र में पाँचों बहनों में पाये जाने वाले अन्तर के कारण को समझाया जा सकता है। किंतु यहाँ उत्पन्न इस उलझन का समाधान किया जाना आवश्यक प्रतीत होता है कि पूर्वोक्त सारणी में एमिली और मैरी के संस्कार क्रमशः स$_३$, स$_४$ से प्रदर्शित किये गये हैं, जो परस्पर भिन्न हैं। किंतु सामाजिक सफलता दोनों की समान (०·९०) है। यह परस्पर विपरीत क्यों ?

लेकिन यहाँ विपरीतता जैसी कोई स्थिति नहीं है। अपितु ऊपरी तौर पर विपरीतता तब दिखाई देती है जब संस्कार समग्र के व्यापकतम स्वरूप की ओर आवश्यक ध्यान न दिया जाये।

पूर्वजन्म अर्जित संस्कारों का समग्र वास्तव में कोई एक इकाई न होकर विभिन्न क्षेत्रों में अर्जित की गई परिपक्व स्मृतियाँ हैं जिसे संस्कार कहा जाता है। यथा, विज्ञान, धर्म, कला आदि क्षेत्रों में विशिष्टताएँ और रुचियाँ आदि इकाईय ही संस्कारों के समग्र का निर्माण करती हैं। इसलिए यह संभव है कि एक या अधिक क्षेत्रों में दो प्राणियों की संस्कार ईकाइयों में आंशिक अथवा पूर्ण समानता हो।

अतएव यह कहा जाना तर्क-संगत ही है कि सामाजिक सफलता के क्षेत्र में एमिली और मैरी की संस्कार इकाई में परस्पर समानता है।

अब यहाँ गैल्टनवाद (संपूर्ण प्राणी = आनु. × परिवेश) और प्राणी की संदूर्णता मापने के इस वैकल्पिक सिद्धांत (संस्कार इकाई × आनु. × वातावरण) दोनों का तुलनात्मक विवरण दिया जाता है। गैल्टनवाद की व्याख्या पूर्व पृष्ठों पर दी गई सारणीयों पर आधारित है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

गैल्टनवाद	वैकल्पिक सिद्धांत
परिभाषा– प्राणी वंशानुगति प्रकृति (अ) और पालन-पोषण परिवेश (ब) का गुणनफल है अर्थात्– सम्पूर्ण प्राणी = अ × ब	परिभाषा– प्राणी पूर्व-जन्म अर्जित संस्कारों (स) वंशानुगति प्रकृति (अ) और पालन-पोषण (परिवेश) (ब) का गुणनफल है। अर्थात्– सम्पूर्ण प्राणी = अ × ब × स,...$स_२$

सामाजिक रुचि पर आधारित उपरोक्त सिद्धांतों की व्याख्या

सर्वाधिक– एनेट = अ × ब = २·७० सबसे कम– मैरी = अ × ब = ०·४० भिन्न में बदलने पर– $\frac{\text{एनेट}}{\text{मैरी}} = \frac{\text{अ} \times \text{ब}}{\text{अ} \times \text{ब}} = \frac{२·७०}{०·४०}$ अथवा $\frac{\text{एनेट}}{\text{मैरी}} = \frac{१}{१} = \frac{६·७५}{१}$	सर्वाधिक– एनेट = अ × ब र. $स_१$ = २·७० सगसे कम– मैरी = अ × ब र. $स_४$ = ०·४० भिन्न में बदलने पर– $\frac{\text{एनेट}}{\text{मैरी}} = \frac{\text{र. स}_१ \times \text{अ} \times \text{ब}}{\text{र. स}_४ \times \text{अ} \times \text{ब}} = \frac{२·७०}{०·४०}$ अथवा $\frac{\text{एनेट}}{\text{मैरी}} = \frac{\text{र. स}_१}{\text{र. स}_४} = \frac{६·७५}{१}$

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस प्रकार उपरोक्त सारणी में गैल्टनवाद की अपूर्णता और वैकल्पिक सिद्धान्त की व्याख्या से, जो पूर्णतः वैज्ञानिक है, यह स्पष्ट हो जाता है कि आनुवंशिकता और परिवेश में हर प्रकार की समानता होते हुए भी समाजिक रुचि के क्षेत्र में ६·७५ गुणा अन्तर रहा है, जिसका कारण पूर्वजन्म अर्जित संस्कार की इकाईयों का भिन्न भिन्न होना स्पष्टतया सिद्ध हो चुका है। मैरी की अपेक्षा एनेट में सामाजिक रुचि सम्बन्धी संस्कार ६·७५ गुणा अधिक रहा है। यही कारण है कि तीन वर्ष की अल्पायु में यह विशाल अन्तर दिखाई दिया।

अतएव, इस परिकल्पना की (कि "प्राणी पूर्वजन्म अर्जित संस्कारों, आनुवंशिक प्रकृति और परिवेश का गुणनफल है) वैज्ञानिक पद्धति द्वारा व्याख्या किये जाने के पश्चात् इस अनुरोध के साथ इस शोध-निबन्ध का समापन किया जा रहा है कि अब समय आ गया है कि हम सभी प्रकार के पूर्वाग्रहों तथा एकांगी दृष्टिकोणों को त्यागकर वैज्ञानिक स्तर पर, प्रारम्भ में अपचनीय लगने वाले इस आध्यात्मिक अनुभूत तथा वैज्ञानिक सत्य पुनर्जन्म को स्वीकार करें तथा इस क्षेत्र में नये कीर्तिमान स्थापित करने में योगदान प्रदान करें।

पुनर्जन्म, चूंकि पूर्वजन्म और वर्तमान जीवन की एकमात्र कड़ी है और जीवात्मा तथा भौतिक शरीर को जोड़ने की एकमात्र निर्माणशाला भी, इसलिए आध्यात्मिक और भौतिक जगत् में समन्वय का सबसे अधिक सुन्दर और सबसे अधिक तर्क-संगत एवं तथ्य-अनुमोदित आधार भी पुनर्जन्म ही हो सकता है।

फुगाना–२४७७७६ — सोहनपाल सिंह आर्य
मु. नगर (उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. चार्वाक दर्शन वैदिक कर्मकाण्ड-वाद के विकृत तथा बीभत्स रूप के विरुद्ध उग्र प्रतिक्रिया के परिणाम स्वरूप उद्भूत होने के कारण पुनर्जन्म जैसी अत्यन्त गम्भीर तथा अपेक्षाकृत अधिक गवेषणा की मांग करने वाली मान्यता के साथ न्याय करने में सर्वथा असमर्थ रहा। तमाम सिद्धान्तों की सत्यता जांच की एक मात्र कसौटी स्थूलसुखवादी तथा ऐन्द्रिक प्रमाणीकरण के ऊपर आधारित होने के कारण चार्वाक ज्ञान मीमांसा इतनी संकुचित हो गयी कि उसके आधार पर दर्शन तो क्या सामान्य जीवन भी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्भव नहीं हो सकता था। परिणामस्वरूप एक लम्बे समय अन्तराल के बाद भी चार्वाक चिंतको का पुनर्जन्म विरोधी दृष्टिकोण मात्र प्रतिक्रियावादी होने के कारण भारतीयदर्शन तथा जीवन में सम्मानप्रद स्थान बनाने में सर्वथा असमर्थ पाया जाता है।

२. भारतीय दर्शनों का वर्गीकरण यदि परलोक में विश्वास के अनुसार किया जाये तो जैन तथा बौद्ध दर्शन भी आस्तिक दर्शन कहे जायेंगे, क्योंकि वे भी परलोक को मानते हैं। षड् दर्शन दोनों ही अर्थों में आस्तिक कह सकते हैं, अर्थात् वे वेद को मानने के कारण भी आस्तिक हैं और परलोक को मानने के कारण भी। चार्वाकदर्शन...न तो वेद को ही मानता है और न ही परलोक को। ...

(दत्त एवं चटोपाध्याय, भारतीय दर्शन' पृष्ठ ३)

३. आ यो धर्माणि प्रथमः सदाददतो.....वाचमनुदिता चिकेत। अथर्व. ५/१/१/२

अर्थात् जो मनुष्य पूर्वजन्म में धर्माचरण करता है (वह) उस धर्माचरण के फल से अनेक उत्तम शरीरों को धारण करता है और जो अधर्माचरण करता है वह अनेक नीच शरीर अर्थात् कीट, पतंक, पशु आदि के शरीर को धारण करता है और अनेक दुःखों को भोगता हैं।

–ऋषि दयानन्द सरस्वती, ऋग्वेदादि भाष्य भूमि, पृष्ठ ५१५–५१६

४. कियत्तर प्रतिशत भारतीयों ने आत्मा की अमरता में विश्वास प्रकट किया है यह प्रतिशत सब देशों के प्रतिशत से अधिक है। सुदूर पूर्व और सहारा के आसपास के राष्ट्रों में उनहत्तर प्रतिशत लोगों की आत्मा की अमरता में आस्था पाई गई है।

एक अन्तर-राष्ट्रीय सर्वेक्षण रिपोर्ट लन्दन के रुईर द्वारा दिनांक २०।२।७६ को प्रसारित तथा सार्वदेशिक सा. ३१।१०।७६ के अंक में प्रकाशित।

५. ऋषि दयानन्द सरस्वती, पूना प्रवचन, पृष्ठ ४३ से ५०।

६. क – और यदि में स्वयं से पूछूं कि – किस साहित्य का आश्रय लेकर हम यूरोपीय, जो कि बहुत कुछ केवल यूनानियों, रोमनों और सेमेटिक जाति के विचारों के साथ पले हैं, वह सुधारक वस्तु पा सकते हैं जिसके द्वारा हम अपने जीवन को अधिक पूर्ण, अधिक विस्तृत एवं व्यापक, अत्यन्त विश्वजनीन तथा उच्चतम मानबीय बना सकेंगे जो जीवन न केवल वर्तमान जीवन से संबंधित हो, अपितु शाश्वत एवं दिव्य-जीवन से संबंधित हो, तो मैं पुनः भारतवर्ष की ओर इंगीत करूंगा। ०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रो. मॅक्समूलर, इण्डिया : व्हाट कॅन शी टीच अस-से उद्धृत (हिन्दी अनुवाद)

ख–सब विद्या और भलाइयों का भान्डार आर्यावर्त देश है सब विद्या तथा मत इसी देश से फैले हैं।

फ्रेंच लेखक जैक लियाट–बाइबिल इन इण्डिया (हिन्दी अनुवाद)

ग–भारत समस्त संसार का निचोड़ है।

–चैम्बर विश्व कोष के अनुसार।

घ–मेजर डी ग्राहाम् पॉल का कथन भी इस सन्दर्भ में उल्लेखनीय हैं। वे लिखते हैं "भारत वर्ष उस समय विद्या तथा सभ्यता के उच्चतम शिखर पर पहुँचा हुआ था, जिस समय हमारे पूर्वज वृक्षों की छाल के कपड़े पहने अफरा-तफरी में इधरउधर भटक रहे थे।

मॉडर्न रिव्यू, जनवरी १९३४ के अंक से (हिन्दी अनुवाद)

ड–प्रो. हीरेन अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ हिस्टोरिकल रिसर्च में लिखते हैं "भारतवर्ष ही वह स्रोत है जिससे न केवल एशिया ने अपितु पाश्चात्य जगत् ने भी अपना विद्या तथा धर्म प्राप्त किया।

–जन ज्ञान, माघ २०११ पृष्ट २०

७. क– इस वाद (भौतिक, विकासवाद) का आज के युग में इतना प्रभाव है कि इसके विरुद्ध कुछ भी बोलना उपहास को निमन्त्रण देना हैं (पुनर्जन्म का पक्ष-पोषण भी प्रकारान्तर से उक्त वादों का विरोध ही है। लेखक)

–स्वामी सम्पूर्णानन्द सरस्वती; वेदों के संबंध में क्या जाने क्या भूले ? नामक शोध निबंध से उद्धृत।

–ख धर्म तथा अन्य पराभौतिक मान्यताओं के विषय में सि. फ्रॉइड इत्यादि का दृष्टिकोण यहाँ विशेष द्रष्टव्य है।

८. जब जब हम मनुष्यों के बाल्यावस्था के गुण–योग्यता और रुचियों के मूल कारणों की ओर अन्वेषक दृष्टि डालते हैं तो कुछेक विभिन्नतायें ऐसी मिलती है जिनकी व्याख्या पैतृकता और परिवेश के आधार पर नहीं की जा सकती है जिन्हें पूर्व-जन्म अर्जित संस्कारों की ओर संकेत माना जा सकता है, जो पुनर्जन्मवाद का आधार माना जाता है।

विशेष द्रष्टव्य–प्रो. कीर्ति स्वरूप रावत –सार्वदेशिक सा. २४ अप्रैल ७७ का अकं पृष्ठ ५–६।

९. अ–जीवन के प्रति निराशा-जनक दृष्टिकोण (जिसके परिणाम स्वरूप आत्म-हत्याओं की घटनाओं में लगातार वृद्धि पाई गई) का मुख्य कारण पुनर्जन्म में अनास्था की प्रवृत्ति माना जा रहा है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

–लन्दन के सा. पत्र (नाम ज्ञात नहीं) ने आत्महत्या की घटनाओं में वृद्धि का कारण पुनर्जन्म के प्रति अनास्था होना बतलाया है। उक्त से संबंधित टिप्पणी सार्व. सा. के वर्ष ७६–७७ के किसी अंक में प्रकाशित हुई।

ब–साप्ताहिक हिन्दुस्थान २३।३।७९ का अंक सार्वदेशिक सा. के २४।४।७७ का तथा २२।१०।७८ का अंक और दैनिक हिन्दुस्थान २८।८।७९ का सम्पादकीय।

स–पुनर्जन्म स्मृति नामक पुस्तक के पृष्ठ १८–२१ तक लेखक पं. राजेन्द्र एवं आयन स्टीवेन्सन ट्वेन्टी केसेस सजेस्टिव ऑफ रीइन्कार्नेशन, न्यूयार्क अमेरिकन सोसायटी साइकिल रिसर्च १९६६

१०. कलेक्टेड स्टेडीज ऑन दी क्विण्टुप्लेटस नामक अपने शोधग्रन्थ में मनोविज्ञानी डब्लु. ई. ब्लाट्स तथा सहयोगी मनोवैज्ञानिकों ने डायनी बहनों पर किये गये अनुसन्धान का उल्लेख किया है। अपने अध्ययन में पांच जुडवा बहनों को समान परिवेश में रखकर तीन वर्ष के उपरान्त उनका मानसिक परीक्षण किया जिसका परिणाम सामाजिक सफलता, सामाजिक रुचि के क्षेत्रों में पर्याप्त असामनता पाई गई किन्तु असमानता के कारण की ओर कोई ध्यान नहीं दिया गया।

११. पुनर्जन्म-वाद एवं कर्म का सिद्धान्त परस्पर गुथें हुए है :। जीव जैसे जैसे कर्म इस जीवन में करता है, उन्हीं के अनुसार उसे अगला जीवन प्राप्त होता होता है।
डॉ. वेदप्रकाश गुप्ता; दयानन्द दर्शन, पृष्ठ ३४।

१२. यहाँ मनुष्य का प्रयोग प्राणियों के सन्दर्भ में किया गया है। प्रत्येक प्राणी की व्याख्या भी इसी आधार पर की जा सकती है।

१३. क–जॉर्डन एवं निगम; नवीन जन्तु-विज्ञान, पृष्ठ १३९।
ख–जीवन की हर घटनाएँ दोनों का फल होती हैं। परिणाम में एक भी उतनी ही आवश्यक है जितनी कि दूसरी (हिन्दी अनुवाद)।
मैकाईवर; पेज सोसायटी, पृष्ट ९५।
ग–हरेक लक्षण को अपने विकास के लिए आनुवंशिकता और परिवेश दोनों की आवश्यकता होती है (हिन्दी अनुवाद)।
एल्टनबर्ग–जेनेटिक्स। पृष्ट २२।

१४. समान आनुवंशिकता (मोनो जाईगस) जो एक ही निषेचित अण्ड के किसी कारण से शीघ्र दो या अधिक भागों में बट जाने से बनते हैं उनसे जो जुडवा सन्तान उत्पन्न होती है उनकी आनुवंशिकता समान होती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१५. डा. रामनाथ शर्मा, सामान्य मनोविज्ञान की रूप रेखा, पृष्ठ ४७१ ।

१६. टिप्पणी क्रम संख्या १३ देखिये ।

१७. टिप्पणी क्रम संख्या १० व ५ देखिये ।

१८. इस विषय से संबंधित अध्ययन के दौरान ऐसे दो जुडवा लडकों का विवरण मेरे सामने आया जो बचपन में शरीर-रचना, रंग रूप, और कद आदि में इतने अनुरूप थे कि माता-पिता के लिए उनकी पहचान करना प्रायः कठिन हो जाता था । इस कठिनाई से बचने के लिए एक लडके की तंगडी में ढोलना (पहचान) बांधना पडता था । आज युवा अवस्था में भी शारीरिक रचना में पर्याप्त समानता होते हुए भी उन दोनों की बौद्धिक क्षमता, स्वभाव और रुचियों में पर्याप्त अन्तर दिखलाई पड़ता है– लेखक

१९. देखिये– ऋषि दयानन्द सरस्वती, सत्यार्थ प्रकाश ९।३१ ।

२०. देखिये टिप्पणी क्रमसंख्यां २ व ४ ।

२१. देखिये टिप्पणी क्रमसंख्या २ व १० तथा भगवत गीता २।२२–२३

२२. संस्कार-समग्र से तात्पर्य पूर्वजन्म में किये समस्त कर्मों, रुचियों एवं योग्यताओं के परिपक्व स्मृतियों के समग्र से है जो चित्त में निहित होती है । शरीर छोड़ते समय संगृहीत स्मृतियों का समुच्चय सूक्ष्म शरीर द्वारा जीवात्मा के साथ जाता है– लेखक

२३. संस्कार-समग्र का एक सूत्र संस्कार इकाई कहलाता है । इन छोटे छोटे विशेष स्मृति सूत्रों से ही संस्कार समग्र बनता है ।

२४. जीवात्मा से तात्पर्य नित्य व्यष्टि चैतन्य, कर्मों के कर्ता एवं भोक्ता जीव से है ।– लेखक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्री वल्लभ द्वारा जगत्-मिथ्यात्व का खंडन और जगत्-सत्यत्व का मंडन

वेदान्त दर्शन के प्रमुख आचार्यों में अंतिम श्रीमद्वल्लभाचार्य का दर्शन 'शुद्धाद्वैत' के नाम से प्रसिद्ध है। वेदांत दर्शन के अन्य आचार्यों के समान वल्लभ भी सर्वाधिक आलोचना वेदांत के प्रथम आचार्य शंकर की ही करते हैं, विशेषकर जगत् की अवधारणा तो उनकी शंकर के ठीक विपरीत है। शंकर के तथाकथित जगत् मिथ्यात्व के विरुद्ध वल्लभ जगत् सत्यत्व का प्रतिपादन करते हैं। इसी का विवेचन इस लेख में किया है।*

वल्लभ और शंकर दोनों ही सत्कार्यवादी हैं, दोनों ही मानते हैं कि जगत् का कारण कोई चेतन सत्ता ही हो सकती है। इस प्रकार दोनों ही सांख्य के प्रकृति-परिणाम-वाद का खंडन करते हैं। साथ ही दोनों इस चेतन सत्ता को 'ब्रह्म' कहते हुए उसे ही जगत् का निमित्त और उपादान कारण बतलाते हैं। किन्तु शंकर ब्रह्म को निर्गुण और सगुण दो रूपों वाला बतलाते हुए जहाँ निर्गुण निराकार ब्रह्म को अविकारी रहने देते हैं और सगुण ब्रह्म, जो मायोपाधिक है, को जगत् का उत्पत्ति, पालन एवं संहारकर्ता कहते हैं, वहीं वल्लभ ब्रह्म का इस तरह निर्गुण सगुण में विभाजन न कर एकमात्र परब्रह्म को ही सत्य कहते हैं और उसे ही जगत् का कारण कहते हैं।

दूसरा अंतर दोनों में यह बताया गया है कि जहाँ शंकर विवर्तवाद का समर्थन करते हुए जगत् को ब्रह्म का विवर्त और इस तरह असत् बतलाते हैं, वहाँ वल्लभ अविकृतपरिणामवाद की स्थापना कर जगत् को ब्रह्म का परिणाम बतलाकर उसे भी उतना ही सत्य घोषित करते हैं, जितना कि इसका कारण ब्रह्म सत्य है। वस्तुतः वल्लभ-दर्शन में ब्रह्म केवल विश्व का रचियता ही नहीं वरन् स्वयं विश्वरूप है, इसीलिये जगत् भी अपने कारण के समान सत्य है।

परामर्श (हिंदी), खंड ७, अंक १, दिसम्बर, १९८५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वल्लभ का मत है कि ब्रह्म लीला के लिये अपने सत् अंश से स्वयं जगत् के रूप में प्रस्तुत होता है। जगत् के समान जीव भी ब्रह्म का ही परिणाम है किन्तु वहाँ सत् के साथ ब्रह्म का चित् अंश भी उपस्थित रहता है। इस तरह वल्लभ जगत् को सत्य कहते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है कि जगत् के सत्यत्व की सिद्धि के लिये वल्लभ के पास क्या प्रमाण है? वेदान्त के अन्य आचार्यों के समान, संभवतः कहीं अधिक ही, वल्लभ भी अपने मत की पुष्टि में सर्वप्रथम शब्द प्रमाण ही प्रस्तुत करते हैं। अब हम देखेंगे कि शास्त्रों की सहायता से वल्लभ किस प्रकार जगत्-सत्यत्व का निर्धारण करते हैं।

बादरायण के ब्रह्मसूत्र पर वेदांत के सभी आचार्यों ने भाष्य लिखे हैं और सबने यही दिखलाने का प्रयत्न किया है कि वे जिस मत के समर्थक हैं सूत्रकार का मन्तव्य भी वस्तुतः वही था। यहाँ उल्लेखनीय है कि जगत् के संबंध में प्रायः सभी आचार्य परिणामवाद के समर्थक हैं। अर्थात् सभी जगत् को ब्रह्म का परिणाम मानते हैं। वल्लभ ने अपने ब्रह्मसूत्र-भाष्य, जो कि अणुभाष्य कहलाता है, में शंकर के बाद किसी ने प्रस्तुत किये हुए विवर्तवाद का खंडन किया है। उनका मत है कि सूत्रकार प्रथम सूत्र 'अथातो ब्रह्म जिज्ञासा' में जिस ब्रह्म की जिज्ञासा करते हैं, उसी का लक्षण अगले सूत्र 'जन्माद्यस्य यतः' में बतलाते हैं। शंकर इसे कार्यलक्षण कहते हुए जगत् का निर्माता सगुण ब्रह्म को, जो मायाशबल है, बतलाते हैं, किन्तु यह गलत है। इसका मतलब हुआ कि माया के द्वारा ब्रह्म जो जगत् का कारण बनता है, वह अनादि है, किन्तु ऐसी स्थिति में तो ब्रह्म अद्वैत नहीं रह जायेगा।[1] इसके अतिरिक्त ब्रह्मसूत्र का 'आत्मकृते परिणामात्' (१-४-२६,२७) सूत्र भी जगत् को ब्रह्म की कृति इस तरह परिणाम बतलाता है, जो विवर्तवाद के विपक्ष में जाता है।

श्री तेलीवाला ने जगत् के संबंध में विचार करते हुए यह सिद्ध किया है कि ब्रह्मसूत्र में विवर्तवाद नहीं बल्कि परिणामवाद है, परिणामवाद में भी, अविकृत परिणामवाद है जो शुद्धाद्वैत-दर्शन की मान्यता है। श्री तेलीवाला के अनुसार ब्रह्मसूत्र के 'आत्मकृति' और 'आत्मपरिणामात्' सूत्रों में आदि 'आत्मन्' के स्थान पर 'ब्रह्म' शब्द का प्रयोग किया जाये तो जगत् 'ब्रह्मकृति' तथा 'ब्रह्मपरिणाम' सिद्ध होता है। वस्तुतः यह वही ब्रह्म है जिसकी सूत्रकार अपने प्रथमसूत्र में जिज्ञासा करते हैं।[2] तेलीवाला का मत है कि एकमात्र वल्लभ ही बादरायण के सही विचारों को प्रस्तुत कर सके हैं।[3]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ब्रह्मसूत्र के अतिरिक्त वल्लभाचार्य ने उपनिषद् और गीता के भी अनेक वाक्यों को जगत् के सत्यत्व की सिद्धि के हेतु स्थान-स्थान पर उद्धृत किया है। तत्त्वार्थदीप में आचार्य जो लिखते हैं कि 'उसने स्वयं को रचा' (तै. उप. २–७) "मैं उत्पन्न हो जाऊँ" (तै. उप. २–६) इत्यादि श्रुतिवाक्य, जो स्वतः प्रमाण हैं, निसंदिग्ध रूप से कार्यरूप जगत् के ब्रह्मत्व का प्रतिपादन करते हैं। श्रुति जिस प्रकार, 'सदेव सोम्य' (छांदो. उप. ६–२–१) इत्यादि वाक्यों द्वारा ब्रह्म के कारण होने का प्रतिपादन करती है, उसी तरह 'सत्यश्चानृतश्च' (तै. उप. २–६) आदि वाक्यों द्वारा ब्रह्म के कार्यत्व का भी प्रतिपादन करती है। इसी तरह गीता में भी 'असुर इसे माया समझते हैं' 'वे जगत् को असत्य, अप्रतिष्ठित तथा अनीश्वर कहते हैं' (गीता. १६–८) आदि वाक्य जगत् को मिथ्या मानने का बाध करते हैं, जबकि यहाँ जगत् के सत्यत्व को सिद्ध करने वाले 'वह भूत, भावी सब कुछ है', 'भगवान् हरि ही जगत् है' इत्यादि सहस्त्रों वाक्य उपलब्ध हैं।[४]

वल्लभ के वंशज प्रसिद्ध विद्वान् श्री गिरिधरजी भी लिखते हैं कि इस जगत् का कारण ब्रह्म है, इसकी पुष्टि व्यास के 'जन्माद्यस्य यतः' 'शास्त्रयोनित्वात' आदि सूत्रों से भी होती है, तथा 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते' इत्यादि श्रुतियों से भी ब्रह्म जगत् का कारण प्रतीत होता है।[५]

जगत् को ब्रह्म का कार्य या परिवर्तित रूप मानने पर सबसे बड़ी कठिनाई यह उपस्थित होती है, कि ऐसी स्थिति में ब्रह्म 'विरुद्धधर्माश्रय' है। श्रुतियों में उसे अनेक स्थानों पर अनेक विरोधी गुणों से युक्त बतलाया गया है, जैसे, वह पर-अपर, स्थिर-अस्थिर, कर्ता-अकर्ता दोनों कहा गया है। कहीं उसे सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वगुणसंपन्न तथा सृष्टिकर्तृत्वादि से संपन्न बतलाया गया है तो कहीं उसे समस्त विशेषणों, भेदों तथा गुणों से रहित, कार्यकारण से परे, शांत तथा निष्क्रिय बतलाया गया है। श्रुति उसे सर्वत्र नेत्र, सर्वत्र मुख, सर्वत्र भुजा, सर्वत्र पैर वाला कहती है तथा श्रुति ही उसे बिना हाथ पैर के ग्रहण करने वाला तथा दौड़ने वाला, बिना चक्षु के देखने वाला, बिना कानों के सुनने वाला भी कहती है। वल्लभ कहते हैं कि इनमें से कोई भी रूप भ्रामक नहीं है, दोनों बराबर सत्य है।[६] वस्तुतः परब्रह्म की यह विशेषता है कि उसमें परस्पर विरुद्ध धर्म साथ-साथ रहते हैं, 'सर्वविरुद्धधर्माश्रयो भगवान्'। आकाश जिस प्रकार ग्रीष्म, शीत, आदि अनेक विरोधी धर्मों का आश्रय है एवं जिस प्रकार शरीरस्थ अन्तःकरण, दया, जघन्यता आदि अनेक विरोधी गुणों से युक्त है, उसी प्रकार ईश्वर में विरुद्ध धर्म स्थित है।[७] इस तरह 'विरुद्धधर्माश्रयी' होने के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कारण ब्रह्म एक तथा अविकारी होते हुए भी जगत् और जीव के रूप में अनेकता को प्राप्त होता है।

ब्रह्म के अविकृत रहते हुए भी जगत्-रूप में परिणाम को प्राप्त होने के कारण वल्लभ का सिद्धान्त अविकृत परिणामवाद कहलाता है। वल्लभ-दर्शन में इसे अनेक उदाहरणों द्वारा समझाया गया है, जिसमें सोने का विभिन्न आभूषणों के रूप में परिणाम प्रसिद्ध उदाहरण है, जो भागवत में भी आया है।[८] दूध की दही आदि में परिणति 'विकृत परिणामवाद' का उदाहरण है, क्योंकि इस परिणाम में दूध विकृत हो जाता है, अब हम चाहे कि दही से फिर दूध बन जाये तो यह संभव नहीं है किन्तु स्वर्ण के विभिन्न आभूषण बनने पर स्वर्ण विकृत नहीं होता, इनसे हम चाहे तो पुनः स्वर्ण की प्राप्ति कर सकते हैं। वल्लभाचार्य कहते हैं कि स्वर्ण के समान अविकृत रहकर ब्रह्म जगत् आदि के रूप में परिणत होता है। इस प्रकार मूल-कारण के कार्यरूप में अविकृत रहने के कारण इसे अविकृत परिणामवाद कहते हैं।

शंकर ने इस संबंध में जिस विवर्तवाद की स्थापना की ऐसा माना जाता है उसकी वल्लभाचार्य एवं उनके अनुयायियों द्वारा अनेक प्रकार से आलोचना की गयी है। अणुभाष्य में आचार्य जी कहते हैं कि विवर्तवाद में माया की अनादि सत्ता मानी गयी है, किंतु ब्रह्म से अलग यदि हम किसी माया की अनादि सत्ता मानते हैं तो ब्रह्म अद्वैत नहीं रह जायेगा।

शंकर द्वारा विवर्तवाद की प्रस्तुति में रस्सी में सांप या सीप में चांदी के समान जगत् को 'ब्रह्म' में विवर्तित होने वाला बतलाया गया है। शुद्धाद्वैत दर्शन में इन उपमाओं को ही गलत बतलाया गया है। एक तो वहाँ ब्रह्म निराकार है, जबकि भ्रम के लिये साकार आश्रय की आवश्यकता होती है। दूसरे, समान धर्म वालों में ही भ्रम होता है। सीप में चांदी की भ्रांति का कारण उसकी चमक है, अर्थात् चांदी के समान चमक जब सीप में दिखाई देती है, तो उससे ऐसा भ्रम होता है कि वह चांदी है। यदि भ्रांति का कारण समान धर्म न हो तो सीप में हाथी का भ्रम क्यों नहीं होता? इसके अतिरिक्त शांकर-दर्शन जगत् को मायिक एवं गुणयुक्त कहता है किन्तु यह जिसमें भ्रमित हो रहा उसे मायारहित एवं निर्धर्मक कहता है। ऐसी स्थिति में समानता का लेश भी नहीं है। यहां एक और बात विचारणीय है कि भ्रम के लिये दिखने वाली वस्तु का पूर्व में कहीं और देखा जाना आवश्यक है, जैसे बाजार में चांदी और बिल आदि स्थानों में सर्प दिखाई देते हैं, इसी संस्कारों से बद्धि सीप में चांदी या रस्सी में सर्प की कल्पना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कर लेती है, इसी तरह प्रत्यक्ष दृश्यमान इस जगत् से पृथक् कोई सत्य जगत् देखा हो तो उसकी कल्पना इस जगत् के पीछे की जाये। किन्तु इस जगत् के अतिरिक्त कोई सत्य जगत् देखा ही नहीं, तब कैसे इसे असत्य माना जाये ?[९] शांकर-दर्शन में स्वप्न के दृष्टांत से भी जगत् को मिथ्या बतलाया गया है, किन्तु यह भी गलत है। स्वप्न में यदि कोई पाप या पुण्य करता है तो उसका फल जो सुख या दुःख है, वह स्वप्न-द्रष्टा को प्राप्त नहीं होता, जबकि जगत् में किये गये पाप और पुण्य का फल सुख और दुःख के रूप में जीव को प्राप्त होता है।[१०] इसके अतिरिक्त जागृत अवस्था में देखी और सुनी गयी जिन बातों का मनन होते रहता है, उन्हीं के संबंध में स्वप्न दिखता है। अतः स्वप्न का कारण असत् कहां है ? वह तो सत् ही है और यदि असत् से सत् की उत्पत्ति मानी जाय तो स्वप्न में किये गये भोजन से पेट भर जाना चाहिये। व्यास-सूत्र में भी जगत् और स्वप्न में वैधर्म्य बतलाया गया है, 'वैधर्म्याच्चस्वप्नादिवत्'। इस प्रकार वह जगत् असत्य नहीं वरन् भगवतरूप होने के कारण नित्य सत्य है।

जगत् को मिथ्या मानने से हानि – जगत् के मिथ्यात्व का विरोध वल्लभ केवल इस कारण नहीं करते है कि यह शास्त्र-विरोधी एवं अतर्कसंगत सिद्धांत है वरन् इस कारण भी कि यह एक हानिप्रद सिद्धांत है। तत्त्वार्थदीप में आचार्य ने कुछ हानियों का इस प्रकार उल्लेख किया है –

१. जगत् को मिथ्या मानने से भगवान् के माहात्म्य का निराकरण होता है। यदि जगत् मिथ्या सृष्टी है तो इससे सृष्टिकर्ता के सर्वेश्वर, सर्वकर्ता, सर्वकरण, माहात्म्य का निराकरण होता है। प्रपंच को सत्य न मानने पर भगवान् को उसका स्रष्टा, कर्ता, नियामक और ईश्वर न कहा जा सकेगा और इस प्रकार उनके माहात्म्य का निकाकरण होगा। अतः इस प्रकार के सिद्धान्त की उपेक्षा करनी चाहिये।

२. प्रपंच को मिथ्या मानने से तथा उसके ब्रह्मत्व का निषेध करने से कार्य और कारण दोनों तुच्छ हो जायेंगे। ऐसी स्थिति में संपूर्ण सन्मार्ग का नाश हो जायेगा।[१३]

३. जगत् को मिथ्या मानने पर मुक्ति की संभावना भी समाप्त हो जायेगी, क्योंकि तब वह स्वप्न में देखे गये हाथी के समान नष्ट हो जायेगी।[१४]

यहां प्रश्न उठता है कि इस तरह का नाशक सिद्धांत लोक में प्रचलित और समादृत क्यों है ? वल्लभाचार्य कहते हैं कि यह कलियुग की विशेषता है कि यहां उन्हीं शास्त्रों का आदर होता है जो मोहक और प्रतारक होते हैं।[१५]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जगत् और संसार में अंतर– इस प्रकार वल्लभाचार्य विभिन्न प्रकार से जगत् के मिथ्यात्व का खण्डन और जगत् के सत्यत्व का मण्डन करते हैं। किन्तु इस तथ्य को अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि पुराणों में जगत् को अनेक स्थानों पर मायिक कहा गया है। यहाँ वल्लभ का उत्तर है कि यहाँ पुराणों का उद्देश्य वस्तुतः श्रोता की प्रपंच से आसक्ति दूर कर वैराग्य उत्पन्न करना है।[१६] यहाँ उल्लेखनीय है कि वाल्लभ-दर्शन में जगत् ओर संसार में अन्तर किया गया है। जगत् अर्थात् प्रपंच ब्रह्मरूप होने के कारण ब्रह्मवत् सत्य है, जबकि संसार व्यक्तिनिष्ठ, भ्रामक, दुःखदायी तथा नाश होने योग्य है। वस्तुतः जब जगत् के वस्तुओं के प्रति 'मैं' और 'मेरे-पन' की भावना आती है, तो यही संसार कहलाता है। इसका कारण जीव की अविद्या एवं अज्ञान है। तत्त्वार्थदीपनिबन्ध में वल्लभाचार्य कहते हैं कि जीव का यह संसार उत्पन्न नहीं होता क्योंकि यह काल्पनिक है। इसकी गणना असत् रूप या मिथ्या पदार्थों में की गई है। तात्पर्य यह कि अज्ञान, भ्रम और असत् आदि शब्दों का प्रयोग शास्त्रों में अहन्तात्मक जीव के संसार के लिए ही हुआ है, प्रपंच के लिए नहीं, क्योंकि प्रपंच तो ब्रह्मात्मक है।[१७]

स्नातकोत्तर दर्शन विभाग,
शासकीय छत्तीसगढ़ महाविद्यालय,
रायपुर– ४९२ ००१

– शोभा निगम

टिप्पणियाँ

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के जम्मू-तवी अधिवेशन में पढ़ा गया लेख।

१. अणुभाष्य १।१।६

२. Telivala, M, T., *Discussion of how far Sankara charya Truely Represents the View of the Author of the Brahmastutra*, Bombay (1928), p. 61

३. उपरोक्त, पृ. ५९

४. तत्त्वार्थदीपनिबन्ध, पृ. २६४

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

५. शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, ६
६. निगम, लक्ष्मीशंकर एवं श्रीमती शोभा : श्रीमद्वल्लभाचार्य : उनका शुद्धाद्वैत एवं पुष्टिमार्ग, रायपुर (१९६०)
७. अणुभाष्य, ३।२।२७
८. भागवत पुराण, ११।२८।९
९. वेदान्त चिन्तामणि, चतुर्थ प्रकरण, २४–२५
१०. तत्रैव, २७
११. शुद्धाद्वैतमार्तण्ड, २२ पर रामकृष्ण भट्ट की प्रकाशाख्य व्याख्या
१२. तत्त्वार्थदीप निबन्ध, पृ. २६६
१३. तत्रैव, पृ. २७०
१४. उपरोक्त
१५. उपरोक्त, पृ. २८६
१६. तत्त्वार्थदीप निबन्ध पृ. ३०४
१७ तत्रैव, पृ. ६९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दर्शन में निश्चितता की खोज

दार्शनिक चिन्तन की धारा अबाध गति से प्रवाहित होती रहती है। किसी युग विशेष में दर्शन का कोई रूप जनप्रिय होता है, तो दूसरे समय में उस रूप की अपेक्षा कोई अन्य रूप प्रचलित होता है। मानव सभ्यता के प्रारम्भ से यह क्रम निरन्तर लगा है। अपने चिन्तन में पूर्ण संगति अथवा संज्ञानात्मक निश्चितता लाने की प्रवृत्ति ने ही दर्शन को विभिन्न रूप प्रदान किये। किन्तु इस प्रवाहमान चिन्तन की प्रक्रिया में स्थिरता ढूंढने की प्रवृत्ति भी मानव-सुलभ रही है। जिस रूप में दर्शन का आरम्भ हुआ था, वह मनुष्य के बुद्धि के विकास का प्रथम चरण था। प्रकृति की विभिन्न शक्तियों में अपनी भावनाओं को आरोपित कर समाधान ढूंढने की प्रवृत्ति से दार्शनिक चिन्तन अनुप्राणित था, मूलभूत तत्त्वों की परिकल्पना के आधार पर सम्पूर्ण जगत् को जानने की प्रवृत्ति से संचालित था। यही इनका तत्त्वदर्शन था। समय के प्रवाह में दर्शन विभिन्न चरणों से गुजरता हुआ आज एक भिन्न मोड़ पर आ गया है, लेकिन प्रयास सदैव स्थिरता, असंदिग्धता अथवा पूर्व संगति ढूंढने का रहा है। क्या दर्शन में पूर्ण निश्चितता अथवा पूर्ण संगति संभव है ? प्रस्तुत निबंध में दर्शन के ऐतिहासिक अध्ययन की पृष्ठभूमि में हमने दर्शन में निश्चितता तथा निर्णायकता के अभाव को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। यहाँ हमने स्पष्ट करने का प्रयास किया है कि दार्शनिक जिज्ञासा की पूर्ण संतुष्टि कभी भी संभव नहीं है, क्योंकि वास्तव में दार्शनिक खोज ही आदर्श की प्राप्ति है और आदर्श प्राप्त करने की चीज नहीं है। यहाँ हमने माना है कि दर्शन की स्थिति सदैव एक मार्ग-दर्शन की होगी।

१–यूनानी एवं मध्ययुगी दार्शनिक चिन्तन

१–१–सुकरात के पूर्व दार्शनिक गवेषणा

थेलिज, अनॅक्सिमेण्डर से लेकर डेमॉक्रीटस तक सुकरात पूर्व दार्शनिक गवेषणा को अब तत्त्व-चिन्तन का एक सुन्दर प्रयास कहा जा सकता है। लेकिन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसमें दार्शनिक संगति नहीं है। सुन्दर निरूपण के बावजूद इनके तत्त्व के ज्ञान के संबंध में निश्चयात्मक तथा असंदिग्धता का दावा नहीं किया जा सकता है। आरम्भिक ग्रीक दार्शनिक चाहे वह थेलीज हो अथवा पार्मेनाइडीज, वास्तव में सभी हठवादी थे। मानवीय बुद्धि के विषय में इनका इतना अटूट विश्वास था कि इन लोगों ने समझा कि कोरी बुद्धि की सहायता से वे प्रकृति के गहन तथा महान् से महान् रहस्यों को सुलझा सकते हैं। लेकिन इसका परिणाम क्या निकला ? यदि मानवीय बुद्धि इतनी सक्षम है कि वह प्रकृति के रहस्यों का पता निश्चित तथा असंदिग्ध रूप से दे सकती है, तो इन प्रकृतिवादी दार्शनिकों में इतना मत-वैभिन्य का कारण क्या है ? आखिर क्यों यह परम तत्त्व थेलीज को जल रूप में ज्ञात हुआ, एनाक्जिमेनीज को वायु और हेराक्लीटस को अग्नि रूप में ! हेराक्ली-टस के लिये गति तथा प्रवाह यथार्थ था, पार्मेनाइडीज लिये असंभव ! एनाक्जा-गोरस दो कदम और आगे बढ़कर मान बैठते हैं कि परम तत्त्व समस्त संसार के बीज रूप में व्याप्त भौतिक द्रव्य है, जिनकी संख्या अनन्त है, किन्तु एम्पीडोक्लीस ने इन्हें अग्नि जल, वायु, और पृथ्वी इन चार तत्त्वों में ही सीमित बना कर रख दिया। आरम्भिक ग्रीक दार्शनिकों के विभिन्न निष्कर्षों ने मानवीय बुद्धि की सक्षमता में अविश्वास उत्पन्न कर दिया।

यहाँ मूल बात यह थी कि प्रकृतिवादी दार्शनिकों ने अपने सामान्य सिद्धान्तों के नियमन तथा व्याख्यान के लिये, इन्द्रिय-प्रत्यक्ष की अपेक्षा परिकल्पनात्मक प्रणाली (स्पेकुलेटीव मेथड) का विशेष उपयोग किया था। इन विचारकों ने निगमनात्मक तर्क के आधार पर अपने निष्कर्षों का प्रतिपादन किया था, क्योंकि उनका ऐसा विश्वास था कि विशुद्ध बुद्धि द्वारा स्थापित सामान्य सिद्धान्तों के आधार पर विभिन्न तत्त्वों के विषय में निष्कर्ष निकाले जा सकते हैं। लेकिन वास्तविकता के धरातल पर इन निष्कर्षों में विशेष स्थायीत्व नहीं पाया गया। इस प्रकार यह कहा जा सकता है कि प्राचीन ग्रीक दार्शनिक की बुद्धि विषयक साहसी उमंग क्रमशः बुद्धि की समर्थता में अविश्वास के रूप में परिणत हो गयी।

यही कारण है कि सोफिस्ट विचारकों ने इस तथ्य का प्रतिपादन किया था कि तत्त्व-गवेषणा सम्बन्धी दार्शनिक निष्कर्ष निश्चित तथा असंदिग्ध नहीं हो सकते। ऐसा कहने के लिये उनके पास पर्याप्त आधार था, क्योंकि वास्तव में अभी तक लोगों की दृष्टि बाह्य जगत् की ओर थी, और बाह्य सत्ता को सर्व-प्रथम प्रत्यक्ष के द्वारा ही जाना जा सकता है, और इसलिये इन दार्शनिकों ने बुद्धि के समस्त प्रत्ययों की अपेक्षा अनुभव के द्वारा, प्रत्यक्ष के द्वारा ज्ञान की व्याख्या करनी चाही। लेकिन ऐसी स्थिति में दार्शनिक ज्ञान में निश्चयात्मकता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं आ पाती है क्योंकि प्रत्यक्ष-प्रदत ज्ञान परिवर्तनशील, सापेक्ष तथा अनिश्चित होता है। वास्तव में जब इन्द्रिय द्वारा प्राप्त किया गया ज्ञान कुल मिलाकर प्रतिदिन के जीवन में सफल होता है, तब शीघ्र ही यह अनुभव होता है कि उस पर बहुत अधिक भरोसा नहीं किया जा सकता है। प्रेक्षण में भी भ्रम तथा सन्देह की संभावना बनी रहती है। अतः प्रत्यक्ष से प्राप्त ज्ञान में पूरी निश्चितता का दावा नहीं किया जा सकता। फिर अतिसूक्ष्म तथा अति विशाल वस्तुओं का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। विश्व-पूर्णत्व (वर्ल्ड अॅज ए व्होल) कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे किसी प्रत्यक्ष के अन्तर्गत रखा जा सकता है। निष्कर्ष रूप में यहाँ भी यही मत ठहरता है कि परमतत्त्व अथवा विश्वपूर्णत्व का निश्चित तथा असंदिग्ध ज्ञान नहीं हो सकता।

१–२ अन्तर्ज्ञान पर बल

सुकरात ने दार्शनिक चिन्तन की एक पृथक् प्रणाली को विकसित किया। उन्होंने दार्शनिक ज्ञान के अन्तर्गत, यथार्थ सत्ता से घनिष्ट परिचय प्राप्त करने और उसके निकट रहने की आवश्यकता पर बल दिया। यह परिचय इन्द्रिय तथा बुद्धि के माध्यम से नहीं हो सकती है। अतः बुद्धि और इन्द्रिय-प्रत्यक्ष से भी ऊपर चेतना का एक स्तर होना आवश्यक है, जिसमें उच्चतम सत्य उसी तरह प्रकट हो जिस तरह विचार में संप्रत्यय तथा ऐन्द्रियिक ज्ञान में रंगों की अभिव्यक्ति होती है। सुकराती गवेषणा को यह मान्य था कि विश्व की एकता और व्यवस्थित जीवन का एक ऐसा सुदृढ निश्चयात्मक ज्ञान है, जो कोरे तार्किक ज्ञान से परे है। दार्शनिक ज्ञान की निश्चयात्मकता में सुकरात को पूरा विश्वास था लेकिन साथ ही उन्हें यह भी पता था कि बाह्य प्रकृति सम्बन्धी कथन निश्चित रूप से प्रतिस्थापित नहीं किये जा सकते। यही कारण है कि इन्होंने आत्मा के ज्ञान पर बल दिया तथा अपने दर्शन का कुंजी पद आत्मानं विद्धि को बनाया। सुकरात के लिये मानव का सार-तत्त्व उसके नैतिक स्वरूप पर निर्भर करता है। अतः नैतिक कथन के सन्दर्भ में ही ज्ञान संभव हो सकता है। सुकराती गवेषणा 'सत्कर्म ही ज्ञान है' कोई बौद्धिक ज्ञान की तरफ संकेत नहीं करता, जिसे दूसरों को दिखाया जा सके। यह तो सुकरात के लिये ऐसा ज्ञान है, जिसका निर्झर मनुष्य की सत्ता के अधिक गहरे स्तर से निसृत होता है। यह ज्ञान मानवीय मन को उदात्त बनाकर, उसकी चेतना को प्रबुद्ध बनाकर प्राप्त किया जा सकता है और इसलिए सुकरात ने ज्ञान को प्रत्यय से हटा कर संप्रत्यय पर निर्भर कर दिया। किसी भी वस्तु का उसके संप्रत्यों अथवा परिभाषा का ज्ञान है। ज्ञान के लिये इनके अनुसार हमें नैतिक अभिकथनों के विषय में तर्कसंगत संप्रत्ययों को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ढूंढ़ना होगा। सुकरात का सारा जीवन ही न्याय, धर्म, ज्ञान इत्यादि संप्रत्ययों की परिभाषाओं को स्थिर करने में बीता, क्योंकि यदि इनकी परिभाषाओं को जान लिया गया, तो हमें इन संप्रत्ययों का भी ज्ञान हो जाता है।

लेकिन क्या सुकरात सफल रहे? सुकरात के प्रयास तो बहुत हुए, लेकिन किसी भी नैतिक प्रत्यय की सही परिभाषा नहीं हो सकी है। दार्शनिक ज्ञान में अपनी असफलता के कारण ही सुकरात को मानना पड़ा था कि मुझे अभी तक ज्ञान नहीं मिल पाया है अभी तक मैं प्रज्ञा की प्राप्त नहीं कर पाया हूँ, लेकिन मैं इसकी खोज में हूँ।

प्लेटो के लिये भी दर्शन 'सत्' प्रत्यय की गवेषणा है। अतः प्लेटो के अनुसार प्रत्ययगत वस्तुओं के गुण-धर्मों को हम दर्शन की क्रिया के द्वारा देखते हैं, और इस प्रकार वास्तविकता का ज्ञान प्राप्त करते हैं, जो कि अन्तर्ज्ञान की देन है। प्रेक्षण का परिणाम, उनके अनुसार पूर्णतः निश्चित नहीं हो सकता, बल्कि उन्हें अधिक संभाव्य और सभी प्रयोजनों के लिये अधिक विश्वसनीय माना जाता है। लेकिन संभावनाओं से निकाली गयी दलीलें पाखण्डपूर्ण हैं। फीडो-सुकरात संवाद में सुकरात के शिष्य से हमें यही सीख मिलती है। ज्ञान में निश्चयात्मकता की चाह ने प्लेटो को गणित का आदर्श मानने को प्रेरित किया। गणित ज्ञान का आदर्श है जिसके आधार पर वह मॉडेल उपलब्ध होता है जिसके सहारे दार्शनिक ज्ञान को 'रूप' दिया जाता है, जो कि निश्चित तथा असंदिग्ध होता है। यह ज्ञान प्रेक्षण की नहीं, बल्कि अन्तर्ज्ञान या प्लेटो के प्रज्ञा की देन है।[२]

लेकिन क्या प्लेटो संगत हैं? प्लेटो दर्शन के अन्तर्गत निश्चित, असंदिग्ध, यथार्थ तथा तथ्यात्मक ज्ञान की बात करते हैं। उन्होंने तथ्यात्मक ज्ञान को गणितीय ज्ञान से भिन्न स्वीकार नहीं किया, शायद उनकी दृष्टि में प्रत्यय गणितीय सत्य की कल्पना को उसी अर्थ में संभव बनाता है, जिस अर्थ में एक वृक्ष का अस्तित्व दूसरे वृक्ष की कल्पना को। गणितीय ज्ञान के आदर्श पर परम सत्ता के तथ्यात्मक ज्ञान की बात की गयी है, जबकि वास्तव में परमसत्ता सम्बन्धी गवेषणा गणितीय ज्ञान से सर्वथा भिन्न है। गणितीय कथन पारिभाषिक शब्दों के संगत व्यवहार से उत्पन्न होते हैं, इसलिये गणित के अन्दर शब्दों का, गणित के नियमों के अनुसार खेल है, लेकिन शब्दों के अनुरूप तथ्य है या नहीं, यह गणितीय ज्ञान का विषय नहीं है। तथ्यात्मक ज्ञान की स्थिति इसके विपरीत की है, तथ्यात्मक ज्ञान के अन्तर्गत वस्तुस्थिति के संबंध में सूचना दी जाती है। तथ्यात्मक अनुभूति से तात्पर्य आवृत्तियं, सार्वजनिक तथा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संज्ञापनीय अनुभव से लगाया जाता है।[३] क्या अन्तःप्रज्ञा इस प्रकार के तथ्यात्मक ज्ञान की व्याख्या कर सकती है, जबकि अन्तःप्रज्ञा न आवृत्तिय है, न सार्वजनिक और न संज्ञापनीय ही। अंतःप्रज्ञा के आधार पर विश्व पूर्णत्व अथवा तत्त्व का निश्चित, अनिवार्य, असंदिग्ध ज्ञान की उपलब्धि मानना भूल होगी। प्लेटो को स्पष्ट करना चाहिये था कि यदि परमतत्त्व (प्रत्यय) संज्ञानात्मक है, तो इसे जाना कैसे जाता है? गणितीय अनिवार्यता को परमसत् के साथ लागू नहीं किया जा सकता, क्योंकि प्लेटो यह कभी भी स्वीकार नहीं करेंगे कि प्रत्यय की वास्तविकता नहीं है, यह केवल शब्दों का खेल है; और फिर इसे प्रत्यक्ष का वास्तविक विषय भी नहीं माना जा सकता है, क्योंकि तब असंदिग्धता की बात नहीं की जा सकेगी। दार्शनिक विवेचन को संज्ञानात्मक मानने के मूल में प्लेटो की यह भ्रान्ति थी कि उन्होंने भ्रामक रूप में गणितीय कथनों के आधार पर तत्त्व के संबंध में अन्तः-प्रज्ञात्मक निश्चित ज्ञान स्वीकार कर लिया।

अरस्तू की मीमांसा में दर्शन वह ज्ञान है, जिसमें सभी वस्तुओं के नित्य-मूलभूत तत्त्वों का स्वलक्ष्य अध्ययन होता है, इस रूप में यह 'सत् के विज्ञान' (साइंस ऑफ बीग) की उपमा से बोधित हुआ है।[४] इस ज्ञान की निश्चितता को स्पष्ट करने के सन्दर्भ में अरस्तू पहले दार्शनिक रहे हैं, जिन्होंने यथार्थ चिन्तन की प्रक्रिया को अनुमानात्मक (सिलॉजिस्टिक) बतलाया, जहाँ कुछ आधारवाक्यों से कोई नवीन निगमन घटित किया जाता है। यह आधार-वाक्य स्वतः सिद्ध है, जो न तो सिद्ध किये जा सकते हैं, और न जिसको सिद्ध करने की आवश्यकता है। ये तो मौलिक सत्य हैं, जो अन्तःप्रज्ञा (विस्डम) के द्वारा जाने जाते हैं। दर्शन अन्तःप्रज्ञा का विज्ञान है।[५]

ज्ञान में निश्चितता लाने के उद्देश्य से अरस्तू इन्द्रियानुभव की पूर्ण अव-हेलना नहीं करते, क्योंकि फॉर्म को तो इन्होंने वस्तुओं में अन्तर्भावित स्वीकार किया है, ऐसी स्थिति में जब तक वस्तुओं का प्रेक्षण नहीं हो जाता, वस्तुओं में अन्तर्भावित फॉर्म का ज्ञान संभव ही नहीं हो पाता है। लेकिन अनुभव ज्ञान उत्पन्न नहीं करता, यह ज्ञान का केवल निर्देश अथवा संकेत करता है। ज्ञान तो अरस्तू के अनुसार हमारी आत्मा का स्वभाव है, यह कहीं बाहर से नहीं आता, हाँ, इसे विकसित करने के लिये इन्द्रियानुभव की आवश्यकता पड़ती है। इन्द्रियानुभव के बाद हमारी बुद्धि सामान्य और सार्वभौमिक सिद्धान्त का आगमन द्वारा अनुसंधान कर लेती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लेकिन क्या वास्तव में अरस्तू द्वारा निश्चयात्मकता तथा असंदिग्धता की उपलब्धि की जा सकी ? आगमन जैसी नयी विधि की स्थापना के बावजूद वास्तव में अरस्तू की मीमांसा को प्लेटो की मीमांसा से न्यूनाधिक ही भिन्न माना जायगा। अन्तःप्रज्ञा को यहाँ भी मूल में रखा गया है। सामान्य सिद्धान्त अथवा फॉर्म, जो दार्शनिक व्याख्या का केन्द्र रहा है, का ज्ञान अरस्तू द्वारा भी प्रज्ञा के आधार पर संभव माना गया है, तथा ज्ञान की यथार्थता प्रस्तुत की गयी है। प्लेटो की तुलना में निश्चयात्मकता लाने के उद्देश्य से, अरस्तू में इन्द्रियानुभव पर विशेष बल दिया गया है, लेकिन प्रज्ञा की तुलना में इसका स्थान गौण है और प्लेटो के सन्दर्भ में यह स्पष्ट हो चुका है कि प्रज्ञा के आधार पर न तो कोई तथ्यात्मक ज्ञान संभव है, और न इसके आधार पर अतिवैयक्तिक वस्तुनिष्ठता की स्थापना ही हो सकती है। अतः ज्ञान के धरातल पर अन्तर्ज्ञान न किसी क्षेत्र का तथ्यात्मक ज्ञान दे सकने में सक्षम है, और न मनोवैज्ञानिक रूप से असंदिग्ध तथा तार्किक प से अनिवार्य ज्ञान प्रदान कर सकने में ही।

निश्चयात्मकता की खोज में प्राप्त इस अनिश्चितता का ही यह परिणाम निकला कि दार्शनिक सन्देहवाद को प्रश्रय प्राप्त हुआ। पीरो यह कहने के लिये बाध्य हो गये कि न तो निर्विकल्प अनुभूति, न सविकल्प अनुभूति और न इन्द्रियानुभव ही निश्चित और असंदिग्ध ज्ञान दे सकता है।[६] पीरो की इस परम्परा को कारनेडीज तथा सेक्स्टस् एम्पिरीकस ने विकसित किया। सन्देहवादी परम्परा की मान्यता में कोई भी असंदिग्ध ज्ञान प्राप्त नहीं किया जा सकता।

१-३ आस्था एवं रहस्यानुभूति पर बल :

सन्देहवादी प्रवृत्ति ने दर्शन को एक भिन्न मोड़ दिया है। स्पष्ट हो चुका है कि तर्कबुद्धि ज्ञान में निश्चितता लाने में असमर्थ रही है, इन्द्रियानुभव असंदिग्धता की व्याख्या नहीं कर पाया है, साथ ही मानव-आत्मा सन्देहवाद से सन्तुष्ट नहीं रह पायी। अब आस्था (फेंथ) के आधार पर निश्चयात्मकता तथा स्थिरता ढूंढ़ने का प्रयास किया गया। प्लॉटिनस एवं नव-प्लॉटिनस में रहस्यवाद के आधार पर परम सत्ता के साथ तादात्म्य स्थापित कर जीवन में स्थिरता ढूंढ़ने का प्रयास किया गया। प्लॉटिनस यह स्वीकार करते हैं कि तत्त्व-साक्षात्कार की अवस्था ही अन्तिम तथा उत्कृष्ट है, जिसे प्राप्त करना प्रत्येक जीव के लिये अनिवार्य है, और यह अवस्था है आत्मविभोर की अवस्था है। इस अवस्था की प्राप्ति पर मानवीय जीवन में स्थिरता आती है, क्योंकि तब जीवात्माओं का क्रियाओं तथा विचारों से सम्बन्ध बिल्कुल ही टूट जाता है, और वह ईश्वर में सदा के लिये तल्लीन हो हो जाता है -- और यही वास्तव में चरम उद्देश्य भी है। बर्गसां ने भी आगे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चलकर इसी बात की पुष्टि की है।[७] अतः वे रहस्यवादी आस्था के आधार पर असंदिग्धता की बात करते हैं। उन्हें वास्तविकता (रियालिटी) के विषय में तनिक भी शंका नहीं है, क्योंकि जैसा कि रुफुस जोन्स ने कहा है रहस्यवादी ईश्वर के समक्ष पहुँचकर अपने को ज्ञाता और ईश्वर को ज्ञेय के रूप में पाता है। ईश्वर की भक्त से निजी स्वतंत्र सत्ता है। इसमें भक्त को तनिक भी सन्देह नहीं रहता कि सत्ता भक्त को असंदिग्ध तथा अशोच्य मालूम पड़ती है।[८]

लेकिन क्या रहस्यानुभूति से निश्चयात्मकता तथा असंदिग्धता प्राप्त की जा सकती है? वस्तुतः कोई भी अनुभूति कितनी ही स्वतः प्रमाणित अथवा अशोच्य क्यों न प्रतीत हो, लेकिन जब तक इसे संज्ञान की कसौटी पर नहीं परखा जाए, तबतक इसे 'ज्ञान' की संज्ञा नहीं दी जा सकती। यही बात रहस्यवाद के साथ भी लागू होती है। ज्ञान का अनिवार्य लक्षण है कि उसका आवृत्तिय, सार्वजनिक तथा संज्ञापनीय होना। रहस्यवादी अनुभूति पूर्णतः आत्मनिष्ठ है, और इस कारण मनोवैज्ञानिक निश्चितता से तार्किक विश्वसनीयता स्थिर नहीं की जा सकती। यह ठीक है कि परम सत्ता से साक्षात्कार हो जाने पर ये रहस्यवादी प्रकाश से चकाचौंध हो जाते हैं, लेकिन जहाँ तक ज्ञान का संबंध है, जहाँ तक देखने वालों को बतलाना है कि वह क्या देखता है, वहाँ तक अंधकार में रहना और चकाचौंध हो जाना दोनों एक ही बात है। निश्चितता तथा असंदिग्धता की स्थापना में इन विचारकों द्वारा अपनी अनुभूति को स्व-प्रमाणित की मान्यता दी गयी है, लेकिन स्व-प्रमाणित अनुभूति संज्ञानात्मक है यह स्वीकार्य नहीं है। वास्तव में रहस्यवादी जिस रहस्यानुभूति की बात करते हैं, वह भाव-बोझिल होती है, न कि प्रत्ययात्मक। ऑटो ने स्पष्ट शब्दों में कहा है — 'ईश-मानित अनुभूति को बुद्धि तथा युक्ति द्वारा व्यक्त ही नहीं किया जा सकता। क्योंकि यदि हम बुद्धि के आधार पर इस अनुभूति का विश्लेषण करें, तो उसका तत्त्व ही नष्ट हो जाता है।'[९] लेकिन यदि ईश-मानित अनुभूति अयौक्तिक है, और प्रत्ययों के द्वारा समझी नहीं जा सकती, तो ऐसी स्थिति में ईश-मानित ईश्वर अथवा परम सत्ता की वास्तविकता तथा असंदिग्धता भी सिद्ध नहीं की जा सकती। किसी भी सत्ता की अतिवैयक्तिकता उसी समय सिद्ध की जा सकती है, जब हम आवृत्त्य अनुभूति को प्रत्ययों के आधार पर व्यक्त करें; उपर्युक्त अनुभूति आवृत्तिय नहीं है। क्या रहस्यानुभूति को रहस्यवादी जब चाहे तब उसका आह्वान कर सकता है? नहीं; फिर यह अनुभूति सार्वजनिक भी नहीं है। रहस्यानुभूति एक रूप नहीं होती। विल्यम् जेम्स द्वारा इस तथ्य पर यथेष्ट प्रकाश डाला गया है।[१०]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१-४ सहज भक्ति पर बल :

रहस्यानुभूति की जटिलता ने ही चिन्तन में सहज-भक्ति के लिये मार्ग प्रशस्त किया है। सहज-भक्ति के आधार पर स्थिरता प्राप्त करने का सन्देश दिया गया, जो ईसाई धर्म की दार्शनिक देन है। यहाँ अरस्तू तथा प्लेटो के चिन्तन में जो कुछ देखा गया, उसे धार्मिक चिन्तन का अंग बना लिया गया। यह ठीक है कि ईसाई धर्म ने लोगों को उत्प्रेरणा प्रदान की, उनके जीवन में शान्ति एवं स्थिरता लायी, लेकिन भाव-भक्ति तथा आस्था से तर्क-बुद्धि को पूर्णतः पृथक् नहीं रखा जा सकता। धर्म-दार्शनिकों के आपसी भेद-भाव तर्क-वितर्क के कारण अन्ततः तर्कबुद्धि को विशेष स्थान देना पड़ा, तथा कालान्तर में उनसे यह उद्घोषित किया गया कि ईश्वर में आस्था तो होनी ही चाहिये, मगर इसके साथ ही उसे विवेकपूर्ण भी होना चाहिये। संत अन्सेल्म ने स्पष्टतः कहा है कि जब तर्क-बुद्धि के आधार पर हमारी आस्था का विषय स्पष्ट हो जाता है, तब हमारी आस्था अटूट एवं दृढ होती है।[११]

लेकिन आस्था को स्पष्ट करने के लिये तर्कबुद्धि का ज्यों ही आश्रय लिया गया, त्यों ही यह स्पष्ट दृष्टिगत होने लग गया कि ईसाई धर्म-दर्शन के तीन कुंजी पदों– ईश्वर, बाइबिल तथा चर्च– के बीच संतुलन नहीं निभाया जा सकता।

विवेक के धरातल पर इस प्रकार की आस्था में निश्चयात्मकता नहीं आ सकती। यही कारण है कि पुनः विवेक को प्राथमिकता दी जाने लगी, और यह मान्यता विकसित हुई कि तर्क-बुद्धि ही वह अन्तिम कसौटी है जो ईश्वर के विश्वास-वचन को स्थिर कर सकती है। ईश्वर-दर्शन ने समय के पूरा हो जाने पर तर्क-बुद्धि के लिये एक रंग-मंच तैयार कर दिया और आधुनिक दर्शन में इसे प्रधानता दी जाने लगी। अब लोग इस बात को स्वीकारने लगे कि तथ्यों का स्थिरीकरण ही सभी धर्मों के लिये सर्वव्यापक तथा सर्वमान्य प्रमाण है। लेकिन तथ्यों की स्थापना के लिये ऐसी विधि को स्थापित करना आवश्यक हो गया, जिसे सभी निर्विवाद तथा निर्भ्रांत मान लें।

२–आधुनिक दर्शन में निश्चितता प्राप्ति की समस्या

२-१ बुद्धिवादी प्रतिपादन :

दर्शन में एक नयी विधि के प्रयोग की बात को देकार्त ने बहुत विशिष्टता के साथ सम्पन्न किया है। देकार्त के सम्बन्ध में माना जाता है कि दर्शन की अनिश्चितता तथा संदिग्धता ने उनको बहुत ही ज्यादा पीड़ित किया।[१२]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निश्चयात्मकता ढूंढ़ने के क्रम में यह सुनिश्चितता उन्हें गणित में प्राप्त हुई। गणित की व्यवस्था से ही उन्होंने इस बात को निगमित किया कि यथार्थ ज्ञान को निश्चित, असंदिग्ध तथा सार्वभौम स्वरूप का होना चाहिये। देकार्त ने अकाट्य ज्ञान प्राप्त करने के लिये बतलाया कि सहज-प्रत्ययों को स्पष्ट तथा परिस्पष्ट होना चाहिये। इसके आधार पर इन्होंने एक रहस्यवादी ईश्वर के ज्ञान की बात की, तथा बतलाया कि इसका संबंध-अन्तर्ज्ञानात्मक सुनिश्चितता के उस क्षेत्र से है, जिससे गणित के मूल स्वतः-सिद्ध सिद्धान्तों का उदय होता है। इन प्रत्ययों की सत्यता इसमें है कि ये स्पष्ट रूप से समझ में आते हैं। यह ज्ञान अन्तर्ज्ञान की देन है, जो हमें अनावृत्त तथा एकाग्र मन से इतने स्पष्ट तथा विविक्त रूप में प्राप्त होता है कि हम उसके संबंध में समस्त सन्देहों से मुक्त हो जाते हैं। इन्होंने 'कॉजिटो अर्गो सुम्' को स्वयंसिद्ध रूप देकर सत्यता की कसौटी के रूप में स्वीकार किया, इस सत्यता की कसौटी पर ईश्वर की कल्पना की, और ईश्वर की सत्यवादिता से बाह्य जगत् की स्थापना कर अपने दर्शन की इमारत खड़ी की। गणितीय नियम के आधार पर यहाँ स्पष्टता-परिस्पष्टता की कसौटी को स्वयं-सिद्ध माना गया है। ईश्वर की सत्यवादिता को प्रमेय कहा जा सकता है, तथा बाह्य जगत् की सत्यता को इसका उपप्रमेय कहा जा सकता है। इस प्रकार के ज्ञान के आधार पर इन्होंने निश्चयात्मकता का दावा किया है।[13] और यहीं से इनका इन्द्रजालीय सिद्धान्त चल पड़ा। वास्तव में इस प्रकार का अनुमान तो एक तार्किक चालाकी है। शंका से निश्चय की ओर बढ़ने वाला कदम, जो देकार्त के अनुमान में उठाया गया है, हाथ की सफाई से मिलता-जुलता है– शंका से ही शंका को अहं की एक क्रिया मानकर वे आगे बढ़ते हैं, और इस प्रकार विश्वास करते हैं कि उन्होंने कोई सत्य पालिया है, जो निश्चित तथा असंदिग्ध है, और जिसके विषय में शंका नहीं की जा सकती।

लेकिन अहं की अवधारणा का स्वरूप उतना आसान नहीं है, जैसाकि देकार्त मानते थे। हम लोग अपने आपको उस रूप में नहीं देखते, जिस प्रकार अपने आस-पास या घर के लोगों को देखते हैं। हम अपने विचार की अथवा शंका की क्रियाओं के पर्यवेक्षण की बात कर सकते हैं; कम-से-कम अहं की उपज तो उन्हें नहीं माना जा सकता है, ये तो स्वतंत्र पदार्थ हैं, जैसे अनुभूति में संलग्न आकृतियाँ। जब हम कहते हैं कि 'मैं सोचता हूँ' तो यह बात इस अर्थ में तत्काल इस रूप में अनुभव से आगे की बात हो जाती है कि इस वाक्य में 'मैं' का प्रयोग किया गया है। 'मैं सोचता हूँ' यह वाक्य किसी प्रेक्षणात्मक सामग्री का प्रतिनिधित्व नहीं करता, बल्कि विचारों की उस लम्बी शृंखला का प्रतिनिधित्व करता है, जो किसी अहं के अस्तित्व को दूसरे लोगों के अहं से स्पष्ट रूप से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पृथक् करती है। देकार्त को कहना चाहिये था कि 'विचार का अस्तित्व है'। इस प्रकार विचार के अन्तर्गत जो बातें आती हैं, उनकी असंपृक्त घटना के स्वरूप और अहं को समाविष्ट करने वाले अध्यवसाय अथवा अन्य प्रवृत्तियों की क्रियाओं से स्वतंत्र उनके उद्भव की तरफ संकेत होता। लेकिन इसके बाद देकार्त के अनुमान को आगे नहीं ले जाया जा सका। यदि तात्कालिक तत्परता के कारण अहं का अस्तित्व आवश्यक नहीं समझा गया, तो उसके अस्तित्व का दूसरे ऐसे विषयों के मुकाबले में अधिक निश्चयपूर्वक समर्थन नहीं किया जा सकता, जिनकी उत्पत्ति प्रेक्षणात्मक सामग्री में समुचित योगदान के द्वारा होती है।

वस्तुतः निश्चयात्मकता की स्थापना के हेतु देकार्त अपने जिस दलील को जारी रखते हैं, वह ज्ञान में निश्चयात्मकता की स्थापना नहीं कर पाती है। पहले तो वे अनुमान करते हैं कि चूंकि अहं का अस्तित्व है, ईश्वर का अस्तित्व भी होना चाहिये (I exist, Therefore God exists),[१४] नहीं तो अहं को अनन्त सत् की कल्पना हो ही नहीं सकती थी। इस प्रकार वे आगे अनुमान करते हैं कि हमारे चारों तरफ की वस्तुओं का भी अस्तित्व होना ही चाहिये, अन्यथा इस प्रकार का ईश्वर पाखंडी सिद्ध होगा।[१५] यह तर्क धार्मिक दर्शन से सम्बन्ध रखता है, और जब देकार्त जैसे प्रमुख गणितज्ञ द्वारा इसे उपस्थित किया जाता है; तो यह बात बहुत विचित्र प्रतीत होती है। यह कैसे सम्भव हुआ कि निश्चितता तथा असंदिग्धता की प्राप्ति के तर्क से सम्बन्ध रखने वाले मामले को ऐसी दलीलों से हल करने की चेष्टा की गयी, जिनमें चतुराई अथवा चालाकी और धर्म-दर्शन दोनों सम्मिलित हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि निश्चितता की खोज ने इस विलक्षण गणितज्ञ को एक उलझन-पूर्ण तर्क में बहा दिया।

यथार्थ में, दर्शन के ज्ञान के सम्बन्ध में बुद्धिवादी परम्परा में निश्चित, असंदिग्ध तथा तथ्यात्मक ज्ञान की बात करना एक भूल का परिचायक प्रतीत होता है। निश्चयात्मकता की प्राप्ति में प्रदत्त बुद्धिवादी प्रणाली से दर्शन अपनी समस्त समृद्धि, गमनीयता और मूर्तता खोकर कठोर, अमूर्त और गतिहीन हो गया। यहाँ दोनों के बीच के अन्तर को भुला कर दर्शन को गणित के अधीन कर दिया गया। प्रो. सी. डी. ब्रॉड के साथ सहमत होते हुए केवल इतना ही कहा जा सकता है कि दर्शन और गणित में केवल इतनी ही अनुरूपता है कि दोनों में कहीं भी प्रयोग को स्थान नहीं दिया गया है।[१६] लेकिन लक्ष्य को लेकर इन दोनों के बीच तादात्म्य स्थापित नहीं किया जा सकता, क्योंकि गणितीय दर्शन की दृष्टि को सभी घटनाओं के सम्बन्ध में पूर्ण रूपेण अपनाया नहीं जा सकता। प्लेटो की गवेषणा की व्याख्या के सन्दर्भ में हम इसकी चर्चा कर आए हैं। इसका यह अर्थ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं है कि गणित निरर्थक है। यह असंदिग्ध है कि गणतीय प्रतिज्ञप्तियाँ अनिवार्यतः सत्य हैं, लेकिन हयूम के साथ यह कहा जा सकता है कि ये वास्तविक वस्तुस्थिति अथवा तथ्य से मेल नहीं खातीं, और दर्शन में तथ्यों की अवहेलना नहीं की जा सकती, क्योंकि एक दार्शनिक तो आनुभविक विश्व से ही किसी एक सर्जनात्मक प्रत्यय का चयन कर उसको सभी क्षेत्रों की व्याख्या के लिये लागू करता है। अतः माना जा सकता है कि गणितीय अनिवार्यता की कुंजी धारणा को प्रस्तुत कर बुद्धिवादी दार्शनिकों ने वस्तुस्थिति में दार्शनिक ज्ञान के संबंध में एक असंगत आदर्श को प्रस्तुत किया है, तथा दार्शनिक प्रतिज्ञप्तियों के सम्बन्ध में एक मिथ्या विचार धारित किया है।[१७] यही कारण है कि नयी विधि की आवश्यकता अनभूत करने पर भी बुद्धिवादी परम्परा को नहीं अपनाया जा सकता है। तो क्या अनुभववादी परम्परा को अपनाया जा सकता है ?

२–२ अनुभववादी प्रतिपादन

अनुभववादी भी एक ऐसी पद्धति की खोज में रत पाये जाते हैं, जिसके आधार पर दार्शनिक ज्ञान की असंदिग्धता, सर्वव्यापकता, एवं तथ्यात्मकता को स्पष्ट किया जा सके। इसके लिये इन लोगों ने इन्द्रियानुभव को ज्ञान का आरम्भिक स्रोत तथा अन्तिम निर्णायक माना। इनके अनुसार यह विश्वास करना कि मानव मत की निस्सार तार्किक सम्बन्धों से भिन्न किसी सत्य तक सीधी पहुँच है, आत्मवंचना है। यहाँ असंदिग्धता तथा तथ्यात्मकता की खोज में गणितीय विधि को नहीं अपनाया गया, क्योंकि इन लोगों के अनुसार ज्ञान का जो भी विषय है, वह मानव मन के अन्दर ही प्राप्त किया जा सकता है।

जॉन लॉक ने इसी लिये दार्शनिक निश्चयात्मकता को स्थापित करने के उद्देश्य से मनोवैज्ञानिक पद्धति को अपनाया। लेकिन संज्ञान के धरातल पर लॉक की असंगति इस रूप में मानी जा सकती है कि ज्ञान में निश्चयात्मकता लाने के उद्देश्य से इन्होंने ज्ञान का सिद्धान्त दिया, लेकिन ज्ञान को प्रत्ययों तक ही सीमित कर दिया। लॉक की ज्ञान सम्बन्धी परिभाषा ज्ञान को प्रत्ययों के बीच संगति, असंगति या विरोधिता के सम्बन्ध के प्रत्यक्ष को ही ज्ञान के रूप में प्रस्तुत करती है।[१८] प्रत्यय मनाश्रित होते हैं जबकि ज्ञान तथ्यों का होता है, मनाश्रित प्रत्ययों के आधार पर प्रत्ययों से परे स्वतंत्र तथ्यों का ज्ञान कैसे प्राप्त किया जा सकता है ? लॉक का 'प्रतिरूपवाद' इस सन्दर्भ में मानवीय ज्ञान के प्रत्यय को तथ्यों की नकल या प्रतिरूप के रूप में प्रस्तुत करता है, लेकिन जब साक्षात् रीति से केवल हमें प्रत्ययों का ही ज्ञान होता है, तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रत्यय तथ्यों के सही प्रतिरूप हैं, अथवा नहीं ? इसके साथ ही यदि यह सिद्धान्त अपना लिया जाता है, तो एक बात और स्पष्ट हो जाती है कि हमें केवल प्रतिरूपों का ही ज्ञान हो सकता है, यथार्थ तथ्यों का नहीं। अतः ऐसी स्थिति में यह कहा जा सकता है कि ज्ञान के सम्बन्ध में लॉक की दार्शनिक गवेषणा में निश्चयात्मकता, असंदिग्धता तथा तथ्यात्मकता की संगत व्याख्या नहीं हो पाती है।

निश्चयात्मकता की खोज में बर्कले उग्र अनुभववाद की स्थापना करते हैं, लेकिन इनके विचारों में संगति नहीं है। दर्शन का लक्ष्य है विश्व की उसकी सम्पूर्णता में व्याख्या करना। बर्कले को दर्शन का यह लक्ष्य मान्य है, क्योंकि अपने मौलिक विचारों के आधार पर इन्होंने विश्व को एक ऐसी व्यवस्था प्रदान की, जो आत्मिक है। तथाकथित भौतिक द्रव्य-प्रत्ययों का समुच्चय मात्र है, आत्मा द्रव्य है और ईश्वर परमात्मा है। लेकिन आत्मा को अनुभव-संगत मानकर बर्कले ने अपना दर्शन असंगत बना दिया है। बर्कले की मान्यता है कि प्रत्यय मात्र ज्ञान की कुंजी है। मानवीय ज्ञान के विषय प्रत्यय हैं। ऐसे प्रत्ययों की, उत्पत्ति इन्द्रियों से मानी गयी है। अब यदि आत्मा भी प्रत्यय है, तो फिर इसे क्षण-भंगुर होनी चाहिये, क्योंकि ऐसी स्थिति में यह क्षण-भंगुर प्रत्ययों का समुच्चय होगा। यदि बचाव के लिये आत्मा को प्रत्यय नहीं माना जाय, और इस कारण इसे प्रत्यक्ष से सिद्ध करने की आवश्यकता न हो, तो फिर यह समस्या उठ खड़ी होती है कि क्या आत्मा प्रत्यक्ष से परे है ? बर्कले ने इस विरोधाभास से बचने के लिये बतलाया है कि आत्मा की हमें भाव अथवा धारणा (नोशन) होती है।[१९]

लेकिन इस व्याख्या पर यदि ध्यान दिया जाय तो एक बात स्पष्ट हो जाती है कि इन्द्रिय-संवेदन तथा प्रत्यय वस्तुओं से सम्बन्धित हैं, तथा अन्तर्बोध एवं धारणाओं के विषय आत्माएँ तथा सम्बन्ध है। बर्कले इसे स्वीकार करते हैं, लेकिन इस स्वीकार ने इन्हें स्व-व्याघाती बना दिया। उपर्युक्त व्याख्या इस बात का प्रामाण्य है कि तर्क तथा बौद्धिक धारणा दोनों ही बर्कले को उनके दर्शन-मीमांसा में स्वीकार्य था, लेकिन दृष्टि की ही सृष्टि मानने वाले उग्र अनुभववादी के लिये प्रत्यक्ष से परे तत्त्वों को स्वीकार करना उन्हें आत्म-व्याघाती बना देता है। वस्तुतः दार्शनिक ज्ञान में निश्चयात्मकता और असंदिग्धता लाने के प्रयास में बर्कले असंदिग्ध होने के बजाय असंगत बन बैठे।

अनुभववाद की उग्रतम अवस्था की परिणति ह्यूम के दर्शन में हुई है। पूर्ण असंदिग्धता तथा तथ्यात्मकता लाने के उद्देश्य से ह्यूम ने बतलाया कि बिना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संवेदन के कोई भी ज्ञान संभव नहीं है। अपनी इसी मान्यता के आधार पर इन्होंने द्रव्य, कार्य-कारण इत्यादि धारणाओं की दार्शनिक व्याख्या प्रस्तुत की। अपनी मान्यता पर ह्यूम को पूर्ण विश्वास था, क्योंकि इन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि- कोई भी व्यष्टि जो चिन्तन करता है, इसमें सन्देह नहीं करता कि- यह घर अथवा वह पेड़ प्रत्ययों के अतिरिक्त कुछ और है।[२०] लेकिन निश्चयात्मकता ढूंढ़ने के प्रयास में ह्यूमीय दर्शन सन्देहवादी बन गया। वस्तुतः प्रत्ययों के बीच केवल बाह्य साहचर्य को मान कर ह्यूम मनुष्य के प्रत्येक क्षेत्र के विश्वास को शिथिल कर देते हैं। ऐन्द्रिय ज्ञान से तो मनुष्यों के बीच केवल बाहरी सम्बन्ध स्थापित नहीं हो पाता है। इस प्रकार ज्ञान को बाहरी सम्बन्ध पर आधृत कर देने के कारण ह्यूम का अनुभववाद असंदिग्ध होने के स्थान पर सन्देहवाद में परिणत हो जाता है।

२-३. प्रसिद्ध विचारक इमानुएल कांट ने इसीलिए दार्शनिक ज्ञान के सम्बन्ध में कहा है कि इसमें निश्चितता की प्राप्ति नहीं हो सकती और संभवतः इसीलिए ये यह निर्णय लेने के लिये बाध्य हो जाते हैं कि तत्त्वदार्शनिक अज्ञेय तत्त्वों को जानते का बुद्धि द्वारा जब भी प्रयास करता है, अनुभवातीतवादी भ्रम की उत्पत्ति होती है। कांट के अनुसार तत्त्वदार्शनिक अज्ञेयतत्त्वों को जान लेने के सन्दर्भ में बुद्धि का प्रयास वस्तुतः उसकी उड़ान का केवल आदर्श मात्र है, इन्हें ज्ञान का निर्णायक नहीं कहा जा सकता।

३- समसामायिक विचारधारा में निश्चितता प्राप्ति का प्रयास

समसामयिक विचारधारा में बर्ट्राण्ड रसेल भी दर्शन के अन्तर्गत एक अविवादास्पद स्थिति की खोज में थे, कम-से-कम ऐसी स्थिति के, जिसके विषय में संन्देह नहीं किया जा सके। अविवादास्पद स्थिति की इस खोज ने उन्हें संवेदित-प्रदत्त ज्ञान (सेन्सडाटा नॉलेज) तक पहुँचाया, जिसके विषय में माना गया है कि समस्त ज्ञान इसी पर निर्भर करता है, तथा जो पूर्णतः निश्चित तथा अशोध्य है। समसामयिक अनुभववादी इन्द्रियानुभव से संवेदित प्रदत्त का ही अर्थ लगाते हैं, क्योंकि अनुभूति के अन्तर्गत जिससे हम साक्षात् तथा अव्यवहित रूप से अवगत होते हैं, वह संवेदित-प्रदत्त है। रसेल तथा अपने चिन्तन के प्रारम्भिक काल में प्रा. एयर को संवेदित-प्रदत्त ज्ञान की निश्चयात्मकता तथा अशोध्यता में अटूट विश्वास था, क्योंकि भौतिक वस्तुओं के प्रेक्षण में गलती हो सकती है, लेकिन इन लोगों के अनुसार एक चीज असंदिग्ध होती है, और वह है संवेदित प्रदत्त। प्राइस ने इसकी असंदिग्धता को स्पष्ट करने के सन्दर्भ में सुन्दर तथा स्पष्ट व्याख्या प्रस्तुत की है।[२१]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संवेदित-प्रदत्त ज्ञान की निश्चयात्मकता तथा अशोध्यता के पीछे एक यथेष्ट पृष्ठभूमि यह है कि ये हमारे निजी ज्ञान के विषय हैं, इसकी अनुभूति निजी है, और इसीलिए रसेल द्वारा यह स्वयंभू की संज्ञा [२३] से अभिहित हुआ है। एयर ने भी स्वीकार किया है कि संवेदित-प्रदत्त ज्ञान निजी है, जिसे केवल निजी तथा ऐकान्तिक भाषा में ही व्यवहृत किया जा सकता है।[२४]

लेकिन ऐसा स्वीकार करने में कठिनाई चली आती है। 'यह लाल' (संवेदित-प्रदत्त वाक्य) तब वस्तु-विशिष्ट का बोध कराने में समर्थ नहीं हो सकता है, क्योंकि 'यह' और 'लाल' दोनों ही सामान्य प्रत्यय हैं. न कि व्यक्तिवाचक संज्ञा। लाल के अन्तर्गत गुलाब की लाली, रक्त की लाली, प्रातःकाल की प्राची की लाली इत्यादि सन्निहित समझी जाएगी। जब यह लाल से लाली की विशिष्ट आभा का निर्देश नहीं किया जा सकता है, तब 'यह लाल' प्रत्यय हुआ, और प्रत्यय सार्वजनिक भाषा में ही प्रयुक्त किया जा सकता है।

फिर क्या संवेदित-प्रदत्त को अशोध्य माना जा सकता है? एयर, जो कि अपने आरम्भिक चिन्तन में संवेदित-प्रदत्त ज्ञान पर बल देते हैं, स्पष्टतः ऐसा स्वीकार करते पाये जाते हैं। उनके अनुसार जब संवेदना को प्राप्त कर हम एक संवेदित-प्रदत्त वाक्य बनाते हैं 'यह लाल' तब यहाँ भाषा सम्बन्धी भूल हो जाने की संभावना को छोडकर गलती की कोई गुंजाईश नहीं हो सकती है। यह हो सकता है कि 'लाल' को देखकर मूँह से हरा निकल जाए। परन्तु जहाँ तक अनुभूति का सवाल है, एयर के अनुसार गलती नहीं हो सकती। परन्तु एयर स्वयं ही बाद में लॉजिकल पॉजिटिविज्म में इसकी अशोध्यता से इन्कार करते हैं। इनके अनुसार इन्द्रिय-सामग्री को भाषा-बद्ध करने के लिये हमें प्रत्ययों (कंसेप्ट) की आवश्यकता पड़ जाती है, और जहां प्रत्यय होंगे, वहाँ वर्गीकरण और निर्णय चला आएगा। अब जहाँ निर्णय और वर्गीकरण का प्रश्न चला आता है, वहाँ गलती की गुंजाईश हो जाती है। इसलिये संवेदित-प्रदत्त वाक्य को भी अशोध्य नहीं माना जा सकता।

फिर एक समस्या उठती है कि यदि हम सतर्क रहकर यथोचित प्रकाश में और यथोचित दूरी और दृष्टिकोण से प्रतिवेदित करें 'यह लाल' तो क्या इस प्रतिवेदित 'यह लाल' को निर्भ्रान्त माना जा सकता है? हमें ध्यान रखना होगा कि दर्शन में भाषाहीन मूक-अनुभूति का कोई स्थान नहीं है। उसी अनुभव-प्रदत्त को दर्शन का विषय माना जाएगा, जो संज्ञापनीय हो, जो संभाष्य हो; और संज्ञापनीय होने के लिये अनुभूत प्रदत्त को सामान्य प्रदत्त के द्वारा व्यक्त किया जाता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। ऐसी स्थिति में अपने इन्द्रियानुभव के द्वारा प्राप्त प्रदत्त को अभिव्यक्त करने में कोई भी गलती कर सकता है। अतः भाषा-बद्ध संवेदित-प्रदत्त को निर्भ्रान्त ज्ञान-सामग्री स्वीकार करना कठिन है।

दर्शन की इस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि को ध्यान में रखकर कहा जा सकता है कि संज्ञानात्मक स्तर पर दर्शन के अन्तर्गत पूर्ण असंदिग्धता अथवा निश्चयात्मकता संभव नहीं है। ऐसा कोई भी स्वर्णिम मार्ग नहीं है, जिसके माध्यम से पूर्ण निश्चयात्मकता तक पहुँचा जा सके। तो क्या दर्शन की अनिश्चितता, उसके विविधता-दर्शन का दोष है? नहीं! दार्शनिक निष्कर्षों की विविधता दर्शन का अभिशाप नहीं है। वस्तुस्थिति में प्रत्येक दार्शनिक निर्णय को अपने पक्ष में करने के लिये युक्तियों के अन्दर तथ्यों को अपने ढंग से व्यवस्थित करते हैं, और ऐसा करने के लिये वे स्वतंत्र भी हैं। लेकिन कोई भी युक्ति प्रदर्शनात्मक (डेमॉन्स्ट्रेटिव) नहीं हो सकती। प्रत्येक दर्शनिक के सृजनात्मक क्षमता की एक स्वतंत्र उपलब्धि है। वस्तुतः दार्शनिक संदिग्धता वहाँ उत्पन्न होती है, जब दर्शन को संज्ञान मान लिया जाता है। संज्ञान का आदर्श विज्ञान है, विज्ञान के अन्तर्गत निश्चयात्मकता तथा विश्वसनीयता पायी जाती है। दर्शन में निश्चयात्मकता लाने के प्रयास में हमें दर्शन को विज्ञान के समरूप मानना होगा, और यह सर्वविदित है कि दर्शन विज्ञान से भिन्न है। प्रसिद्ध दार्शनिक विट्गेन्स्टाइन ने स्पष्ट शब्दों में यह स्वीकार किया है कि दर्शन विज्ञान नहीं है। यह विज्ञान से उच्चतर अथवा निम्न कुछ भी हो सकता है, लेकिन उसी स्तर का नहीं। अतः विज्ञान की भाँति दार्शनिक जिज्ञासा की पूर्ण संतुष्टि नहीं है, और न यहाँ दार्शनिक खोज की दिशा में पूर्ण विराम ही संभव है। प्रसिद्ध प्रयोजनवादी विचारक सी. एस. पर्स ने इसी लिए 'आगे की खोज के लिये मार्ग कभी अवरुद्ध मत करो' का दार्शनिक सन्देश प्रदान करते हुये दर्शन में खोजों की दिशा में निरन्तर आगे बढ़ते रहने के प्रयास का समर्थन किया है। इनका स्पष्ट अभिमत है कि दर्शन में किसी एक बिन्दु पर किसी एक सत्य को सम्पूर्ण मान कर अपने आपको स्थिर करना न तो उचित है और न संभव ही।

५०, कृष्णप्रकाश लेन
मकेलिओद गंज
गया–८२३००१
(बिहार)

-सुरेन्द्र कुमार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. 'फीडो', प्लेटो सॉक्रेटीज डायलॉग्ज, अनु. एवं सं. डब्ल्यू. डी. बूडहेड, लन्दन, टॉमस नेलसन एण्ड सन्स लि. १९६७, पृष्ठ १४२।

२. प्लेटो, द रिपब्लिक, ५०९, अनु. बी. जोवेट, न्यूयार्क : रैन्डम हाउस, पृष्ठ २५२।

३. मसीह, या.; समकालीन धर्म-दर्शन, पटना : बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, १९७२, पृष्ठ २६७।

४. अरिस्टॉटल्स मेटाफिजिक्स, बुक I १००३ a अनु. एच.. जी. एपाल्स इन्डियाना युनिवर्सिटी प्रेस, १९६६, पृष्ठ ५४।

५ वही, बुक A ९८३ a, पृष्ठ १६।

६. ए हिस्ट्री ऑफ फिलॉसफी खण्ड १, एफ्. कोपलस्टन, वेस्टमिन्स्टर, द न्यूमैन प्रेस, ११६३, पृष्ठ ४१५।

७. वर्गसाँ, एफ. एच. द टू सोर्सेस ऑफ मोरालिटि एण्ड रिलिजन, सं. ए. आद्रे एवं सी. ब्रीटन, मैकमिलन, १९३५, पृष्ठ १८८।

८. जॉन्स, आर. एम. "द टेस्टिमोनीयल ऑफ मिस्टिकल एक्सपिरीयन्स, अॅप्रोचेस् टू द फिलॉसफी ऑफ रिलिजन, सं. डी. जे. ब्राउन्स्टाइन, प्रेन्टिस हाल, १९६०, पृष्ट १९३।

९. ऑटो, आर.; द आयडिया ऑफ दि होली, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १९३६ पृष्ठ १५०।

१०. व्हराइटीज आफ मिस्टिकल एक्स्पिरीयन्स, विलियम जेम्स, लॉगमन्स, १९३५, पृष्ठ ४२५–४२७।

११. अंसेल्म, संत; स्टेटमेन्ट आफ द ऑर्ग्युमेन्ट, द एक्जिस्टेन्स आफ गॉड सं. जॉन हिक, न्यूयार्क : मैकमिलन, १९६४, पृ. २५।

१२. वि राइज ऑफ साइन्टिफिक फिलॉसफी, हान्स राइखेनबाख, कॅलिफोर्निया युनिवर्सिटी प्रेस, १९६३, पृष्ठ ३४।

१३. देकार्त, रेने : प्रिन्सिपल्स ऑफ फिलॉसफी, भाग–१, सिद्धान्त १०. फिलॉसॉफिकल वर्क्स ऑफ देकार्त, खण्ड १, अनु. हाल्डेन एवं रॉस, केम्ब्रिज युनिवर्सिटी प्रेस, १९६९, पृ. ९२।

१४. देकार्त, रेने; रूल्स फॉर द डिरेक्शन ऑफ द माइन्ड, नियम १२, वही पृ. ४३।

१५. देकार्त, रेने, मेडिटेशन III, वही, पृ. १५८।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१६. सायन्टिफीक मेथड, सी. डी. ब्रॉड, लन्दन, रूटलेज ॲण्ड केग पॉल १९५२, पृ. १९।

१७. मसीह, या ; ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न फिलॉसफी, पटना : मोतीलाल बनारसी दास; १९६७, पृ. ६३–६४।

१८. लॉक, जॉन; ॲन एसे कन्सर्निंग ह्यूमन अन्डरस्टॅन्डिंग, कोलिन्स, द फ्रॉन्टेना लायब्रेरी, १९६४, पृ. ३२०।

१९. बर्कले, जॉर्ज, मानवीय ज्ञान के सिद्धान्त, सिद्धान्त ८९, अनु. भगवान बख्स सिंह, हिन्दी समिसि, सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, १९६५, पृ. १५७।

२०. ह्यूम, डेविड : ॲन एंक्वायरी कन्सर्निंग ह्यूमन अन्डरस्टॅन्डिंग, द ओपन कोर्ट पब्लिशिंग कम्पनी, ला सेल, यू. एस. ए. १९४९, पृष्ठ १७०।

२१. पर्सेप्शन, एच. एच. प्राइस, लन्दन, मेथुन १९३३, पृ. ३।

२२. द प्रॉब्लेमस ऑफ फिलॉसफी बी. रसेल, लन्दन, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, १९५९, पृष्ठ २०,१३३।

२३. द फाउन्डेशन्स ऑफ एम्पीरिकल नॉलेज, ए. जे. एयर, लन्दन, मैकमिलन एण्ड कम्पनी, १९६२, पृष्ठ १५३–५६।

२४. एयर. ए. जे. लॉजिकल पॉजिटिविज्म् न्यूयार्क द फ्री प्रेस, १९६६, पृ. १८–१९।

२५. विट्गेन्स्टाइन, एल.; ट्रैक्टॅटस लॉजिको फिलॉसॉफिकस, लन्दन, रूटलेज ॲण्ड केगन पॉल, लि. १९६३, पृ. ७७।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ईश्वरवाद का मीमांसादर्शन में प्रतिवाद

भारतीय दर्शनों में ईश्वर शब्द बड़े विवाद का विषय रहा है। इसका मूल अर्थ ऐश्वर्यशाली है। इस दृष्टि से किसी भी स्वामी या अधिपति को ईश्वर मानने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है। परन्तु सर्वज्ञ जगत्कर्ता के रूप में जिस सर्वाधिष्ठानरूप ईश्वर को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई उसका प्रत्याख्यान बौद्ध तथा जैन दर्शनों के अतिरिक्त सांख्य एवं मीमांसा दर्शनों में भी बड़े विस्तार से किया गया। यहाँ वैदिक दर्शनों में सांख्यदर्शन के अन्तर्गत तो सेश्वरसांख्य की भी एक धारा रही है। परन्तु मीमांसादर्शन की सभी धाराएँ एकस्वर से जगत्कारण ईश्वर का प्रत्याख्यान करती हैं। इस प्रत्याख्यान का आधार वेदों की अपौरुषेयता पर निहित है। तदनुसार वेद अनादि होने के साथ अपौरुषेय हैं जिनका कोई कर्ता नहीं है। नैयायिक वेदकर्ता और जगत्कर्ता के रूप में जिस ईश्वर को तर्क द्वारा सिद्ध करना चाहते हैं उसका खण्डन तर्क द्वारा ही किया गया है। इसके लिए वेदों के समान ही जगत् को भी अनादि सिद्ध बताया गया है, जिसके लिये कर्ता की अपेक्षा नहीं है। पूर्ण प्रलय जैसी कोई घटना नहीं होती कि पुनः सृष्टि के लिये किसी कर्ता को बीच में लाया जाय। जो कार्य प्रत्यक्षतः जीवकृत नहीं पाए जाते उनकी रचना जीवों के अदृष्टों से हो जाया करती है।

मीमांसा में अदृष्ट अथवा अपूर्व शब्द बड़े महत्त्व का है। कर्मसिद्धान्त पर आस्था रखनेवाला कोई दर्शन उसका निषेध नहीं कर सकता। पुरुष द्वारा किये हुए शुभाशुभ कर्मों से अदृष्ट जन्म लेता है जो धर्म तथा अधर्म में द्विधा विभक्त है। उसी के अधीन अंकुरादि का जन्म होता है जिनका भोक्ता जीव है। कर्ता, भोक्ता जोव ही अपने कर्म के अनुसार अपने अदृष्ट का परमेश्वर है। इस उपोद्घात के साथ मीमांसा की प्रसिद्ध तीन धाराओं में ईश्वर के प्रतिवाद का विवेचन अपेक्षित है।

कुमारीलमीमांसा :

बौद्ध तथा जैन आचार्य यद्यपि जगत्कर्ता की कल्पना नहीं करते, परन्तु उनके स्वकीय आगमों का कर्ता सर्वज्ञ बुद्ध या जिन को माना गया है। न्यायदर्शन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में सर्वज्ञता की प्रतिष्ठा करके ही वेद और जगत् की सृष्टि को ईश्वरकृत सिद्ध किया जाता है। अतः कुमारील ने सर्वज्ञता के खण्डन को प्राथमिकता दी है। उनका तर्क है कि वर्तमान काल में हम सब को कहीं भी किसी सर्वज्ञ का दर्शन नहीं होता अतः उसकी सत्ता के विरुद्ध व्याप्ति बनती है कि सभी काल सर्वज्ञशून्य हैं। अतः अतीत में भी किसी सर्वज्ञ की स्थापना नहीं की जा सकती। यदि पुरुष-विशेष को रागादिरहित मानकर सर्वज्ञ बताया जाय तो उसके विपरीत व्याप्ति लाई जा सकती है कि पुरुषमात्र में राग और द्वेष रहते हैं –

सर्वज्ञो दृश्यते तावन्नेदानीमस्मदादिभिः।
निराकरणवच्छक्या न चासीदिति कल्पना ॥
(श्लोकवार्तिक, चोदनासूत्र, ११७)

सर्वज्ञतावादियों की ओर से एक तर्क यह लाया जाता है कि शास्त्रों का कभी विच्छेद नहीं होता। इससे प्रमाणित होता है कि उनका कर्ता कोई सर्वज्ञ है। परन्तु इसके विपरीत तीन तर्क दिये जा सकते हैं--

१. जिसे सर्वज्ञकल्पित शास्त्र कहा जाता है उस पर वञ्चना की शंका उठाई जा सकती है।

२. दूसरे, वेदों के अतिरिक्त कोई भी शास्त्र ऐसा नहीं है जिसका मूल अविच्छिन्न हो।

३. तीसरा कारण यह है कि वेदेतर शास्त्र का ग्रहण कुछ ही लोग करते हैं और वे ही अधिकतर सर्वज्ञता के पक्षधर देखे जाते हैं।

मान भी लिया जाय कि कोई सर्वज्ञ होता है जिसके ज्ञान में सभी ज्ञेय आ जाते हों परन्तु जो स्वयं उस सर्वज्ञ के ज्ञान और असंख्य ज्ञेयों का ज्ञान नहीं रखते उन्हें सर्वज्ञ का ज्ञान कैसे हो सकता है? सर्वज्ञ को जानने के लिए दूसरे सर्वज्ञ की अपेक्षा होगी और तब असंख्य सर्वज्ञों की कल्पना करनी होगी जिसमें अनवस्था के अतिरिक्त यह दोष भी आता है कि सर्वज्ञ के सभी अनुयायी सर्वज्ञ होंगे--

सर्वज्ञोऽसाविति ह्येव तत्काले तु बुभुत्सुभिः।
तज्ज्ञानज्ञेयविज्ञानरहितैर्गम्यते कथम् ॥
कल्पनीयाश्च सर्वज्ञा भवेयुर्बहवस्तव।
य एव स्यादसर्वज्ञः स सर्वज्ञं न बुध्यते ॥ (वही, १३४–३५)

नैयायिकों ने सर्वज्ञता की सिद्धि में यह व्याप्ति ग्रहण की है कि कर्ता पुरुष अपने कार्य की उपादान सामग्री का ज्ञाता होता है अतः विश्व के कर्ता को विश्व

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की सामग्री का ज्ञाता होना ही चाहिये और उस सामग्री का ज्ञाता सर्वज्ञ ही होगा जो परमेश्वर है। इस तर्क को स्वीकार कर लिया जाय तो भी यह नहीं सिद्ध किया जा सकता कि एक ही परमेश्वर सभी ब्रह्माण्डों का कर्ता है। इसके अतिरिक्त ब्रह्माण्डों की उत्पत्ति का आदि तथा अन्त अकल्पनीय है। ऐसा कोई प्रलय नहीं हो सकता जिसमें पूर्ण उच्छेद होता हो। अतः प्रजापति या ईश्वर की क्रिया निष्प्रयोजन है--

कर्तृसर्गविनाशानामथानादित्वकल्पना।
सैव युक्ता यथेदानीं भूतानां दृश्यते क्रमात्॥
प्रलयेऽपि प्रमाणं नः सर्वाच्छेदात्मके नहि।
न च प्रयोजनं तेन स्यात् प्रजापतिकर्मणा॥
(वही, सम्बन्धाक्षेपरिहार, ६७-६८)

प्रश्न यह है कि प्रलय में सभी कर्मों का नाश होता है या नहीं। यदि अशेष कर्मों का नाश मान लिया जाय तो पुनः सृष्टि का कारण नहीं बचता। यदि कहा जाय कि कर्म बचे रहते हैं जो अभिव्यक्त होकर सृष्टि के प्रयोजक बनते हैं तो पुनः प्रश्न किया जा सकता है कि जो कर्म प्रलयकाल में सुप्त हो गए थे उनके पुनर्जागरण का क्या कारण है? इसके लिए न्यायादि में ईश्वररेच्छा की कारणता कल्पित की जाती है, जिसके प्रत्याख्यान में कहा जा सकता है कि ईश्वरेच्छा के अधीन ही जब लोकरचना होती है तो कर्मसिद्धान्त मिथ्या है क्योंकि ईश्वर ही अपनी स्वतन्त्र इच्छा से जब जिसे जैसा करना चाहेगा तब उसे वैसा कर चलेगा। यहाँ यही मानना पड़ेगा कि एकमात्र ईश्वररेच्छा नियामक नहीं है। प्रत्युत जीवों के कर्मों के नुसार ही ईश्वरेच्छा भी नियमित रहती है। ऐसी स्थिति में सभी प्राणियों की सृष्टि का कारण कर्ममात्र को मानना चाहिये। अतः ईश्वर की मध्यस्थता मिथ्याकल्पनामात्र है --

अशेषकर्मनाशे वा पुनः सृष्टिर्न युज्यते।
कर्मणां वाप्यभिव्यक्तौ किं निमित्तं तदा भवेत्॥
ईश्वरेच्छा यदीष्येत, सैव स्याल्लोककारणम्।
ईश्वरेच्छा वशित्वे हि निष्फला कर्मकल्पना॥
न चानिमित्ततया युक्तमुत्पत्तुं हीश्वरेच्छया।
यद्वा तस्यानिमित्तं यद् तद् भूतानां भविष्यति॥
(वही, ७१-७३)

नैयायिकों की स्थापना है कि ईश्वर के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न से जगत् की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सृष्टि होती है। कुमारील के व्याख्याता आचार्य पार्थसारथि मिश्र ने अनुपपत्ति उठाई है कि आत्मा का धर्म होने पर भी प्रयत्न शरीर द्वारा ही किया जा सकता है। अशरीरी परमेश्वर का कोई सृष्टिजनक प्रयत्न असम्भव है। आत्मा की व्यापकता होने पर भी शरीरप्रदेश में ही प्रयत्न देखा जाता है। अतः परमेश्वर को अशरीरी मानने पर किसी प्रकार के प्रयत्न की कल्पना नहीं की जा सकती। कुछ वैष्णवों ने ईश्वर को शरीरी माना है। परन्तु प्रलय में ईश्वर का भी शरीर नहीं रह जाता। उस स्थिति में पुनः सृष्टि का प्रयत्न कैसे होगा? महत्त्वपूर्ण तथ्य यह है कि शरीरावच्छिन्न आत्मा में ही ज्ञान और इच्छा की संभावना बनती है। प्रलीन परमेश्वर का शरीर ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न से उसे शून्य बनाता है। इसके लिये कहा जा सकता है कि परमेश्वर के ज्ञान, इच्छा और प्रयत्न नित्य हैं। परन्तु नित्यता के अनुमान की कोई व्याप्ति नहीं हो सकती। क्योंकि सर्वत्र ज्ञानादि त्रितय को अनित्यत्व से व्याप्त देखा जाता है। इस प्रकार कार्यरूप पृथिव्यादि का कर्ता अशरीरी चेतन नहीं हो सकता

> नित्यमस्य ज्ञानं नित्याचेच्छा नित्यश्च प्रयत्न इति चेत्? न, सर्वज्ञानेच्छाप्रयत्नानामनित्यत्वव्याप्तेः। शक्यते हि प्रयोक्तुम—क्षित्यादिकं नाशरीरिचेतनकर्तृकम्, न नित्यप्रयत्ननित्येच्छानित्यज्ञानकर्तृकम्, कार्यत्वाद् घटवदिति॥
>
> (शास्त्रदीपिका पृ. २४०)

नैयायिकों का यह तर्क है कि जो जो कार्य जगत् में देखे जाते हैं वे सब सकर्तृक होते हैं—

सर्वं कार्यं सकर्तृकं कार्यत्वात्।

इस अनुमान से जगत् के निर्मातृत्व को प्रयोजन मान कर ईश्वर की सिद्धि की जा सकती है। इसका प्रत्याख्यान कुमारीलमत से यह किया जाता है कि उक्त अनुमान का सत्प्रतिपक्ष विद्यमान है कि जो जो कर्ता होता है वह सशरीर होता है और फिर दूसरा अनुमानवाक्य यह बनता है कि पृथिव्यादि कार्य शरीराजन्य होते हैं और कार्यमात्र शरीरजन्य होते हैं अतः ईश्वरकल्पना निःसार है।

सेश्वरसांख्यवादियों का मत है कि प्रकृति ही अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष अभिनिवेशादि क्लेशों और कर्मविपाकों से सर्वथा असंस्पृष्ट सर्वव्यापी जो कि पुरुष शब्द से वाच्य ईश्वर है, उस पर अधिष्ठित होकर महद्, अहंकार और पञ्चतन्मात्रादिक्रम से जगत् की सृष्टि करती है, जिस प्रकार बीज संस्कृत क्षेत्र पर अधिष्ठित होकर अङ्कुरादिक्रम से वृक्ष को उत्पन्न करता है। प्रकृति एक ही है परन्तु भोक्ता जीवों के भेद से प्रपञ्च की विचित्रता देखी जाती है। इस का खण्डन भाट्टचिन्तामणि में किया गया है—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

. CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुतो वा प्रकृत्या महदादिविकारारम्भः। ईश्वरेच्छयेति चेत, तस्यापास्तसमस्तकामेच्छाभावात्।
(भाट्टचिन्तामणि, पृ. ४)

प्रकृति के एक होने से जगत् में नर एवं पशु की कार्यविलक्षणता असंभव है। इस पर कहा जा सकता है कि क्षेत्रज्ञ ईश्वर अदृष्टवश विलक्षणता प्राप्त करता है तो अदृष्ट कार्यवर्ग में आने से प्रकृति में विलीन हो जाने से कारण नहीं हो सकता। यह कहने से कि महदादि विकारों का आरंभ ईश्वरेच्छा से होता है तो उत्तर है कि वहाँ समस्त कामेच्छाओं का अभाव है।

प्रभाकरमीमांसा

मीमांसादर्शन की दूसरी धारा प्राभाकरमीमांसा के नाम से जानी जाती है। इसमें भी ईश्वर का पूर्णतः निरास देखा जाता है। जैसी कि मीमांसको के लिये प्रसिद्धि है और मधुसूदन सरस्वती ने सिद्धान्तबिन्दु में कहा है–

"नास्ति सर्वज्ञत्वाद्युपेतं ब्रह्मेति मीमांसकाः" इति।

प्रभाकर ने सम्बन्धनित्यता के प्रसंग में वेद की अपौरुषेयता सिद्ध करते हुए कहा है कि वेद का कोई स्त्रष्टा नहीं है क्योंकि वृद्धव्यवहार अनादि है अतः उसका औत्पत्तिक सम्बन्ध नहीं है।

प्रभाकरविजयकार नन्दीश्वर सर्वप्रथम नैयायिकों के रूप में पूर्वपक्ष रखते हुए कहते हैं–

विवादाध्यासितम्, सकर्तृकम्, कार्यत्वात्, यत्कार्यं तत् सकर्तृकम्, यथा घटः, तथेदम्, तस्मात्तथा।

इस अनुमानवाक्य में सन्दिग्धकर्तृक है भूधराङ्-कुरादि जो कि पक्ष है। प्रसिद्धकर्तृक घटादि सपक्ष हैं, असिद्धकर्तृक आकाशादि विपक्ष हैं। यहाँ पर कार्यत्व को असिद्ध नहीं कहना चाहिये। कार्यत्व तो सावयवत्व हेतु से सिद्ध है क्योंकि जो कार्य होता है वह सावयव होता है। इस पूर्वपक्ष पर आक्षेप उठाते हुए यह कहा जा सकता है कि––

यत्कार्यं तच्छरीरकर्तृकं दृष्टम्, यथा घटादिकं विग्रहवत्कुलालादिकर्तृकम्।

इस प्रकार कार्यत्व शरीरकर्तृकत्व को सिद्ध करता है। परन्तु न्याय में ईश्वर को अशरीरी माना जाता है। इस प्रकार अशरीरी-कर्तृकत्व से विपरीत शरीरकर्तृक घटादि को विपक्ष माना जा सकता है और कार्यत्व साध्य के समक्ष

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पक्ष और विपक्ष दोनों विद्यमान होने से विरुद्ध हेतु हो जाता है, क्योंकि हेतु को पक्ष और सपक्ष में ही रहना चाहिये और विपक्ष में उसका अभाव हो। इस आक्षेप पर नैयायिक समाधान देते हैं कि यदि हम शरीरिकर्तृत्व को साध्य मानें तभी विरुद्ध हेतु आ सकता है अन्यथा नहीं, क्योंकि हमारा शरीरिकर्तृत्व और अशरीरिकर्तृत्व दोनों से भिन्न सकर्तृकत्वमात्र ही साध्य है। अन्यथा अग्निमत्व को साध्य करने में यह प्रश्न उठेगा कि पक्ष में प्रत्यक्ष अग्निमत्व है या अप्रत्यक्ष। यदि अग्निमत्व को प्रत्यक्ष मानें तो बाधितविषयत्व होगा और अप्रत्यक्ष मानने पर सकल अनुमानोच्छेद का प्रसंग हो जाएगा। अतः प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष से पृथक् अग्निमत्वमात्र ही साध्य है।

इसी प्रकार प्रस्तुत ईश्वरप्रसंग में भी मानना चाहिये।

प्रकरणपञ्चिका में यह प्रसंहित है कि नैयायिकों की स्थापना कि धर्माधर्म अतिशय चेतना से अधिष्ठित होते हैं और वही चेतना से अधिष्ठित पुरुष ईश्वर है, तो यह अयुक्त है। जिस क्षेत्रज्ञ जीव के वे धर्माधर्म होते हैं उसी को उनका अधिष्ठाता कहा जा सकता है और यदि जीव को अज्ञ मानकर उसी का अधिष्ठातृत्व सिद्ध न हो सका तो अन्य का अधिष्ठाता होना कैसे सिद्ध होगा? इस प्रसङ्ग में कतिपय अनुपपत्तियाँ पाई जाती हैं। पहली यह कि उसे यदि सिद्ध भी कर लिया जाय तो उसे पर-पुरुष की आत्मा में स्थित धर्माधर्म का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि वहाँ कारणाभाव है। दूसरे, उसकी इन्द्रियाँ भी पर-पुरुषवर्ती धर्मों के ज्ञान में कारण नहीं हो सकती क्योंकि इन्द्रियों की उसमें सामर्थ्य नहीं है। और यदि मन को उसका कारण माना जाय तो यह द्रष्टव्य है कि अकेला मन बाह्य विषयों में प्रवृत्त नहीं हो सकता।

नैयायिकों की यह सिद्धि कि धर्माधर्मरहित ईश्वर का इन्द्रिय और मन का सम्बन्ध नहीं होता क्योंकि वह सम्बन्ध धर्माधर्म से ही उत्पन्न होता है, तो ईश्वर के ज्ञान का कारण कोई अन्य है तो मीमांसक कहता है कि ज्ञान का कारण तो प्रसिद्ध है। जिस कारण से जो कार्य देखा जाता है वह कार्य उसी कारण से सम्बद्ध होता है। यदि कहा जाय कि ईश्वर का ज्ञान, क्रिया एवं इच्छा नित्य होते हैं तो यह असुन्दर ही है क्योंकि बुद्धि नित्य नहीं हो सकती। नन्दीश्वर कहते हैं-

न च तस्येच्छाज्ञानयोरपि नित्यत्वम्,
इच्छाज्ञानत्वात्; अस्मदादि इच्छाज्ञानवत्।

इस ईश्वर का शरीर भी अस्मदादि के शरीर के समान ही अनित्य ही है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नैयायिकों का तर्क है कि जो कार्य दिखाई देते हैं वे सभी अचेतन होते हुए किसी अधिष्ठाता कर्ता से युक्त होते हैं जैसे वास्त्वादि–

आत्मेन्द्रियाद्यधिष्ठाता करणं हि सकर्तृकम् ।

इस प्रकार अधिष्ठेय के स्वरूप एवं उसके ज्ञान से युक्त क्षेत्रज्ञ या जीव से पृथक् ईश्वर है, अतः–

विवादाध्यासितमुपादानोपकरणसम्प्रदानप्रयोजनाभिज्ञ–
बुद्धिमत्कर्तृकम्, कार्यत्वात्, घटादिवत्; अतः सिद्धोऽनु–
मानेनैव क्षेत्रज्ञविलक्षणो भगवानीश्वरः इति ।।

– प्रभाकर विजय, पृ. ७८

इसका भी प्रत्याख्यान करते हुए कहते हैं कि ईश्वर का आनुमानिकत्व सम्बन्ध नहीं है क्योंकि अनुमान कर्तामात्र का विषय है और ईश्वर के अनुमान में किसी तद्विलक्षणबुद्धि की अपेक्षा है । अनुमानवाक्य " क्षित्यंकुरादिकं सकर्तृकं कार्यत्वात्, घटवदिति " में भी सिद्धसाधन है क्योंकि क्षेत्रज्ञ जीव का भी धर्माधर्म के द्वारा कर्तृत्व सिद्ध हो जाता है । जैसा कि कहा गया है –

कर्ममि : सर्वसिद्धानां तात्सिद्धेः सिध्दसाधनम् इति । यह तर्क भी दिया जाता है कि पुण्यापुण्य कर्मफलों की व्यवस्था के लिये ईश्वर अपेक्षित है । तो उसके लिये प्राभाकर एक अपूर्व या अदृष्ट नामक तत्त्व की स्थापना करते हैं । कर्म करने के पूर्व तत्कार्य स्वर्गादि फल तो सद्यः प्राप्त नहीं होते, परन्तु वह कर्म वहीं समाप्त हो जाता है । तब उस कर्म और उसके फल से जोड़ने वाली कड़ी अपूर्व है जो फलसम्प्राप्तिपर्यन्त विद्यमान रहता है । अपूर्व वह सोपान है जिसके द्वारा जीव कर्म और फल के बीच में सम्बद्ध रहता है और फलप्राप्ति हो जाने पर ईश्वर सर्वथा अकल्प्य है ।

वैशेषिकदर्शन का साधन है कि–

परमाणव एवेश्वरेच्छावशेन प्रवर्तन्त इति ।

अर्थात् परमाणु में क्रिया ईश्वर की इच्छा से होती है । तो यह भी मान्य नहीं किया जा सकता । क्योंकि प्रलयकाल में जब सब कुछ नष्ट हो गया तो प्रलय का द्रष्टा बचना चाहिये जिसने उसे देखा हो । और पुनः सृष्टि के लिये क्रिया का प्रारम्भ कैसे हुआ, क्योंकि तब तो धर्माधर्म भी नष्ट हो जाते हैं । और प्रभाकर के मत से पूर्ण प्रलय जैसी कोई वस्तु नहीं है । प्रलय और सृष्टि तो अनादि काल से होती चली आई है । अस्मदादि शरीर में भी सृष्टि-संहार प्रकिया प्रतिक्षण चलती रहती है । संहार भी कोई तत्त्व नहीं है । घट के नष्ट हो जाने पर कपालों को और उनके नष्ट हो जाने पर खण्डकपालों और खण्डकपालों के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भी नष्ट हो जाने पर अन्ततः अणु ही बचे रहते हैं। जैसा कि जैमिनि मुनि ने कहा है कि अवान्तर प्रलय सिद्ध हो जाने पर भी महाप्रलय में कोई प्रमाण नहीं। इसलिए इस कार्य के लिए भी ईश्वर अनपेक्षित है।

मण्डन मिश्र प्रस्थान–

मण्डन मिश्र ने योगियों की सर्वज्ञता के सन्दर्भ में ईश्वर का खण्डन विधि-विवेक में बड़े विस्तार से किया है–

सर्वादृशामन्यवित्तमिन्द्रियाणां न गोचरः।
अत एव न सर्वज्ञ-ज्ञानकार्यं प्रसिध्यति ।।

– विधिविवेक पृ. १४५

अर्थात् जो सर्वदर्शी नहीं हैं उनके इन्द्रियों के विषय अन्यदीय संवेदन नहीं हो सकते, अतः सर्वज्ञ कार्य को अनुमान से भी सिद्ध नहीं किया जा सकता। न्यायकणिका टीका में वाचस्मति मिश्र ने स्पष्ट किया है कि आगम के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से ईश्वर या किसी की सर्वज्ञता की सिद्धि नहीं हो सकती। योगादि दर्शनों में ज्ञान की पराकाष्ठा का अनुमान करके ईश्वर को स्थापित करने का प्रयास किया है परन्तु–

काष्ठा यद्यवधिः कामं परं यस्मादसंभवि।
कार्यद्रव्यैरनैकान्तो गुणैश्च गरिमादिभिः ।।

(वही. पृ. १४६)

तात्पर्य है कि जहाँ ज्ञान की पराकाष्ठा है वही ईश्वर है तो यह व्याप्ति भी अनेकान्त है। और इससे ज्ञान की बहुविषयता की सिद्धि हो जाती है परन्तु सर्वज्ञता असिद्ध ही रहती है

न्याय-स्थापना है कि सभी कार्यों का कर्ता होने से ईश्वर सर्वज्ञ है। कुलालादि कर्ताओं के दृष्टान्त से तो इसका प्रत्युत्तर दिया जाता है कि ईश्वर जैसे तत्त्व की सर्वज्ञता-सिद्धि-हेतु ऐसे दृष्टान्त का सहारा लिया जा रहा है जिसे स्वयं ही कारणसामग्री का समग्रज्ञान नहीं है।

योगदर्शन की स्थापना कि "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर" भी मण्डन मिश्र के गले के नीचे नहीं उतरती। क्योंकि उनका तर्क है कि ऐसा मानने पर अनेक ईश्वरों के होने की आपत्ति आ जाएगी।

मीमांसात्रयी पर विशेष –

यद्यपि मीमांसादर्शन की सभी धाराओं में ईश्वर के अनुमान का खण्डन पाया जाता है, तथापि मीमांसासूत्रों में ईश्वर के खण्डन का कोई विचार नहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पाया जाता। इसके अतिरिक्त श्लोकवार्तिक में कुमारील के द्वारा किए गए मङ्गलाचरण से उनके ईश्वरवादी होने का प्रमाण मिलता है –

विशुद्धज्ञानदेहायत्रिवेदीदिव्यचक्षुषे ।
श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमः सोमार्धधारिणे ॥

इसकी टीका में वाचस्पति मिश्र का कथन है –

श्लोकवार्तिकमारिप्सुस्तस्य विघ्नसमाप्तये ।
विश्वेश्वरं महादेवं स्तुतिपूर्वं नमस्यति ॥

अर्थात् श्लोकवार्तिक की निर्विघ्न परिसमाप्ति हेतु आचार्य ने जगदीश्वर को प्रणाम किया है।

प्रभाकर ने कहीं भी शब्दशः ईश्वर का प्रत्याख्यान नहीं किया है। आनुमानिकत्व के खण्डन का तात्पर्य यह नहीं लेना चाहिए कि ईश्वर का खण्डन किया गया है। अतः देखा जाता है कि प्रभाकर-विजयकार को भी वेदान्तमीमांसा-सम्मत ईश्वर मान्य है। इसीलिए उन्होंने ग्रन्थ में ईश्वर का खण्डन नहीं किया है। वेदकर्ता के रूप में मीमांसा-त्रिपथगा ईश्वर को अमान्य करती है। अद्वैतवेदान्त का ईश्वर माया-परिच्छिन्न ब्रह्म है परन्तु मण्डन के अनुसार ब्रह्म स्वरूपतः ईश्वर है।

मीमांसादर्शन में कुमारिल और प्रभाकर की धाराएँ द्वैतवादी हैं जो जीवात्मा और ईश्वर को दो पृथक् तत्त्व मानते हैं। परन्तु मण्डन मिश्र के अनुसार ब्रह्म ही अध्यात्मवश जीवत्व प्राप्त करता है। सारांश है कि तीनों ही धाराएँ आगमप्रमाण-सिद्ध ईश्वर को प्रमाणित मानती हैं।

– वन्दना अवस्थी
शोध-छात्रा
संस्कृत विभाग
सागर विश्वविद्यालय
सागर – ४७०००३ (म. प्र.)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भारतीय दर्शन में शब्दानुवेध का सिद्धान्त तथा आधुनिक विज्ञान

भारतीय दर्शन में अनेक ऐसे सिद्धान्त हैं-जो आधुनिक विज्ञान से पूर्ण सम्मति रखते हैं। उनमें हे एक शब्दानुवेध का सिद्धान्त है। इसकी विशेषता यह भी है कि इसे आस्तिक तथा नास्तिक दर्शन भी समान रूप से मान्यता प्रदान करते हैं।

सामान्यतः सभी भारतीय मनीषी शब्द तथा अर्थ को स्वरूपतः भिन्न मानते हुए भी एक विशेष तथा अटूट सम्बन्ध से युक्त मानते रहे हैं। महाकवि कालिदास ने एक प्रचलित श्लोक में पार्वती तथा परमेश्वर को वाणी तथा अर्थ के समान अटूट सम्बन्ध से जुड़ा हुआ माना है। इस प्रकार उनका कहना रहा है कि सभी शब्द किसी अर्थ को अवश्य द्योतित करते हैं। आधुनिक भाषाशास्त्री भी कहते हैं कि कोई भी शब्द अर्थ को प्रकट किये बिना या उनके शब्दों में प्रतीकमय हुए बिना भाषा का अंग नहीं हो सकता। पर प्राचीन विद्वान् यह भी मानते रहे हैं कि विश्व में हर वस्तु के साथ कोई शब्द अवश्य जुड़ा रहता है। अत एव उन्होंने वस्तुओं को 'पदार्थ' या किसी भी पद या शब्द का अर्थ बताया है।

शब्दानुवेध का अर्थ–

शब्दानुवेध के अनुसार यह मान्य है कि प्रत्येक प्रकार के बोध के साथ भी शब्द आवश्यक रूप से जुड़ा रहता है। विश्व में ऐसा कोई बोध नहीं जो शब्द के साथ जुड़े बिना सम्पन्न हो सके। दूसरे व्यक्ति को किसी वस्तु को बताने के लिये तो शब्द का प्रयोग होता ही है। अत एव भाषा को विचारों की सर्वोत्तम वाहिका माना जाता है। पर इसके साथ ही स्वयं किसी वस्तु को समझने के लिये या उन्हें स्मरण करने के लिये मानस-स्तर पर शब्दों का योग होता है। हम किसी भी वस्तु या तथ्य का चिन्तन शब्दों की सहायता के बिना नहीं कर सकते। यह

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ७, अंक १, दिसम्बर, १९८५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हमारे लिये सम्भव नहीं है कि हम शब्द को साथ लाए बिना किसी वस्तु को सोच सकें। अतएव भारतीय मनीषियों ने यह माना कि बोध के अनुभव तथा स्मरण प्रत्येक स्तर पर तथा दूसरों को वस्तु प्रकट करने के लिये भी शब्द का संसर्ग अवश्यम्भावी है। इसको ही शब्दानुवेध कहा गया है।

मनुष्यों में शब्दानुवेध–

दर्शनशास्त्र में यह तथ्य अनेकत्र उल्लिखित है। वाक्यपदीय[1] में कहा है कि लोक में ऐसा कोई प्रत्यय नहीं जो शब्द के अनुगम के बिना सम्पन्न हो जाय। इसी तथ्य को बौद्धों के तत्त्व-संग्रह[2] में इस प्रकार कहा है कि चिन्तन आदि के समय प्रत्येक बोध शब्दों से अनुविद्ध रहता है तथा उसका अपलाप नहीं किया जा जा सकता।

आधुनिक मनोविज्ञान इस प्राचीन सिद्धान्त से सर्वथा सहमत है। उनका मानना है कि मनुष्य में वस्तुबोध के साथ शब्दबोध अवश्य होता है। यह अवश्य है कि कोई उस वस्तु को सामान्य शब्द से निर्देशित कर पाता है, कोई विशेष शब्दों द्वारा। बालक जितना आगे बढ़ता है, उसमें विशेषीकरण बढ़ता जाता है। विद्वान् व्यक्ति में यह विशेषीकरण अति मात्रा में होता है। एक बालक, जिसने कभी पेड़ को नहीं देखा, वह उसे 'कोई वस्तु' के रूप में जान सकता है। बाद में 'पेड़' के रूप में तथा उसके भी पश्चात् 'आम के पेड़' के रूप में तथा उसके भी आगे दशहरी आम के रूप में तथा अन्त में 'छोटादशहरी आम' इत्यादि रूप में जानते हैं। हम देखते हैं कि यहाँ शब्दों का अर्थ विशिष्ट तथा छोटी से छोटा होता गया है।

आधुनिक मनोवैज्ञानिक मानते हैं कि इस प्रकार के विशेषीकरण में शब्दों की सब से प्रमुख भूमिका है। अन्य प्राणी, जो छोटी से छोटी वस्तु के लिये अलग शब्द नहीं रख सकते, वे इसी कारण से विशेषज्ञ नहीं बन सकते। पर विद्वान् व्यक्ति शब्दों की सहायता से वस्तु की छोटी से छोटी विशेषताओं को जान पाता तथा याद कर पाता है। यह निश्चय ही दर्शन की भाषा में शब्दानुवेध का ही परिणाम है।

मनोवैज्ञानिकों ने इस विशेषता को परीक्षण के द्वारा भी सिद्ध किया है। उन्होंने कुछ बालकों को लकड़ी के विशेष प्रकार के, टुकडों के द्वारा एक आकृति बनाने के लिये कहा। उन्होंने पहले स्वयं बनकर दिखाया तथा उस क्रम को रखने के लिये संख्याओं तथा शब्दों का सहारा लेना सिखाया। ६०

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सेकेण्ड में न बना पाने पर उसे दूसरी बार करके बताया जाता था। यह देखा गया कि जो बालक संख्याओं तथा शब्दों के निर्देश को याद रख सके, उन्होंने शीघ्र ही वह आकृति बना ली। पर उसे न याद रख पाने वाले बालक उसे बनाने में सफल नहीं हुए[३] इससे सिद्ध है कि किसीसे भी समझने तथा याद रखने में शब्दों का विशेष महत्त्व है।

मनुष्य के चिन्तन के समय भी उसका शब्द-व्यापार कार्यशील रहता है। इसे भी परीक्षण के द्वारा सिद्ध किया गया है। किसी मनुष्य के जबान या ओष्ठ पर विद्युदग्रों (electrodes) को रखकर उसे नाड़ीय या पेशीय आवेगों का आलेखन करने वाले गैल्वानो मीटर से जोड़ दिया। उस मनुष्य ने जब एक दो, तीन को सोचा तो अभी तक निःस्पन्द रहने वाले विचलनों से तीन सुस्पष्ट श्रेणियाँ प्रकट हुईं। जब उससे कहा गया कि किसी तारीख बताने की कल्पना करो, किसी कविता को याद करो, अपने मन में किसी संख्या का गुणन करो, तो उनसे प्राप्त होनेवाली क्रियाधाराएँ ठीक वैसी ही प्राप्त हुई जैसी मुखर होकर बोलने से प्राप्त होती हैं[४] ? इससे सिद्ध है कि सोचते समय भी मनुष्य ने अपने वाणी को वैसा आदेश दिया जैसा वह बोलते समय देता है। साथ ही यह भी कि सोचते समय वह शब्द को लाए बिना नहीं रह सका।

इसीलिये प्राचीन तथा आधुनिक विद्वानों ने यह माना कि प्रत्येक स्तर पर शब्द अर्थ से जुड़ा हुआ है। सामान्य लोग इसी कारण से प्रायः शब्द तथा अर्थ को एक ही वस्तु समझ लेते हैं। विद्वान लोग इन्हें एक तो नहीं मानते पर भौतिक या मानस प्रत्येक स्तर पर सह-सम्बन्ध अवश्य मानते हैं।

बच्चों तथा पशुओं में शब्दानुवेध–

पर क्या छोटे बच्चों तथा पशुओं के साथ भी इसी प्रकार शब्दानुवेध होता है अथवा सोचते समय मानस में शब्दों का संप्रवेश होता है ? प्राचीन आचार्य इससे सहमत हैं। उनका कहना है कि बच्चा भी पूर्व संस्कारों के द्वारा शब्द के साथ वस्तु को सोचकर अपनी क्रियाएँ करता है।[५] बौद्धदर्शन में भी कहा है कि सद्योजात बालक की क्रियाएं भी शब्द तथा अर्थ दोनों को सोचकर होती है।[६]

यह तथ्य उतना सटीक नहीं है। क्योंकि सद्योजात बालक में भाषा के चिन्तन के कोई प्रमाण उपलब्ध नहीं है। आधुनिक भाषा वैज्ञानिक भाषा को अर्जित सम्पत्ति मानते हैं। अर्थात् यह भाषा आँख या कान से देखने, सुनने की शक्ति के समान स्वाभाविक नहीं है। अपितु वह अभ्यास आदि अन्य उपायों से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राप्त की जाती है। प्रक्रिया यह है कि बालक पहले ध्वनियों को सुनता है। इस प्रकार ध्वनियों के मस्तिष्क में बैठ जाने पर ही वह मस्तिष्क हमारी जिह्वा को तदनुकूल आदेश दे पाता है। जन्मतः बहरे व्यक्ति सदा गूंगे होते है इसका कारण यही है कि उनका मस्तिष्क जिह्वा को आदेश दे पाने में समर्थ नहीं है। इस प्रकार जिह्वा का मूल कार्य रस ग्रहण करना है। बोलने का कार्य प्रशिक्षण के पश्चात् लिया जाता है। यह ठीक उसी प्रकार है जैसे अंगुलियाँ मूलतः पकडने के लिये हैं। पर प्रशिक्षण के द्वारा उनसे तबला बजाने का कार्य भी लिया जा सकता है।

यदि भाषा बोलने के कार्य दर्शन, श्रवण आदि के समान स्वाभाविक होता तो सभी लोग एक ही प्रकार की भाषा बोलते। पर सभी मनुष्य वही भाषा बोलते हैं, जो उन्हें आस-पास के परिवेश से सिखाया जाता है। अतः भाषा बोलने के कार्य को कदापि स्वाभाविक नहीं माना जा सकता।

इस प्रकार नियम यह है कि सद्योजात बालक में कोई शब्द नहीं होते। उसके बाद धीरे धीरे उसके मुँह से कुछ ध्वनियाँ अनायास ही निकल जाती हैं। बाद में वह अनुकरण से अन्य ध्वनियों को भी बोलता है। उसके काफी समय पश्चात् वह इन ध्वनियों को किसी अर्थ के प्रतीक के रूप में बोल पाता है। यह ध्यान देते योग्य है कि भाषा के लिये कुछ बोल देना ही काफी नहीं है। अपितु किसी अर्थ का संकेतक का रूप लेकर ही वह भाषा बन पाती है। इस प्रकार की भाषा बोलने के लिये काफी निपुणता, बुद्धि, तथा अभ्यास की आवश्यकता होती है।

इससे सिद्ध है कि जातमात्र बालक की क्रियाओं में शब्द का अनुप्रवेश नहीं होता। उसकी क्रियाएँ विचारपूर्वक अवश्य होती हैं। उससे विशेष दशा में विशेष प्रकार से हाथ, पैर की क्रियाएँ होती हैं। पर यह चिन्तन तथा उससे जनित क्रियाएँ शब्दों के सम्पर्क के बिना ही होती हैं।

वास्तव में हम लोग कोई भी चिन्तन शब्द के बिना नहीं कर पाते, अत एव हम इस व्याप्ति के आधार पर बच्चों में भी शब्दानुवेध की बात सोचते हैं। पर यह ध्यान देने योग्य है कि शब्द के बिना ही चिन्तन तथा क्रियाओं का अस्तित्व जान जा चुका है। हमारा मस्तिष्क हमारे हाथ को क या ख लिखने का आदेश करता है। पर वह हमारी भाषा में वह आदेश नहीं देता। अपितु उसका हाथ को संकेत देने का प्रकार अपना अनूठा ही है। वैज्ञानिकों ने यह सिद्ध किया है कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्राणियों के सेल में एक जीव से दूसरे जीव में आदेश या सन्देश देने का प्रकार बिलकुल अनूठा तथा असाधारण है।[७] इससे सिद्ध है कि चिन्तन अथवा क्रियाएं भाषा के शब्दों से ही नहीं, अपितु उसके अपने विलक्षण संकेतों के द्वारा भी सम्पन्न हो सकती हैं।

इस प्रकार स्पष्ट है कि बच्चे तथा पशु आदि अपने विलक्षण संकेतों से सोच पाते हैं, जिन्हें हम भाषा के आग्रही लोग नहीं जान सकते। हम लोग तो अपने हाथ को आदेश के लिए प्रयुक्त संकेत को भी जान पाने में समर्थ नहीं हैं। पर अनुमान कर सकते हैं। इसी प्रकार पशु के चिन्तन में प्रयुक्त संकेत का अनुमान भर कर सकते हैं।

पशुओं में संकेतों ध्वनियों का प्रयोग–

यहां यह कहना नहीं है कि पशुओं में भाषा का नितान्त अभाव होता है। वास्तव में पशुओं में भी विभिन्न क्रियाओं में अतिस्थूल ध्वनि–संकेतों का प्रयोग प्राप्त हो जाता है। मेंढ़क विशेष प्रकार से टर्रा कर मादा को अपने अस्तित्व की सूचना देता है। हाथी आदि एक विशेष आवाज से आने वाले खतरे की सूचना देते हैं। प्राणिविज्ञान के विद्वानों ने शिशुमार अर्थात् सूँसों की बीसियों प्रकार के ध्वनि- संकेतों का अध्ययन किया है। ये संकेत खतरा, सहायता, याचना, आहार का मिलना, लड़ने की चुनौती, शत्रु पर हमले का आव्हान आदि व्यक्त करते हैं।[८]

इससे सिद्ध है कि उन पशुओं में भी शब्दानुवेध अवश्य है। पर वह अतीव स्थूल है। मनुष्य के करोड़ों शब्द संकेतों की तुलना में पशुओं के ४०–५० संकेत कितने कम हैं!! वह अपने संकेतों से वर्तमानकालिक बहुत मोटी बात को ही व्यक्त कर सकता है। भूत या भविष्य काल की बातें तथा वर्तमान काल की बातों का भी विस्तार से वर्णन के लिये उनके पास कोई उपाय नहीं है।

इस प्रकार विशिष्टीकरण न हो पाने के कारण ही पशुगण बातों को अधिक स्मरण कर पाने का एक प्रमुख कारण उसका भाषा ज्ञान ही है। मनोविज्ञान की पुस्तकों में इसे सिद्ध किया गया है।

उदाहरण के लियें चूहों को भूलभुलैयां में डाल देने पर वे जल्दी नहीं निकल पाते। पर मनुष्य उन स्थानों में बिन्दु बनाकर तथा उन्हें याद रखकर उस भूल को पुनः नहीं दुहराता तथा शीघ्र ही सही रास्ते को खोज में समर्थ हो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पाते हैं। पर चूहे अपने स्मरण के आधार पर नहीं, अपितु बाहर पहुंचने के प्रति अत्यधिक उद्वेग के कारण कभी बाहर निकल पाने में सफल होते हैं।[९] इन सबसे स्मरण के लिये भाषाज्ञान को आवश्यक उपादान माना गया है।

इन विवरणों के आधार पर यह माना जा सकता है कि मनुष्यों में शब्दानुवेध अनिवार्य रूप से होता है। पशुओं में यह बहुत कम होता है। मनुष्य के एक हजार शब्द संकेतों के बीच एक संकेत का अनुपात पशुओं के बीच होता है। पर सद्योजात बालक में यह बिलकुल नहीं होता। पर आस-पास के परिवेश के प्रभाव से वह अतिशीघ्रता से पहले अनायास ध्वनिप्रयोग तथा बाद में संकेतपूर्वक ध्वनियों का प्रयोग करना तथा उन्हें सोचना सीख जाता है। बालक में विशिष्टीकरण में वृद्धि भाषा ज्ञान में वृद्धि का समानानुपाती होता है। अर्थात् जैसे जैसे भाषाज्ञान बढ़ता है, वैसे वैसे वह वस्तुओं के छोटे से छोटे गुणों से परिचित होता जाता है। पशुओं में भाषाज्ञान न होने से उन्हें यह सुविधा नहीं है। इसके साथ ही यह भी स्पष्ट है कि चिन्तन तथा शब्दसंसर्ग में अनिवार्य सह-सम्बन्ध नहीं है। यद्यपि मनुष्यों में यह प्रायः सर्वत्र देखा गया है।

इस विवेचन से सिद्ध है कि प्राचीन दर्शन का शब्दानुवेध का सिद्धान्त आज भी कुछ संशोधनों के साथ सर्वशः मान्य है।

संस्कृत विभाग — सुसुम्नाचार्य
मु. म. टाउन पोस्ट ग्रेज्युएट
डिग्री कॉलेज, बलिया (उ. प्र.)

टिप्पणियाँ

१. न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते — वाक्यपदीय

२. चिन्तोत्प्रेक्षादिकाले च विस्पष्टं या प्रतिवेद्यते
अनुविद्धेव सा शब्दैरपह्नोतुं न शक्यते।
तत्त्वसंग्रह प्रत्यक्षलक्षणपरीक्षा १२१९

३. *Journal of Educational Psychology*– 1946, 37, pp. 1–2, 5–6

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

४. मनोनिज्ञान– मानवी समायोजन के मूल सिद्धान्त
लेखक– नॉरमन् एल्. मन्; अनुवादक, आत्माराम साह, पृ. ३५३
५. इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया ।
यां पूर्वाहित संस्कारो बालेऽपि प्रतिपद्यते ।
– वाक्यपदीय १।१२१
६. अतीतमवनीतार्थं भावनावासनान्वयात् ।
सद्योजातोऽपि यद्योगादिति कर्तव्यता पटुः ।
तत्त्वसंग्रह, प्रत्यक्षलक्षणपरीक्षा श्लोक १२१५
७. आधुनिक प्राणिविज्ञान की पुस्तकों में D. N. A. तथा R. N. A. की अनूठी संकेत प्रणाली को विस्तार से समझाया जाता है ।
८. द्वन्द्वात्मक और ऐतिहासिक भौतिकवाद की सरल रूपरेखा पृ. २७१
९. मनोविज्ञान, वही, पृ. २५९

प्रेमचंद नें जो सपना वरसों पहले देखा था, उसे साकार करने वाली
साहित्य अकादेमी की हिन्दी त्रैमासिक पत्रिका

समकालीन भारतीय साहित्य

यह भारत की लगभग सारी भाषाओं के समकालीन रचनाकर्म का अकेला आईना है । पिछले पांच वर्षों से प्रकाशित और प्रतिष्ठित रायल अठपेजी में लगभग १७२ पृष्ठों की इस संग्रहणीय पत्रिका का वार्षिक शुल्क मात्र १६।– (सोलह रुपए) है ।

ग्राहक बनने के लिए आज ही लिखिए :

साहित्य अकादेमी, रवीन्द्र भवन
३५, फीरोजशाह रोड, नई दिल्ली–११०००१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतिक्रियाएँ

– १ –

प्रोफेसर श्री रामजीसिंह का लेख 'समकालीन भारतीय दर्शन की दिशा', जो परामर्श के खण्ड ६ अंक ३ में प्रकाशित हुआ है, समकालीन भारतीय दर्शन की वर्तमान स्थिति पर एक करारा व्यंग और उससे डबरने की तीव्र छटपटाहट का संकेत करता है।

उनके लेख में निम्नांकित मुद्दों पर विचार किया गया है।

१) "वर्तमान दार्शनिक चिंतन और लेखन अतीतोन्मुख और पाश्चात्यानुयायी रहा है"। इसी वृत्ति के कारण समकालीन चिन्तकों में किसी प्रकार की कोई विश्वदृष्टि या जीवन-दृष्टि नहीं पनप पायी जिसके फलस्वरूप यहाँ कोई युगप्रवर्तक चिंतक दर्शन के क्षेत्र में कार्ल मार्क्स, फाइड अथवा विट्गेन्स्टाइन जैसा पैदा नहीं हुआ।

२) भारतीयता का वास्तविक अर्थ क्या है ?

३) क्या दर्शन कालातीत और सार्वभौम होने के कारण संस्कृति निरपेक्ष हो सकता है।

४) 'दर्शन दर्शन के लिए' या 'ज्ञान ज्ञान के लिए' में ही दर्शन की परिणति नहीं है।

५) सर्जनात्मक चिन्तन के विकास के लिए आत्मविश्वास की कमी।

सम्पूर्ण लेख उक्त पांच बिन्दुओं की परिधि में घूमता दृष्टिगोचर होता है। विद्वान् मनीषी ने इन बिन्दुओं की ओर केवल दृष्टिपात भर किया है, इनका गंभीर विवेचन अथवा व्यापक विश्लेषण नहीं। अतः इनकी थीड़ी बहुत समीक्षा आवश्यक जान पड़ती है।

परामर्श (हिन्दी), खंड ७, अंक १, दिसम्बर, १९८५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(१)

यह निर्विवाद है कि भारतीय दार्शनिक सम्पदा अत्यन्त समृद्ध रही है। वेदों से लेकर गदाधर भट्टाचार्य अर्थात् १६-१७ वीं शताब्दी तक का दार्शनिक साहित्य विश्व के किसी भी देश के विकसित दार्शनिक साहित्य की टक्कर में किसी भी प्रकार न्यून अथवा अपर्याप्त नहीं है। कोई युगप्रवर्तक दार्शनिक अपने गौरवमय अतीत से प्रेरणा लेकर ही अपने सिद्धान्तों का नवीन ताना-बाना बुनने में समर्थ हुआ है। प्लेटो-अरस्तु, काण्ट-हेगल, कन्फ्यूसियस-लात्से आदि की भांति ही समकालीन धुरन्धर कार्ल मार्क्स, फ्रायड तथा विटगेन्स्टाइन भी दर्शन के इतिहास की उर्वर भूमि से ही ओज पाकर अपने-अपने नवीन विचारों का सर्जन कर पाये हैं। अतः अतीतोन्मुख होना कोई दुर्गुण या अपराध नहीं है वरन् अतीत की रचनाओं को आत्मसात् न कर पाना गंभीर क्षति है। स्वयं लेखक महोदय यह स्वीकार करते हैं कि अधिकांश भारतीय दार्शनिक चिंतन संस्कृत-पाली या प्राकृत में यत्र तत्र बिखरा बिखरा हुआ है। बिना इन भाषाओं में निष्णात हुए इन ग्रन्थों में मण्डित सूक्ष्म विचारों का अवगाहन असंभव नहीं तो दुष्कर तो है ही।

वर्तमानकालीन दार्शनिकों की पौध जो विश्व विद्यालयों के दर्शन विभाग में उगायी जा रही है वह न तो संस्कृत अथवा कोई प्राचीन भाषा जानती है और अंग्रेजी मातृभाषा न होने और उसके प्रति विद्वेष के कारण उसका अध्ययन-अध्यापन भी मरता जा रहा है। ऐसी स्थिति में विश्वदृष्टि अथवा जीवन-दृष्टि से सम्पन्न कोई मौलिक दृष्टि कैसे अर्जित हो सकती है। न तो आज का समकालीन चिंतक अपने अतीत के उन्नत साहित्य से परिचित है और न विश्व की अनुपम धरोहर की समीक्षा की उसके पास सामर्थ्य है। बाध्य होकर वह कुछ घिसे-पिटे अनुवादों का आधार लेकर कभी भारतीय ग्रन्थों की कतिपय समस्याओं का अधकचरा विवेचन का पाण्डित्य बघारता है अथवा यदा कदा पाश्चात्य समस्या पर अंग्रेजी में लिखकर अपना रोब गायब करता है। विडम्बना तो यह है कि जिन दिग्गज विद्वानों को संस्कृत-पाली-प्राकृत हस्तामलकवत् होने के कारण सिद्धान्तों का मर्म ज्ञात है उन्हें हिन्दी अथवा अंग्रेजी से सरोकार नहीं है। वे कूपमण्डूक बने अपने-अपने शास्त्रों की उधेड़ बुनने में कृतकृत्य हैं और जिन्हें अंग्रेजी या हिन्दी में महारत प्राप्त है उन्हें शास्त्र का अ-आ भी नहीं आता।

अधिकांश भारतीय प्राचीन साहित्य भाष्य-टीका अथवा विवेचना परक व्याख्या-ग्रन्थों में रचा गया है। उन्हें केवल अंधानुकरण मानना अपने ही अज्ञान

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का ढिण्डोरा पीटना होगा। समकालीन युग तो इस विधा में भी दरिद्र है। अतः इस स्थिति से उबरने के लिए ऐसी विद्यापीठों का निर्माण करना होगा जहाँ के प्रोफेसर लम्बे-लम्बे वेतन और सुविधाओं के भोगी न होकर माँ भारती के मन्दिर में कठोर श्रम और शास्त्र-चिन्तन कर लोहे के चने चबाने को तैयार हों। अतीत की कृतियों को आत्मसात करने से उनमें सबल आत्मविश्वास जागेगा, जिसकी कमी की ओर लेखक ने संकेत किया है। पाश्चात्य दर्शन में जो भी विद्या आज तक सम्पन्न रही है उसकी भी समीक्षा करनी होगी और तभी मौलिक चिन्तन का प्रखर सूर्य अपनी रश्मियों से भास्वर प्रकाश की अमर कृतियाँ देने में सम्पन्न होगा। अतः सर्जनात्मक विकास के लिए अतीत को उकेरना और पाश्चात्य का आलोचन दोनों प्रमुख हैं। यह कार्य केवल अतीत की गौरव गाथा गाने मात्र अथवा पाश्चात्य दार्शनिकों की लीवापोती से सम्पन्न नहीं होगा। इसके लिए चाहिए कठोर साधना, अनवरत परिश्रम तथा असीम धैर्य।

(२)

विद्वान् मनीषी ने भारतीयता का कोई सुस्पष्ट लक्षण न देकर केवल संकेत भर किया है ताकि पाठकगण अपनी-अपनी ऊहापोह के द्वारा उसके वास्तविक अर्थ का अवगम कर लें। वस्तुतः 'भारतीयता' पद बड़ा विलक्षण है और इसके क्रोड़ में असंख्य संभावनाय अर्थ-गर्भित हैं। भौगोलिक सीमाओं में आबद्ध भारत-वासियों की समृद्ध जीवन-दृष्टि ही भारतीयता की परिचायक हो सकती है जिसमें भौतिकता, आध्यात्मिकता, उदारता आदि का समावेश हो। समकालीन दार्शनिक चिन्तन को भारतीय कहने का अभिप्राय भारत में विकसित, पल्लवित एवं पुष्पित दार्शनिक सिद्धान्तों की भारतीय चिन्तकों द्वारा की गयी समीक्षा ही हो सकता है। वस्तुतः भारतीयता बड़ा व्यापक एवं अर्थगर्भित पद है जिस पर पृथक् रूप से विचार होना आवश्यक है। वर्तमान प्रयोग में इतना ही उपादेय है।

बिन्दु तीन और चार की व्याख्या करना अत्यन्त आवश्यक जान पड़ता है। इन समस्याओं का भी गंभीर गवेषण लेखक नहीं कर पाये हैं।

सर्व प्रथम मैं लेखक की इस निर्भीकता की सराहना करूँगा कि उन्होंने बड़ी ही स्पष्टता और साहस के साथ यह बात कही है कि 'दर्शन दर्शन के लिए' नहीं है और न ही 'ज्ञान ज्ञान के लिए है'। जो लोग ऐसा मानने के पक्षपाती हैं वे 'स्वान्तः सुखाय' हेतु ऐसी रचना से अपने मनोराज्य की कल्पना को साकार तो कर सकते हैं पर उसकी उपादेयता की झाँकी नहीं दिखला सकते।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसी वृत्ति के कारण दार्शनिक वास्तविक जीवन की कठोर भूमि से पलायन कर गगनाचारी हो कल्पनालोक में विचरण कर मनोराज्य के उन स्वप्न-नीड़ों को बुनता रहता है जिनकी वास्तविकता नगण्य है। भारतीय दार्शनिकों में इस आत्मघाती वृत्ति का उदय पाश्चात्य जगत् का अन्धानुकरण करने से उदित हुआ जान पड़ता है। तभी तो आज का समकालीन दार्शनिक दर्शन को केवल सैद्धान्तिक विश्लेषण या तर्क-युक्तियों के जाल में गुंफित कर फक्र का अनुभव करता है। समाज पर उनकी विचारधारा कुछ गुल खिला रही है अथवा नहीं यह उनका सरोकार नहीं है। समाज कितना दुखी और पीड़ित है यह उनकी चिंता का विषय नहीं है।

अंग्रेजों के आगमन से पूर्व दर्शन यहाँ जीवन-पद्धति के रूप में ही विचारणीय था। जो भी दर्शन ऐसी जीवन-दृष्टि फलीभूत करने में समर्थ होता था, जिसके द्वारा जीवन में आनेवाली समस्त कठिनाइयों को निराकृत कर सुखी, समृद्ध एवं शांतिमय जीवन जिया जा सकता हो, जिसमें दुःखों और क्लेशों का भरसक छुटकारा दिलाने की सामर्थ्य हो वही दर्शन जीवन्त दर्शन कहा जाता था। प्राचीन वैदिक परम्परा में सांख्य-योग, न्याय-वैशेषिक, पूर्वमीमांसा, वेदान्त तथा श्रमण परंपरा में, जैन, बौद्ध एवं आगम परंपरा में विभिन्न तंत्र-दर्शन, शैव और शाक्त दर्शन ऐसी ही जीवन-दृष्टि विकसित करते रहे हैं। भक्ति-आन्दोलन के अमर गायक कवियों ने भी इस धारा को अक्षुण्ण बनाये रखा। किन्तु षड्यंत्रकारी अंग्रजों की कुटिल चाल ने दर्शन को समाज से बिलकुल असंपृक्त बना दिया। परिणामतः दर्शन-सिद्धान्तों की शुष्क खन्दकों की अतुल अन्धकार पूर्ण गहराइयों के गर्त में आकण्ठ निमग्न होकर सिसक रहा है। स्वाधीनता प्राप्त कर लेने के पश्चात् भी इस दिशा में कोई सुधार नहीं हुआ। समकालीन भारतीय चिन्तन भी सैद्धान्तिक ताने-बाने बुनने और इसके तथाकथित आका अपने लिए सुविधाओं का अंबार जुटाने में ही कृतसंकल्प हैं। यही कारण है किसी सशक्त जीवन-पद्धति के विकासोन्मुखी उद्भव के अभाव में आज के भारत में बहुसंख्यक अर्थात् सत्तर प्रतिशत जनता दुख-दैन्य और गरीबी की यातना चुपचाप भुगत रही है। अपनी स्थिति से उन्हें असंतोष भी नहीं है। सभी भगवान भरोसे छोड़ दिया है। मुट्ठीभर लोग रिश्वत बाजी, काला बाजारी, लूटखसोट के आधार पर शोषण-तंत्र को बरकरार रख गुलछर्रे उड़ा रहे हैं। आज का दार्शनिक मूक द्रष्टा बना देख रहा है यह सब क्यों नहीं उसके हृदय में भी आचार्य शंकर की भाँति बौद्ध तांत्रिको के विकृत वामाचार के कारण आयी सामाजिक विसंगतियों के कारण छटपटाहट होती ? क्यों नहीं ऋषि दयानन्द की भाँति भारतीय समाज में आई कुरूढ़ियों और कुसंस्कारों के प्रति उठता है उसके मन में तीव्र आक्रोश ?

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संस्कृति बड़ा व्यापक शब्द है। इसमें सभ्यता, धर्म, वेशभूषा, रहनसहन का का ढंग, साहित्य आदि सभी समाविष्ट हैं। इस दृष्टि से दर्शन ही नहीं कोई भी विद्या संस्कृति-निरपेक्ष नहीं हो सकती। किन्तु 'सांस्कृतिक कार्यक्रमों' के अन्तर्गत जो संस्कृति शब्द की दुर्गति हुई है उससे निरपेक्ष रहना ही सार्थक होगा। अतः दर्शन को समाज-सापेक्ष कहना अधिक समीचीन होगा।

दर्शन दर्शन के लिए नहीं वरन् सुखी-समृद्ध कल्याणकारी समाज रचना के लिए उन्मुख होना चाहिए। यहाँ भी दार्शनिक को सार्त्र की भाँति सामाजिक अत्याचार और शोषण के विरुद्ध झण्डा उठाना होगा। बर्ट्राण्ड रसेल की भाँति युद्ध-लिप्सुओं को ललकारना होगा। केवल हाथ पर हाथ धरे समाज-दुर्दशा को मूक बन निहारना कायरता है।

दर्शन विभाग
सागर विश्वविद्यालय,
सागर-४७०००३

— भजनारायण शर्मा

कला-दर्शन
दर्शन, ललित कला एवं संस्कृति विषयक त्रैमासिक

सम्पादक
डॉ. प्रकाशवती शर्मा; डॉ. मुरारी शर्मा

सदस्यता : रुपये ३५।—

सम्पर्क : डॉ. जयचन्द्र शर्मा
स्टेट बैंक के पास, औद्योगिक क्षेत्र, बीकानेर-३३४००१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

– २ –

परामर्श के जून ८५ के अंक में प्रकाशित डॉ. रामजी सिंह का लेख 'समकालीन भारतीय दर्शन की दिशा' अभिनन्दन के योग्य है। रामजीबाबू के विचारों में मुझे अपने विचारों की प्रतिध्वनि मिली। उनके समान दर्शन और जीवन के समन्वय के प्रति समर्पित व्यक्ति द्वारा ऐसा निबन्ध लिखना वास्तव में दर्शन से जुड़े सभी भारतीय प्राध्यापकों एवं छात्रों के लिए उद्‌बोधन है। निबन्ध के विषय से सम्बद्ध मेरे कुछ विचार हैं जिन्हें सामने रखना चाहूँगा।

इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि भारत में दर्शन पिछले कई दशकों से भीषण गतिरोध में है। इसका कारण, जैसा कि रामजीबाबू ने बताया है, अतीत की अन्ध-भक्ति और पाश्चात्य दर्शन का अन्धानुकरण ही है। हमारा राष्ट्रीय चरित्र बताना शायद कठिन हो लेकिन हमारे प्रमुख राष्ट्रीय दुर्गुणों में से एक है– वर्तमान की उपेक्षा करते हुए अतीत की महिमा का गायन। हमें अपना अतीत सर्वज्ञानी, सर्वगुण-सम्पन्न लगता है : नवीनतम खोजों का भी संचित भंडार हमें अपने प्राचीन ज्ञान में दिखायी पड़ता है। यदि आधुनिक विज्ञान ने 'टेस्ट-ट्यूब शिशु' उत्पन्न किया हो तो वह भी हम महाभारत के सगर-पुत्रों के आख्यान में खोज लेते हैं, लेकिन तभी, जब पश्चिम उसे उद्‌घाटित कर चुका होता है, पहले से नहीं। वास्तव में यह हमारी भीषण पंगुता और दूसरों की कृति का श्रेय लेने की लालच भरी प्रवृत्ति का द्योतक है। तेजस्वी पिता का तेजस्वी पुत्र वह नहीं जो केवल पिता की महिमा गाता फिरे, वरन् वह है जो अपने पुरुषार्थ के यश से अपने पिता का यशोवर्द्धन करे। यही तेजस्विता की सत्य-वंशानुगत पहचान होगी। यदि हमारी संस्कृति और हमारा दर्शन महान् है तो हमें इसे अपने आज के समय में अपनी कृति से सिद्ध करना होगा। पुरखों की महानता से स्वयं को महान् के रूप में स्थापित करने की चेष्टा क्षुद्रता ही है।

वास्तव में हमारा मौलिक चिन्तन खो गया है। हमने स्वयं सोचने की क्षमता बिसार दी है। यही कारण है कि हम अपने पैरों पर नहीं खड़े हो पा रहे। या तो हम अपने पुरखों के यश की बैसाखी लेते हैं या जो इससे बचना चाहते हैं वे आयातित दर्शन के नकली पैर लगा लेते हैं– लेकिन दोनों से हमारी अपंगता और उभर आती है। मूल बात यह है कि हम अपनी अभी की स्थिति पर दृष्टि डालते ही नहीं, उससे कतरा कर निकल जाते हैं। हमारे मस्तिष्क में पहले के सिद्धांत इतने भरे पड़े हैं कि समस्या को पूरी तरह देखे बिना ही हम अपने

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पास के समाधान टटोलने लगते हैं। 'मृत्यु की समस्या है तो आत्मा की अमरता का समाधान तुरन्त आ जाता है; सामाजिक अन्याय का प्रश्न है तो मार्क्स का समाजवादी सिद्धांत पहले से ही उपस्थित हो जाता है। तात्पर्य यह कि हमारे मन में पठित विचारों का ढेर यों भरा है कि हमारे स्वयं के विचार के लिए अवकाश ही नहीं बचता।

दूसरी बात, जो शायद पहली से भी महत्त्वपूर्ण है,– जैसे देश में व्याप्त भ्रष्टाचार में अपना कोई काम करवाने के लिए "पैरवी" का बोल-बाल है वैसे ही दर्शन में भी अपनी कोई बात प्रतिष्ठित करवाने के लिए प्रतिष्ठित दार्शनिकों का उद्धरण देने का बड़ा महत्त्व हो गया है, मानों उन दार्शनिकों का उद्धरण हमारे लिए अनुशंसा-पत्र हों। यह "दार्शनिक-पैरवी" नये चिंतन के लिए घातक है। हमारे मन में जब कोई नया विचार उत्पन्न हुआ है तो स्वभावतः वह पूर्व-स्थापित सिद्धांतों की स्वीकृति लेकर नहीं पैदा होता। किंतु तब उस नये विचार को पोषित कर परिपक्व करने का साहस हम नहीं कर पाते और उसे छोड़ कुछ परम्परा-सिद्ध तत्त्व खोजने लगते है।

उपरोक्त दो दोष ऐसे हैं जिन्हें छोड़ देने से मौलिक चिंतन के अवरोध हट जाते हैं। फिर दार्शनिक चिंतन के लिए विषय-वस्तु का अभाव नहीं है। फिर समाज-चिंतन ही एकमात्र वस्तु नहीं; फिर तो नया विज्ञान-चिंतन, नीति-चिंतन, राजनीति-चिंतन, एवं स्वयं दार्शनिक-चिंतन के लिए नये आयामों का उद्घाटन शुरू हो सकता है। तब हम जो भी चिंतन करेंगे वह भारतीय चिंतन ही होगा क्योंकि हम भारतीय हैं ही। जैसे हमें स्वयं को भारतीय सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं– वह हम जन्मजात है, वैसे ही हमारा चिंतन 'भारतीय नवीन चिंतन' होगा ही, उसे सिद्ध करने की जरूरत नहीं पड़ेगी। मुख्य प्रश्न यह नहीं कि समसामयिक भारतीय दर्शन की दिशा क्या हो; प्रश्न यह है कि वर्तमान में भारत में मौलिक चिंतन किस तरह प्रारम्भ हो? चिंतन शुरू हो तो वह दिशा का स्वयं निर्देश करेगा।

– हिरेन्द्र प्रसाद साह

व्याख्याता
दर्शन-शास्त्र विभाग
बी. एस. कॉलेज
लोहरदगा (रांची) बिहार

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

— ३ —

परामर्श (हिन्दी) खण्ड ६, अंक ४ में 'दम्पति' का लिंग निर्धारित करते हुए अनिलकुमार हर्षे ने भाषा और व्याकरण की दुहाई दे कर 'इकारान्त या ईकारान्त' शब्द स्त्रीलिंगी ही होने का दुराग्रह दिखाया है, वह बड़ा गड़बड़ घोटाला करेगा। 'रवि' बेचारा स्त्री-सुलभ लज्जा से लाल हुआ करेगा। 'कवि' से संयोजक कवि-सम्मेलनों में पूछा करेंगे - कवि, तुम क्या खाओगी, क्या पहनोगी, किसके कमरे में सोओगी आदि; 'पवि' पर जो स्त्रैणता का वज्रपात होगा उसे कौन सम्भालेगा ? 'हरि' जी तो खैर अपनी राधा को याद करते हुए राधिका-रानी बन जायेंगे। पर, 'अग्नि' शान्तिदेवी की शरण कैसे जाएगा, और 'शनि' की कन्याराशि कैसी बेतुकी लगेगी। 'पति' तो आज नारी-स्वातन्त्र्य की दुहाई देते-देते अबला-कोटि को पहुँच ही गये हैं, पर 'करि' और 'केशी' को कैसे मादा बनने पर आमादा हुआ जायगा ? सभी मनस्वी, तपस्वी, तेजस्वी, संयमी मेधावी साडी और ब्लाउज में बृहन्नला की भूमिका निभाएँगे। 'शकुनि' को नारी की श्रेणी में रखा गया तो वह इसके प्रतिकार के लिये जो कुचक्र रचेगा, उस जुए की जुआ अपने कन्धों पर कौन रखेगा ? 'शमी' वृक्ष लता की योनि ग्रहण करने पर कैसा घुई-मुई हो जायगा ? और जब 'अरि' अपनी नारी-सेना ले कर टूट पड़ेगा तो भोगिराज मत्स्येन्द्र-पथ तो सहज ही मारे जायेंगे। 'यति' लोग भी अपनी लिंग-परिवर्तन-दुर्दशा पर अग्नि-दाह की तैयारी करेंगे।

और भी न जाने किस-किस की दुर्दशा होगी। अपवाद दो-चार का होता है, हजार का नहीं। स्त्री तो अबला पहले की कहलाती थी, आज पति भी पत्नियों के आगे अबल हैं। अतः 'दम्पति' गुण-धर्म के कारण 'नपुंसक' रहे तो कैसा ?

ए–२६, लजपत नगर–४
साहिबाबाद–२०१००५
(उ. प्र.)

– विश्वप्रकाश दीक्षित 'बटुक'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रन्थ–समीक्षाएँ

– १ –

साहित्य-विविधा; (डॉ.) रमेशचन्द्र लवानिया, अमित प्रकाशन, गजियाबाद; पृ. ११८ मूल्य; पचास रुपये.

साहित्य-विविधा साहित्य की विभिन्न विधाओं को एकत्र विवेचित और विश्लेषित करने का परिश्रम-साध्य प्रयास है। इसमें प्राचीन एवं आधुनिक साहित्य-विधाओं के सम्यक् विवेचन का प्रयास किया गया है। विभिन्न साहित्यिक विधाओं के सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्षों का एकत्र विवेचन इस पुस्तक की विशिष्ट उपलब्धि है। काव्य, नाटक, एकांकी ध्वनि-नाट्य, गीति-नाट्य, उपन्यास कहानी, समालोचना, निबंध रेखाचित्र, संस्मरण, रिपोर्ताज, जीवनी, आत्मकथा, डायरी, यात्रा-साहित्य, लघुकथा, साक्षात्कार, परिसंवाद, मोनोलॉग, फैंटेसी, और परिचयी जैसी साहित्यिक विधाओं, उनके प्रकारों, उनकी प्रमुख विशेषताओं, परस्पर अन्तरों आदि की सम्यक् चर्चा के साथ एक स्थान पर प्रस्तुत करना वस्तुतः एक अभाव की पूर्ति है।

पुस्तक के आरंभ में 'साहित्य' का स्वरूप विश्लेषित करने के क्रम में भरतमुनि से लेकर प्रेमचन्द तक के मतों का उल्लेख किया गया है। साथ ही पाश्चात्य चिंतकों की मान्यताओं को भी प्रस्तुत किया गया है। तुलनात्मक विमर्श के पश्चात् लेखक ने अपनी परिभाषा भी प्रस्तुत की है। यथा– "जो शब्दार्थ सहृदय की प्रातिभ शक्ति को जागृत कर उसे साधारणीकृत अवस्था में पहुँचाने की क्षमता रखता है, वह काव्य है।" (पृ. १९) लेखक की उक्त परिभाषा पारंपरिक भारतीय चिंतन का ही समर्थन करती है। काव्य के भेदों– महाकाव्य, एकार्थ-काव्य, खण्ड-काव्य, मुक्त काव्य, गद्य काव्य– पर विचार करते हुए भारतीय एवं पाश्चात्य दृष्टिकोणों को अति संक्षेप किन्तु स्पष्टता के साथ प्रस्तुत किया गया है। विभिन्न काव्य-रूपों के संबंध में भारतीय एवं पाश्चात्य चिंतकों की मान्यताओं के संदर्भ में उनके दृष्टिकोणों को रेखांकित करने का भी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रयत्न किया गया है। इसके साथ ही हिन्दी-काव्य की अधुनातन कृतियों को उद्धृत करके विभिन्न काव्य-रूपों की अवधारणा को स्पष्ट किया गया है। विभिन्न काव्य रूपों के प्रभेदों का उल्लेख भी अध्येताओं के लिए लाभकारी है।

नाटक से लेकर नीति-नाट्य तक के विविध नाट्यरूपों का विचार भारतीय एवं पाश्चात्य चिंतन के साक्ष्य पर किया गया है। पारंपरिक भारतीय चिंतन में नाट्य संबंधी मतों और उनके बीच परस्पर अन्तरों को भी रेखांकित किया गया है। इस संक्षिप्त विवेचन से नाट्य-शास्त्रीय भारतीय चिंतन का ऐतिहासिक विकासक्रम भी ज्ञात हो जाता है। भारतीय एवं पाश्चात्य नाट्य-चिंतन की मूलभूत विशेषताओं को रेखांकित करते हुए अधुनातन अवधारणाओं का परिचयात्मक विवेचन इस विधा के सम्यक् आकलन में उपादेय सिद्ध हुआ है। विभिन्न नाट्यरूपों के प्रभेदों का विवेचन और उनपर दी गई विचारकों की टिप्पणियाँ भी अध्ययन की दृष्टि से उपादेय हैं। विभिन्न नाट्यरूपों की चर्चा के संदर्भ में हिन्दी की कतिपय नाट्य-कृतियों का उल्लेख किया गया है जिससे नाट्य-विद्या के प्रभेदों को समझने में सुविधा हो सकती है। ध्वनि-नाट्य और गीति-नाट्य जैसी नव्यतम विधाओं पर भी स्पष्टता से विचार किया गया है।

उपन्यास-विधा पर विचार करते हुए लेखक ने उपन्यास शब्द की व्युत्पत्ति से लेकर उसकी वर्तमान अवधारणा तक विवेचित करने का प्रयत्न किया है। अन्य विधाओं की भाँति उपन्यास विधा पर पड़े पाश्चात्य प्रभाव एवं वस्तु तथा शिल्पगत विशेषताओं को संक्षिप्त रूप से किन्तु समग्रता के साथ विश्लेषित करने का प्रयत्न किया गया है। विषय वस्तु की दृष्टि से घटना-प्रधान, सामाजिक, मनोवैज्ञानिक, यथार्थवादी, ऐतिहासिक और आंचलिक जैसे प्रभेदों पर प्रकाश डाल कर उपन्यास-विद्या को समग्रता में मूल्यांकित करने का प्रयत्न किया गया है।

कहानी-विधा के संबंध में लेखक की स्थापना है कि 'कहानी साहित्य की वह लघुविधा है जिसमें किसी एक घटना, अनुभूति अथवा मूल्य का चित्रण कथात्मक ढंग से इस प्रकार किया जाता है कि रोचकता बनी रहती है। कथानक का संघर्ष ही उसकी आत्मा है।' (पृ. ८३) लेखक ने आधुनिक कहानी को अंग्रेजी की 'शार्ट स्टोरी' से प्रभावित विधा माना है और पश्चिमी परिभाषाओं के आधार पर ही उसे विवेचित करने का प्रयत्न किया है। कहानी विधा के भारतीय स्त्रोतों का उपयोग नहीं किया गया है। कहानी के तत्त्वों, आवश्यक घटकों, शैलियों आदि के विश्लेषण के साथ ही, कहानी और उपन्यास के बीच भेदक रेखाओं को भी आलोकित किया गगा है। विभिन्न कहानियों के उद्धरणों से आधुनिक हिन्दी कहानी के बहु-आयामी स्वरूप को स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समालोचना-साहित्य पर विचार करते हुए उक्त शब्द के उद्भव और विकास के विवेचन साथ ही पारंपरिक रीति से आलोचक के प्रकार, आलोचक के गुण, आलोचना के मूल्य, आलोचना के प्रकार जैसे शीर्षकों पर विवेचन-विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। इस विमर्श में भी समालोचना के समानार्थी अँग्रेजी के 'क्रिटिसिज्म' को ही केन्द्र में रखा गया है और साहित्य-चिंतन की भारतीय परंपरा को उचित स्थान नहीं मिल पाया है।

निबंध, ललित निबंध, रेखाचित्र, संस्मरण और रिपोर्ताज जैसी साहित्यिक विधाओं का परिचयात्मक विवेचन किया गया है। इन विधाओं के प्रकारों, घटकों वैशिष्टचों और उद्देश्यों के साथ ही उनके परस्पर अन्तरों को भी स्पष्ट रूप से रेखांकित किया गया है। इन विधाओं के संबंध में विभिन्न भारतीय और पाश्चात्य विद्वानों द्वारा दी गई परिभाषाओं के आधार पर उन्हें स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है। जीवनी, वासरी, आत्मकथा जैसी विधाओं का विवेचन भी उपर्युक्त पद्धति पर ही किया गया है।

पुस्तक-समीक्षा, संलाप, पत्र-साहित्य, लघुकथा, साक्षात्कार, परिसंवाद; मोनोलॉग, फैंटसी और परिचर्चा जैसी साहित्य-विधाओं पर अति संक्षेप में परिचयात्मक विवेचन प्रस्तुत किया गया है किन्तु इन विधाओं की मूल अवधारणाओं, उनकी विशेषताओं, प्रमुख तत्त्वों, शैलियों आदि को रेखांकित करने का प्रयास किया गया है।

साहित्य-विविधा का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण वैशिष्टच यह है कि साहित्य के सामान्य अध्येता को आधुनिक युग में प्रचलित समस्त साहित्यिक विधाओं का परिचय एक ही स्थान पर उपलब्ध हो जाता है। यह पुस्तक गहन और व्यापक अध्ययन की सुविधा न प्रदान कर उसकी प्रेरक भूमिका का कार्य करती है। इसी दृष्टि से साहित्य के विद्यार्थियों के लिए अत्यंत उपयोगी है। विभिन्न विधाओं के विवेचन में अपनायी गई प्रणाली पाठचपुस्तकीय आवश्यकता की पूर्ति करती है। विकास-क्रमों, उद्धरणों, अभिमतों और संकल्पनाओं का संग्रह और उपयोजन श्रमसाध्य और संकल्पनाओं का संग्रह और उपयोजन श्रमसाध्य और कौशलपूर्ण है। कतिपय स्थानों पर मुद्रण की भूलें भ्रमात्मक और अनर्थकारी हो गयी हैं यथा– रेखाचित्र की विद्या पाश्चात्य प्रभाव से उद्भूत है। (पृ. ११८) आधे कसे सीनेवाली ग्राम बघूरियाँ (पृ. १२१)। कुल मिलाकर यह पुस्तक लेखक की श्रम-निष्ठा और संयोजन-कुशलता को प्रमाणित करती है। साहित्य के सामान्य विद्यार्थी इससे निश्चित रूप से लाभान्वित होंगे।

– रामजी तिवारी

हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे– ४११००७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

– २ –

भाषाज्ञानविन की रूपरेखा; (डॉ.) हरीश शर्मा, अमित प्रकाशन, गाजियाबाद; पृ. सं. ४४६ मूल्य; रु. ३५.

भाषाविज्ञान की रूपरेखा स्नातक और स्नातकोत्तर कक्षा के विद्यार्थियों के लिए एक उपयोगी पाठ्य-पुस्तक है। लेखक डॉ. हरीश शर्मा ने बड़े श्रम से भाषा-विज्ञान जैसे जटिल विषय को बड़ी व्यवस्था और स्पष्टता के साथ प्रस्तुत करने का प्रयत्न किया है। आरंभ में भाषा-विज्ञान की सैद्धान्तिक और व्यावहारिक स्थितियों पर विचार करते हुए उसकी अध्ययन पद्धतियों तथा अन्य ज्ञान-शाखाओं की तुलना करते हुए उसपर विचार किया गया है। इसी क्रम में भाषा की उत्पत्ति के सिद्धान्तों, उसके विकास की दिशाओं, क्षमताओं, व्यावहारिक रूपों आदि को पद्धतिपूर्ण ढंग से स्पष्ट किया गया है। इस संबंध में विशेष उल्लेखनीय बात यह है कि लेखक ने पाश्चात्य भाषा वैज्ञानिक चिंतन को प्राचीन भारतीय भाषागत चिंतन-साक्ष्य पर विवेचित करने का प्रयत्न किया है। इस तुलनात्मक विवेचन से वैदिक काल से लेकर अद्यावधि तक के भाषाविषयक भारतीय चिंतन का सार सामने आ जाता है।

ध्वनि-विज्ञान और रूप-विज्ञान जैसी आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक अवधारणाओं पर बड़ी सूक्ष्मता से विचार किया गया है। ध्वनि-विज्ञान के विवेचन में उसके वर्गीकरण, परिवर्तन के कारणों, परिवर्तन की दिशाओं आदिपर विस्तार से विचार किया गया। विभिन्न विचारकों के मन्तव्यों पर भी आलोचनात्मक दृष्टि से विचार किया गया है। ध्वनियंत्रों को स्पष्टरूप से समझाने के लिए चित्रों का उपयोग भी सार्थक रीति से किया गया है। भाषा की उच्चारण, श्रवण और वहन पद्धतियों और प्रक्रियाओं का विवेचन भी अत्यंत उपयोगी है। रूप-परिवर्तन के विभिन्न आधारों के विवेचन के साथ रूप-परिवर्तन की दिशाओं और रूप-परिवर्तन के कारणों पर विस्तार से विचार किया गया है।

वाक्य-विज्ञान का विवेचन भाषा-विज्ञान की अन्य विधाओं के आलोक में तुलनात्मक विश्लेषण के साथ किया गया है। वाक्य-विकास के क्रमिक अध्ययन के साथ ही वाक्य-परिवर्तन के विभिन्न कारणों पर विस्तार से विचार किया गया है। छोटे-छोटे शीर्षकों में विभाजित विश्लेषण स्पष्टता की दृष्टि से पद्धतिपूर्ण और उपादेय है। अर्थ-विज्ञान पर विचार करते हुए लेखक ने अर्थ-विज्ञान की संकल्पना को रेखांकित किया है। अर्थ-विज्ञान संबंधी सिद्धान्तों और उसके क्षेत्र स्पष्टीकरण के साथ ही अर्थगत परिवर्तनों की विभिन्न स्थितियों और उनके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कारणों पर भी प्रकाश डाला गया है। अर्थ-विज्ञान के विवेचन में कोशीय अर्थ से लेकर अन्य व्यंजनाओं तक को प्राचीन और अधुनातन उद्धरणों के आधार पर विभिन्न सिद्धान्तों को पुष्ट किया गया है। अधिसंख्य उद्धरणों के कारण विषय सरल और बोध-गम्य हो गया है। कोश-विज्ञान के विवेचन की आवश्यकता से लेकर उसके विभिन्न स्वरूपों की चर्चा की गई है। पूर्ववर्ती अध्यायों की भाँति भी यहाँ भी अन्य विज्ञानों से उसकी तुलना की गई है। परिशिष्ट में भारतीय और पाश्चात्य भाषा-चिंतन का संक्षिप्त इतिहास प्रस्तुत किया गया है। यह अंश छात्रों के लिए विशेष उपयोगी हो सकता है।

इस पुस्तक में विभिन्न बोलियों पर विचार करने वाले भाषा-भूगोल का समावेश नहीं है जो इस प्रकार के अध्ययन को अधूरा बनाता है। इसी प्रकार लिपि-विज्ञानपर भी विचार नहीं किया गया है। यदि इनका भी समावेश पुस्तक में होता तो उसकी उपयोगिता बढ़ जाती। फिर भी यह पुस्तक छात्रोपयोगी सिद्ध होगी।

– रामजी तिवारी

हिन्दी विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे– ४११ ००७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

— २ —

जैन, (डॉ.) सागरमल; (१) जैन, बौद्ध और गीता का साधनामार्ग (२) जैन, बौद्ध और गीता का समन्वय-दर्शन, प्राकृत भारती संस्थान, जयपुर, १९८२; पृ. (१) १४२ (२) ११२; मूल्य : (१) बीस रुपये, (२) सोलह रुपये. (हरेक पुस्तक अजिल्द)

डॉ. सागरमल जैन की ये दोनों कृतियाँ तुलनात्मक दार्शनिक अध्ययन के उत्तम उदाहरण हैं। आजकल धर्म के दोनों पक्ष-साधना और सामजिक मूल्य-विद्वानों का ध्यानाकर्षण करते हैं। डॉ. जैन ने भारत के तीनों मुख्य वैदिक एवं अवैदिक सम्प्रदायों की यथातथ्य विवेचना समन्वयात्मक दृष्टि से प्रस्तुत की है। भारत के सभी मुख्य धर्मों की उपस्थापना इसी दृष्टि से होनी चाहिये। तब हमारी राष्ट्रीय एकात्मता पारस्परिक सहिष्णुता और मानवीय सह-अस्तित्व की भावनाएं और भी दृढ होंगी। अनेकता में एकता का सार्वभौम सिद्धान्त सर्वमान्य प्रतिष्ठा प्राप्त करेगा और सर्वधर्म-समभाव प्रतिष्ठित होगा।

डॉ. जैन की पहली कृति में यह भली-भाँति प्रदर्शित है कि जैन, बौद्ध और गीता के साधना-मार्ग में मौलिक एकता के साथ ही प्रायोगिक स्वातन्त्र्य और वैविध्य को व्यक्त करने का प्रयास होता है। भारत में योग-साधना और नैतिक आचार-विचारों के परिपालन का मुख्य उद्देश्य समता ही है। यह वैयक्तिक राग-द्वेष और मानसिक विकृतियों तथा अन्तर्द्वन्द्वों के परिहार से सधता है ऐसा सभी धार्मिक सम्प्रदाय मानते हैं। कहना न होगा कि इस प्रकार चेतना का जो उच्च स्तर प्रकट होता है शायद जीवन में वह सब से बड़ी उपलब्धि बन जाता है।

यदि हम धर्म की सामान्य परिभाषा 'यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः सः धर्मः' मानें तो यह निश्चय करने में कठिनाई नहीं होती है कि मानव किसी भी जगह और वक्त धर्म से अलग नहीं होता। डॉ. जैन ने पृ. ८ और ९ पर दी हुई अपनी सारिणियों में खूबी से यही दर्शाया है। मेरा खयाल है कि आज के मनीषी व्यक्ति इस सारिणी-निर्देशन में निवर्तक धर्म को ही ज्यादा पसन्द करेंगे। शायद इसीलिए डॉ. भीमराव आम्बेडकर ने नव-बौद्ध सम्प्रदाय का प्रवर्तन किया था जिसमें भारत के सभी मूल धर्मों का समन्वय साधा गया है।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ७, अंक १, दिसम्बर १९८५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

डॉ. जैन की यह धारणा भी सच ही लगती है कि जैन, बौद्ध और गीता की साधना का मूल-केन्द्र चित्तगत समत्व या चेतना की निराकुल दशा है। उनका कहना है कि प्रवृत्ति और निवृत्ति "दोनों की अपनी अपनी सीमाएँ हैं"। "निवृत्ति का क्षेत्र आन्तरिक एवं आध्यात्मिक जीवन है, और प्रवृत्ति का क्षेत्र बाह्य एवं सामाजिक जीवन है। दोनों को एक दूसरे के क्षेत्र का अतिक्रमण नहीं करना चाहिए।" निवृत्ति की उपादेयता तभी रहती है जब वह लोक-मङ्गल से कभी विमुख नहीं होती। वह मात्र अशुभ से मुँह मोडती, और आत्म-पीडन तो कभी नहीं बनती। कारण वैयक्तिक आध्यात्मिक का उत्कर्ष तो निजी जागरूकता के नैरन्तर्य से ही सधता है। प्रवृत्ति की उपादेयता के लिये भी उसकी शुभान्वेषिता विवेकपूर्ण क्रियान्वयन और सभी प्रकार का संयमन जरूरी हैं।

डॉ. जैन की दूसरी कृति में पहली की तरह आठ नहीं सिर्फ छह अध्याय हैं। लेकिन इनके शीर्षक अवद्येय हैं; (१) भारतीय दर्शन में सामाजिक चेतना, (२) स्वहित बनाम लोकहित, (३) वर्णाश्रम व्यवस्था, (४) स्वधर्म की अवधारणा (५) सामाजिक नैतिकता के केन्द्रिय तत्त्व—अहिंसा, अनाग्रह और अपरिग्रह, (६) सामाजिक धर्म एवं दायित्व। छहों अध्यायों में गंभीर विवेचनाएँ हैं। ये डॉ. जैन के गहरे अध्ययन, निष्पक्ष विचार-विमर्श एवं पैनी सूझ-बूझ की परिचायक हैं। मसलन, सामाजिक चेतना के विकास की दृष्टि से डॉ. जैन भारतीय चिन्तन के प्राचीन युग को त्रिविध मानते हैं, वैदिक, औपनिषदिक एवं जैन-बौद्ध। उनका यह कथन भी सच ही है कि "सच्ची सामाजिक चेतना का आधार राग नहीं, विवेक होता है।" सामाजिक विषमता के चार मूलभूत कारण भी ठीक ही निर्देशित हैं: संग्रह, आवेश गर्व और माया। इन चारों का अर्थ वे क्रमशः लोभ, क्रोध, अहंमन्यता, और छिपाव-दुराव भी ठीक ही करते हैं।

इसी तरह डॉ. जैन ने बौद्ध मत की और एक बात पर जोर दिया है, "आत्महित और लोक-हित जबतक नैतिकता की सीमा हैं, तबतक न उसमें विरोध रहता है, और न कोई संघर्ष ही होता है।" यह सच आज के युग में विशेषतया विचारसरणीय है। इसी को धर्म की मर्यादा कहते हैं। इसी के परिपालन से आत्महित स्वार्थीपन से बच सकता है और लोक-हित तरह-तरह के ढोंग से। साथ में यह भी ध्येय है कि "राग, द्वेष और मोह के प्रहाण के बिना अपना और दूसरों का वास्तविक हित किसमें है, यह नहीं जाना जा सकता।"

'जन्मना जातिः अथवा कर्मणा' यह विवाद भारतीय समाज के प्रगति-पथ का सबसे बडा कांटा रहा है। बुद्ध और महावीर ने 'जन्मना जाति-भेद'

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को नहीं माना और शायद गीताकार या गीता-प्रवर्तकों ने भी नहीं, जैसा कि 'चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः' से स्पष्ट होता है। गुण और कर्म वंशानुक्रम से ही सदा निर्धारित नहीं होते, प्रशिक्षण से भी होते हैं, हो सकते हैं। इतिहास साक्षी है इस तथ्य का कि 'जन्मना जातिवाद' निहित स्वार्थों की देन है। जैसे कि परवर्ती काल में वर्ग और श्रेणी-व्यवस्था निहित स्वार्थों के कारण ही पनपती गयी।

डॉ. जैन ने इन सब बातों की बहुत अच्छी विवेचना की है। स्वभाव और व्यवसाय ही अन्ततः जाती के नियामक बनते हैं, यह सच उन्होंने भी रेखांकित किया है। वे वर्ण-निर्धारण में गुणों को ही प्राथमिकता देने के पक्ष में हैं, जो सर्वथा स्वीकार्य है। इसी प्रकार यह भी एक सम्मान्य सच है कि वर्ण परिवर्त्य है। कोई भी कर्तव्य या व्यवसाय न अपने आप में श्रेष्ठ है, न हीन है। व्यक्तिगत हीनता या श्रेष्ठता की निर्णायक तो व्यक्ति की नैतिक निष्ठा ही हो सकती है, और कुछ भी नहीं।

डॉ. जैन बड़ी कुशलता से यह प्रतिपादित करते हैं कि भगवद्गीता में हिंसा अथवा युद्ध का समर्थन तदर्थ नहीं है। वह तो अपवाद के रूप में है। अन्यथा, गीता तो अहिंसा का ही समर्थन करती है जैसा कि "आत्मौपम्येन सर्वत्र यः पश्यति स पश्यति" से प्रकट होता है। या जैसा कि "वैदिकी हिंसा हिंसा न भवति' में कहा गया है। क्योंकि हिंसा राग-द्वेष के बिना संभव नहीं होती। अन्याय, अत्याचार, आततायीपन के प्रतिकार में कभी-कभी हिंसा अनिवार्य हो जाती है। किन्तु वह भी तभी 'कर्तव्य' बनती है जब राग-द्वेष के बिना की जाय। आत्म-संरक्षण (चाहे वह वैयक्तिक हो या सामाजिक, राष्ट्रीय हो अथवा मानवीय) के लिये हिंसा करना कानूनी निगाह से भी हिंसा नहीं ठहरती। अहिंसा माने जिजीविषा का समादर। भयभीत का दुष्कर्म नहीं। अहिंसा के मूलाधार तो जीवन के प्रति सम्मान, समत्व-बुद्धि और अद्वैत की उपलब्धि हैं। गीता ने इसी को 'आत्मवत् सर्वभूतेषु' द्वारा कहा है। जैनागमों में उसके पर्यायों की संख्या साठ है, माने अहिंसा सारे सद्गुणों की सूचक है। बौद्ध धर्म में भी किसी को किसी भी प्रकार का दुःख न देना अहिंसा का परिपालन है। "प्रमत्तावस्था में ही कोई हिंसक हो सकता है, अप्रमत्त होकर नहीं। तब तो वह सदा, सर्वत्र, सर्वथा अहिंसक ही होता है।" वस्तुतः हिंसा-अहिंसा का रिश्ता बाहरी घटनाओं से उतना नहीं होता जितना कि आन्तरिक वृत्तियों से रहता है। सामान्यतः व्यक्ति की जैसी वृत्तियां रहती हैं वैसा ही उसका आचरण रहता है।" डॉ. जैन के ये दोनों निष्कर्ष अवधार्य हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यहाँ मुझे सिर्फ एक ही बात कहनी है। डॉ. जैन प्राण-हानि और हिंसा का भेद और भी अच्छी तरह से स्पष्ट करते तो ठीक होता। और भी कुछ भ्रान्तियाँ निराकृत होतीं। विशेषतः सामाजिक सन्दर्भ में। वैसे वे अहिंसा का 'त्रि-आयामी' अर्थ समझते हैं। उसका विधेयात्मक पक्ष दया, दान, करुणा, सेवा, सहयोग में प्रस्फुटित मानते हैं, जो सामाजिक सन्दर्भ में ठीक तरह प्रतिपादित होता है। लेकिन किसी भी शब्द को व्यापक अर्थ देना ही तो उसकी सार्थकता नहीं बढ़ा देता।

डॉ. जैन की निष्पक्षता ने उनकी तुलनात्मक विचारणाओं को पूर्वाग्रह-मुक्त रखा है। तभी वह ऐसे वाक्य लिख पाये हैं: "मानवता के लिये सेवा और करुणा का जो विस्फोट जैन धर्म में होना चाहिये था वह न हो सका। अहिंसा और अनासक्ति की जो सूक्ष्म व्याख्याएँ की गयीं वे ही इस मार्ग में सर्वाधिक बाधक बन गयीं।"

यहाँ विचारित दोनों कृतियाँ निःसंदेह सुपाठ्य और संग्रहणीय हैं। एकात्मता और सर्वधर्म-समभाव के प्रचारार्थ इनका अधिकाधिक वितरण हो तो अच्छा होगा।

— पृथ्वीनाथ शास्त्री

३६, डॉ. विलसन पथ
बम्बई— ४०० ००६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आजीवन सदस्य (संस्था)

१०. ग्रन्थालयाध्यक्ष,
अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय
अलीगढ़ (उ. प्र.)

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

७२. डॉ. केवलकृष्ण मित्तल
बौद्ध दर्शन विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली– ११० ००७

७३. डॉ. सदानन्द मोरे
दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे– ४११ ००७

७४. प्रो. मोहनलाल मेहता
दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय
पुणे– ४११ ००७

७५. डॉ. आशा मुकर्जी
दर्शन विभाग
विश्वभारती
शान्तिनिकेतन– ७३१ २३५

७६. दण्डी स्वामी विमलानन्द सरस्वती
बी ३/१७५, राजगुरु मठ
शिवाला घाट
वाराणसी– २२१ ००१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

७७. डॉ अञ्जनी कुमार सिंह
परमज्योत निवास
अलहदादपुर
गोरखपुर–२७३००१
(उ. प्र.)

७८. श्री. ब्रह्मचारी संविदानन्द
दण्डी आश्रम
मु. पो. शुकताल – २५१११६
जि. मुजफ्फरपुर (उ. प्र.)

७९. डॉ. रामदास पाण्डेय 'गंभीर'
प्रवक्ता, नारंग इंटर कॉलेज
बस्ती –२७१००१
(उ. प्र.)

८०. डॉ. के. पी. वर्मा
स्नातकोत्तर दर्शन विभाग
मिथिला विश्वविद्यालय
दरभंगा
(बिहार)

८१. डॉ. प्रद्युम्नकुमार जैन
प्राचार्य,
ए. एन्. झा. गवर्नमेण्ट कॉलेज
रुद्रपुर – २६३१५३
नैनीताल (उ. प्र.)

८२. डॉ. पृथ्विनाथ शास्त्री
३६, डॉ. विल्सन पथ
बम्बई—४००००६

८३. डॉ. रा. स्व. भटनागर
दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर–३०२००४
(राजस्थान)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

८४. डॉ. (श्रीमती) शोभा निगम
स्नातकोत्तर दर्शन विभाग
छत्तीसगढ़ महाविद्यालय
रायपुर – ४९१००१
(म. प्र.)

साभार अभिस्वीकृति

जैन, कमलेशकुमार; जैनाचार्यों का अलङ्कारशास्त्र में योगदान; पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान, वाराणसी, १९८५; पृ. ३५७; मूल्य रु. ५०/- (अजिल्द)

जैन, लालचन्द; जैन दर्शन में आत्म-विचार; पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान, वाराणसी, १९८५; पृ. ३१८; मूल्य : रु. ५९/- (अजिल्द)

लवानिया, रमेशचन्द्र; साहित्य-विविधा; अमित प्रकाशन, गाजियाबाद, पृ. १८८; मूल्य- रुपये ५०/- (अजिल्द)

शर्मा हरीश; भाषा-विज्ञान की रूपरेखा; अमित प्रकाशन, पृ. ४४६; मूल्य- रुपये ३५/- (अजिल्द)

साध्वी सुदर्शना श्री; आनन्दघन का रहस्यवाद; पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध संस्थान, वाराणसी; १९८५; पृ. ३५४; मूल्य रुपये ४०/- (अजिल्द)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।

पुणे विश्वविद्यालय के दर्शन एवं हिन्दी विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883 / 79

प्रद्युम्न कुमार जैन	जैविक विकास, जैव-अभियान्त्रिकी और धर्म
जगदीश शर्मा	समीक्षा और सर्जना
देवव्रत चौबे	सांख्य-दर्शन में मन और शरीर का सम्बन्ध
सूर्यप्रकाश श्रीवास्तव	प्लोताइनस का दर्शन और भारतीय चिन्तन
सोहनपाल सिंह आर्य	पुनर्जन्म : एक दार्शनिक वैज्ञानिक व्याख्या
शोभा निगम	श्री वल्लभ द्वारा जगत्-मिथ्यात्व का खण्डन और जगत्-सत्यत्व का मण्डन
सुरेन्द्र कुमार	दर्शन में निश्चितता की खोज
वन्दना अवस्थी	ईश्वरवाद का मीमांसादर्शन में प्रतिवाद
सुद्युम्नाचार्य	भारतीय दर्शन में शब्दानुवेध का सिद्धात तथा आधुनिक विज्ञान
	प्रतिक्रियाएं
	ग्रंथ–समीक्षाएं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड ७ अंक २

मार्च, १९८६ / माघ-फाल्गुन, २०४२

सं पा द क

सुरेन्द्र बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

※ पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान के
अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रि
※ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान–मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ※ राजेन्द्र प्रसाद ※ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ※ रमाकान्त सिनारी ※ विजयकुमार भारद्वाज ※ शारदा
संगमलाल पांडे ※ आर्. बालसुब्रमणियन् ※ अशोक रा. केळकर ※ के.
शहा ※ नारायणशास्त्री द्राविड ※ के. सच्चिदानंद मूर्ति ※ जो. सी. ना
※ ग. ना. जोशी ※ मोहनलाल मेहता ※ जे. फाईस ※ सुमन
※ रा. स्व भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ※ चन्द्रकान्त बांदिवडेकर ※ सु. ए. भेलके

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क क
कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्याल
गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :
संपादक, परामर्श (हिंदी), दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे–४११०
अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भी
कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. २०–००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. १४–००
(३)	छात्रों के लिए	रु. १०–००
	एक प्रति	रु. ०५–००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००–००
व्यक्तियों के लिए रु. २००–००

※ राशि चेक से भेजनी हो तो पांच रुपये अधिक जोड़ दें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया
सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

चार्वाक दर्शन में विवाह की अवधारणा

आमतौर पर चार्वाक दर्शन को उच्छेदवादी और स्वभाववादी कहा जाता है। उच्छेदवाद उसका निषेधात्मक पक्ष है, तथा स्वभाववाद उसका विध्यात्मक पक्ष है।

उच्छेदवाद के अनुसार किसी भी सत्ता, चाहे वह लौकिक हो या अलौकिक; का अस्तित्व नहीं है। चार्वाक दर्शन के अनुसार आत्मा, पुनर्जन्म, स्वर्ग-नरक; ईश्वर आदि अलौकिक सत्ताओं का अस्तित्व नहीं है। किन्तु वह चेतना-जैसी सत्ता के साथ-साथ पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु-जैसी स्थूल एवं भौतिक सत्ताओं को स्वीकार करता है। साथ ही, आकाश-जैसी सूक्ष्म और भौतिक सत्ता का उच्छेद करता है। स्पष्ट है, एक ओर चार्वाक पूर्णतः अलौकिक और अंशतः भौतिक सत्ता का उच्छेद करता है (क्योंकि उसकी दृष्टि में सत्तावान् वही है जिसका प्रत्यय होता है। प्रत्यक्ष अतिरिक्त अनुमानादि अन्य प्रमाण वैध नहीं हैं।); तो दूसरी ओर भौतिक सत्ताओं को स्वीकार भी करता है। अतएव उसे उच्छेदवादी मानना उचित नहीं है। उसके विचार में मौजूद उच्छेदवाद उसके विध्यात्मक स्वरूप को निरूपित करने की मात्र आधार पीठिका है।

स्वभाववाद के अनुसार किसी वस्तु या व्यक्ति की कर्मप्रवृत्ति उसके स्वभाव में निहित होती है। अग्नि की कर्मप्रवृत्ति किसी वस्तु/व्यक्ति को जलाने की है क्योंकि उसमें दाहकता है। दाहकता उसका स्वभाव है। पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु (जिन्हें चार्वाक ने मूलसत्ता माना है) की कर्मप्रवृत्ति परस्परसंयुक्त होने तथा परस्पर विघटित होने की है। इस कर्मप्रवृत्ति के फलस्वरूप विश्व के विभिन्न पदार्थों का निर्माण और विनाश होता है। इन पदार्थों में मनुष्य भी है। अतः मनुष्य की उत्पत्ति और विनाश भी इन तत्त्वों की कर्मप्रवृत्ति (स्वभाव) का परिणाम है। अतएव मनुष्य की कर्मप्रवृत्ति भी उसके स्वभाव में निहित है।

मूलतत्त्वों (पृथ्वी आदि) के स्वभाव में कर्मप्रवृत्ति निहित है।

परामर्श (हिंदी), खंड ७, अंक २, मार्च, १९८६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मनुष्य मूलतत्त्वों का परिणाम है।
∴ मनुष्य के स्वभाव में कर्मप्रवृत्ति निहित है।

मनुष्य की स्वभाविक कर्मप्रवृत्ति कामतृप्ति है। इसके लिए ही उसके सारे क्रियाकलाप होते हैं। इसलिए चार्वाक ने मनुष्य का निःश्रेयस् काम को माना है।

— १ —

काम के विभिन्न अर्थ हैं। साधारण या शाब्दिक तौर पर काम को कार्य कहा जाता है। कार्य के बिना कोई मनुष्य नहीं रह सकता। गीता में कहा गया है कि प्रकृति से उत्पन्न गुणों के कारण प्रत्येक व्यक्ति को विवश होकर कार्य करना पड़ता है।[२] वस्तुतः चलना-फिरना, सोना, खाना, पढ़ना-लिखना, कलई करना, खेलना, गाना, नाचना इत्यादि क्रियाबोधक पद मनुष्य के जन्म से मृत्युपर्यन्त उसके साथ अभिन्नतः लगे हुए हैं। इन सभी क्रियाबोधक पदों से निर्धारित कर्म ही उसके कार्य हैं।

धार्मिक दृष्टि से काम वैदिक कर्मकांडों (यज्ञों) को कहा जाता है। मीमांसा दर्शन के अनुसार कर्म (काम) का तात्पर्य यज्ञ है, इसलिए काम को धर्म कहा गया है।[३] यज्ञ का तात्पर्य किसी देवताविशेष को हवनादि द्रव्य समर्पित करना है। किन्तु गीता में यज्ञ को लोकसंग्रह के अर्थ में लिया गया है, वैदिक कर्मकांड के अर्थ में नहीं।

नैतिक दृष्टि से काम का तात्पर्य कर्तव्य है। कर्तव्य व्यक्ति के उस कर्म को कहा जाता है जिसे समाज द्वारा व्यक्ति की योग्यता और क्षमता के अनुरूप निर्धारित किया गया है। भारतीय आचार-शास्त्र में इसे वर्णाश्रम कहा गया है। बौद्ध दर्शन में इसे धम्म कहा गया है। धम्म का अर्थ है जो उचित है; और उचित वही है जिसे अपने स्वभाव क्षमता, योग्यता तथा वर्ण के अनुसार किया जाय।[५] अतएव काम का तात्पर्य वर्णाश्रम धर्म (आज के संदर्भ में पदानुकूल कर्म) है। मजदूर, किसान, शिक्षक, चिकित्सक, अभियन्ता आदि जब अपने निर्धारित कार्य को प्रतिदिन नियत समय पर दायित्वपूर्ण ढंग से करते हैं तो वे वस्तुतः अपने कर्तव्य का निर्वाह करते हैं। इसलिए कर्तव्य को नैतिक ऋण भी कहा जाता है। अतः काम नैतिक ऋण है।

जैविक दृष्टि से काम का तात्पर्य यौन है। यौन मानव की अंतर्भूत शक्ति है। वह मनुष्य का मूल स्वभाव है। प्रश्नोपनिषद् में कहा गया है कि काम (यौन) के बिना जीवन नहीं है।[६] अतएव यौन जीवन का प्राथमिक और मौलिक तत्त्व है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

काम के उपर्युक्त अर्थों को दो शीर्षकों के अंतर्गत रखा जा सकता है– व्यापक अर्थ और संकीर्ण अर्थ। "व्यापक अर्थ" शीर्षक के अंतर्गत शाब्दिक, नैतिक और धार्मिक दृष्टि से लिये गये काम के अर्थ आते हैं। "संकीर्ण अर्थ" शीर्षक के अंतर्गत मात्र जैविक दृष्टि से लिया गया काम का अर्थ आता है।

धार्मिक दृष्टि से लिया गया काम का अर्थ वस्तुत: धर्म है क्योंकि यज्ञादि कर्म को धर्म का पर्याय माना गया है। अतएव काम का व्यापक अर्थ शाब्दिक और नैतिक काम ही है।

चार्वाक धर्म (धार्मिक दृष्टि से काम) का खंडन करता है। उसके अनुसार यज्ञादि कर्म धूर्त पंडितों के बनाये हुए ढकोसले हैं जिनके द्वारा वे अपनी स्वार्थ-लिप्सा की पूर्ति करते हैं। कहा गया है--

त्रयोवेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचरा:।
जर्भरीतुर्फरीत्यादि पण्डितानां वच: स्मृतम्॥
अथवा,
अग्निहोत्रं त्रयोवेदास्त्रिदण्डं भस्मगुण्ठनम्।
बुद्धिपौरुषहीनानां जीविकेति बृहस्पति:॥

माधवाचार्य, सर्वदर्शनसंग्रह, चार्वाकदर्शने

यज्ञादि कर्म द्वारा न केवल स्वर्ग या मोक्ष की प्राप्ति होती है, वरन् संतान की प्राप्ति के लिए भी यज्ञ करने का विधान बतलाया गया है। चार्वाक का मंतव्य है कि यदि यज्ञ करने से ही संतान की प्राप्ति होती है, तो विवाह की आवश्यकता नहीं रह जाती है।[७] परन्तु यज्ञ के समर्थकों ने विवाह का भी समर्थन किया है। इतना ही नहीं, बल्कि विवाह को एक यज्ञकर्म या पवित्र संस्कार मान लिया गया है। विवाह की अनिवार्यता विभिन्न प्रकार के यज्ञकर्म के लिए है। यज्ञादि अनुष्ठान में पति-पत्नी की महत्त्वपूर्ण भूमिका होती है। इसके अतिरिक्त विवाह सन्तानोत्पत्ति के लिए आवश्यक है। यह विवाह का मुख्य उद्देश्य है और यौन-तृप्ति गौण उद्देश्य है। परन्तु चार्वाक की दृष्टि में विवाह का मुख्य उद्देश्य न संतानोत्पत्ति है और न ही यज्ञादि अनुष्ठान का संपादन, वरन् यौन की तृप्ति है। पुत्र या पुत्री का होना अथवा न होना यज्ञकर्म का फल या किसी इष्ट-देवता का आशीर्वाद या कोप नहीं है, प्रत्युत मानव के मूलस्वभाव (काम) का एक निश्चित परिणाम है।[८]

स्पष्ट है कि चार्वाक धार्मिक कर्म का उच्छेद करता है, और जैविक कर्म को प्राथमिकता देता है। शाब्दिक और नैतिक कर्म का उच्छेद नहीं किया गया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है, लेकिन इनके संबंध में विशेष उल्लेख भी नहीं है। कुछ सूत्रों 'यथा ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्' वा 'वरमद्य कपोतः न श्वो मयूरः' के आधार पर कहा जा सकता है कि चार्वाक ने शाब्दिक और नैतिक कर्म को भी स्वीकृति दी है।

व्यापक काम (शाब्दिक और नैतिक) का सम्पादक जैविक काम की संतुष्टि के लिए ही होता है। स्वस्थ शरीर और संतुलित मन के बिना रतिक्रिया का सम्पन्न होना संभव नहीं है। स्वस्थ शरीर के लिए पौष्टिक भोजन तथा संतुलित मन के लिए सद्भावपूर्ण वातावरण की आवश्यकता है। इन दोनों के लिए कर्म अपेक्षित है। कहने का तात्पर्य है कि रतिसुख के लिए ही अर्थार्जन करना पड़ता है। "अर्थ के बिना विपरीत लिंग को खुश करना, मनुहार करना और उसके साथ अभिसार करना कठिन हो जाता है। अतः मनुष्य द्वारा की जानेवाली सभी क्रियाएँ काम (यौन) को तुष्ट करने के लिए ही होती हैं। यही कारण है कि चार्वाक ने "अंगनादिआलिंगनादिजन्यसुखमेवपुरुषार्थः" को ही मानव-जीवन का चरमोत्कर्ष और चरमलक्ष्य माना है।

"अंगनादिआलिंगनादि" पद का शाब्दिक अर्थ हैं अंगना (स्त्री) आदि का आलिंगन आदि। "सुखमेवपुरुषार्थः" पद का शाब्दिक अर्थ है सुख ही पुरुषार्थ है। अतः इस सूत्र का तात्पर्य है स्त्री आदि के आलिंगन आदि क्रियाओं से उत्पन्न सुख ही पुरुषार्थ (चरमलक्ष्य) है। यह इसका शाब्दिक अर्थ है जिसमें "स्त्री" को कोई भी स्त्री (माँ–बहन–प्रेमिका–पत्नी–मित्र–वेश्या–कॉलगर्ल्स–बेटी–पतोहू-सास इत्यादि) के संदर्भ में लिया गया है। परन्तु जहाँ तक मेरी अल्प बुद्धि समझ पाती है, यहाँ "स्त्री" का तात्पर्य कोई भी स्त्री नहीं है वरन् एक विशेष स्त्री है। इस कथन का सत्यापन निम्नलिखित सूत्रों द्वारा किया जा सकता है–

स्वदारपरदारेषु यथेच्छं विहरेत् सदा।
गुरुशिष्यप्रणालीञ्चत्यजेत् स्वहितमाचरन्॥
(चार्वाकषष्टि, ५६)

अर्थात् अपनी और परायी स्त्रियों में इच्छानुसार विहार करना चाहिए। गुरु-शिष्य के भेद को अपने हित के लिए त्याग देना चाहिए।

यहाँ अपनी स्त्री (पत्नी) और दूसरों की स्त्रियों (पत्नियों) के साथ इच्छानुसार रमण करने की सलाह दी गयी है। किन्तु बेटी–बहन–पतोहू–सास आदि निकटतम रक्तसंबंधी स्त्रियों के साथ रति-उपभोग की बात नहीं की गयी है। "दूसरों की स्त्रियों" का तात्पर्य कदापि बेटी-बहन-पतोहू-सास-माँ आदि निकट-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तम रक्तसंबंध नहीं हो सकता, वरन् वेश्या-कॉलगर्ल्स-प्रेमिका-मित्र आदि दूरस्थ संबंधी स्त्रियाँ हो सकती हैं। इसलिए चार्वाक गुरु को शिष्य-पत्नी के साथ और शिष्य को गुरुपत्नी के साथ रतिसंसार में प्रवेश करने का परामर्श देता है। गुरु और शिष्य में इस बिन्दु पर किसी प्रकार का भेद नहीं होना चाहिए। परन्तु चार्वाक यह नहीं कहता कि माँ और पत्नी या बहन और पत्नी में कोई अन्तर नहीं है।

इस बात का समर्थन पद्मपुराण के इन श्लोकों से भी मिलता है—

तारांबृहस्पतेर्भार्यां हृत्वा सोमः पुरा गतः।
तस्यां जातो बुधः पुत्रो गुरुर्जग्राह तां पुनः॥

(पद्मपुराण, सृष्टिखंड, ३३६)

गौतमस्यमुनेः पत्नी अहल्या नाम नामतः।
अगृह्णात्तां स्वयंशक्रः पश्य धर्मो यथास्थितः॥

(पद्मपुराण, सृष्टिखंड, ३३७)

इन श्लोकों में कहा गया है कि चन्द्रमा ने देवगुरु बृहस्पति की पत्नी तारा का अपहरण कर न केवल अपनी यौनभावना को संतुष्ट किया, वरन् बुध नामक पुत्र भी उत्पन्न किया। इसी भाँति गौतममुनि की पत्नी अहल्या के साथ देवराज इन्द्र ने अपनी कामवासना शान्त की।

यहाँ "काम" की पूर्ति के लिए गुरुपत्नी और मुनिपत्नी को विषय बनाया गया है, न कि माँ-बहन-पतोहू-सास आदि को। इन श्लोकों से यह भी स्पष्ट होता है कि एक विशेष पुरुष एक विशेष स्त्री की ओर ही यौनाकर्षित होता है, सभी स्त्रियों की ओर नहीं। इन्द्र का यौनाकर्षण अहल्या के प्रति था, इसलिए वह छद्मवेश धारण कर भी उसे पाने में समर्थ रहा। चन्द्रमा का आकर्षण तारा के प्रति था, इसलिए वह उसे अपहृत कर भी अपनी यौनक्षुधा मिटाता है। चार्वाक-षष्टि ७ में भी कहा गया है—

परदारनिवृत्तिर्या सोऽयं स्वयमनादृतः।
अहल्याकेलिलोलेन दम्भो दम्भोलिपाणिना॥

अर्थात् परायी स्त्रियों के साथ संभोग नहीं करना चाहिए, इस उपदेश का उल्लंघन तो स्वयं वज्रधारी इन्द्र ने किया क्योंकि उसने परपत्नी अहल्या के साथ संभोग किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस सूत्र में भी मुनिपत्नी को "परायी स्त्री" के रूप में लिया गया है, न कि माँ-बहन इत्यादि को। यहाँ भी परायी स्त्रियों के साथ कामतृप्ति करना अनुचित नहीं बतलाया गया है।

उपर्युक्त सूत्रों से इतनी बात स्पष्ट होती है कि "स्त्री" पद का अर्थ कोई भी स्त्री नहीं है, वरन् पत्नी तथा परपत्नियाँ है। परपत्नियों के अंतर्गत भाईयों की पत्नियाँ नहीं आतीं, जैसा कि इस सूत्र से ज्ञात होता है--

व्यासस्यैव गिरा तस्मिन श्रद्धेत्यद्धास्थ तान्त्रिकाः।
मत्स्यस्याप्युपदेश्यान् वः को मत्स्यानपिभाषताम्॥

(चार्वाकषष्टि, २८)

यहाँ कहा गया है कि मत्स्यगंधा के जारजपुत्र और अपने भाइयों की पत्नियों के साथ संभोग करनेवाले व्यास की बात में कोई मूर्ख ही विश्वास कर सकता है। कहने का तात्पर्य है कि व्यास (जो स्वतः अवैध संबंध का फल है) के कथन विश्वसनीय नहीं हो सकते, क्योंकि वह स्वयं अपनी भ्रातृपत्नियों के साथ व्यभिचार करने में संकोच नहीं करता। इस कथन का आशय है कि न तो भ्रातृपत्नी के साथ व्यभिचार होना चाहिए और न ही अवैध संतान उत्पन्न करना चाहिए।

इससे स्पष्ट है कि चार्वाक समाज में उच्छृंखल यौनाचार का समर्थन नहीं करता है, वरन् सामाजिक नियमों के दायरे में ही स्त्री-सुख पाने का परामर्श देता है। जहाँ तक परायी स्त्रियों के साथ कामोपभोग की बात है, वह तभी संभव है जब स्वयं वे स्त्रियाँ इसके लिए तैयार हों। अहल्या और तारा या व्यास की भ्रातृपत्नियों की रजामन्दी के बिना छद्मतः या अपहृत कर या किसी अन्य ढंग से उनके साथ रमण नहीं किया जा सकता था। कुन्ती, द्रौपदी, संयोगिता आदि ऐसी स्त्रियाँ हैं जिनकी रजामंदी से ही क्रमशः सूर्यादि, अर्जुनादि, पृथ्वीराज आदि ने इनके साथ सभोग किया। परन्तु रावण चाहकर भी सीता के साथ केलिक्रीड़ा नहीं कर पाया क्योंकि सीता की इच्छा या रजामंदी इसके लिए नहीं हो पायी। अतएव उपर्युक्त सूत्रों के आधार पर यह निष्कर्ष निकालना तर्कहीन और असंगत नहीं होगा कि चार्वाक दर्शन में विवाह की अवधारणा है।

- २ -

विवाह के संबंध में मुख्यतः दो प्रकार की विचारधारा पायी जाती है— संस्कारवादी और समझौतावादी।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संस्कारवादी विचार के अनुसार विवाह दो आत्माओं का मिलन है; और आत्माएँ नित्य होती हैं, इसलिए विवाह नित्य है। विवाह की नित्यता उसे एक पवित्र संस्कार बना देती है। यही कारण है कि संस्कारवादी विचारक विवाह को एक धार्मिक कृत्य (creed) के रूप में देखते हैं। गांधीजी ने उसे (विवाह को) धर्म का रक्षक माना है, तथा आत्मसंयम का ही रूप घोषित किया है।[९] अतः उन्होंने पति-पत्नी की कामक्रीड़ा को मात्र संतानोत्पत्ति के लिए ही उचित माना है, अन्यथा नहीं। तात्पर्य यह है कि संस्कारवादी दृष्टि से विवाह की आवश्यकता या तो धार्मिक कर्मकांडों (यज्ञों) के लिए है क्योंकि कोई भी यज्ञ पत्नी के बिना नहीं हो सकता,[१०] या संतानोत्पत्ति के लिए है क्योंकि संतानहीन व्यक्ति का मरणोपरांत पिण्ड के अभाव में तर्पण नहीं हो पाता।[११] यह विचार कामतृप्ति को बिल्कुल ही गौण कर देता है, जबकि "काम" ही मनुष्य की मौलिक प्रवृत्ति है, और विवाह का मुख्य उद्देश्य इस प्रवृत्ति को संतुष्ट करना है। इसलिए विवाह को "संभोग का अधिकार" माना गया है जिसे सामाजिक स्वीकृति दी गयी है।[१२]

संस्कारवादी दृष्टिकोण का आधार आध्यात्मिक दर्शन है। अध्यात्मिक दर्शन के अनुसार एक चेतन सत्ता (ब्रह्म या आत्मा या प्रत्यय) ही सत्य है, और विश्व की समस्त (सजीव-निर्जीव) वस्तुएँ उस सत्य की अभिव्यक्ति मात्र हैं। यहाँ तक कि ईश्वर भी ब्रह्म की अभिव्यक्ति है।[१३] अतएव सभी सजीव-निर्जीव, भौतिक-अभौतिक वस्तुएँ सत्य के अंशमात्र होने से आध्यात्मिक हैं, जैसा कि बर्कले या अन्य चित्सत्तावादी स्वीकारते हैं। इसलिए आध्यात्मिक दृष्टि से वे नित्य हैं परन्तु भौतिक दृष्टि (कुछ वेदान्तियों के शब्दों में व्यावहारिक या प्रातिभासिक दृष्टि) से वे अनित्य हैं। यही कारण है कि ऐसे वेदान्तियों ने उन्हें असत्य घोषित कर मात्र ब्रह्म को सत्य घोषित किया है – ब्रह्मसत्यंजगन्मिथ्या। अतएव विवाह की सत्यता आध्यात्मिक या पारमार्थिक है, किन्तु प्रातिभासिक या व्यावहारिक नहीं। "काम" व्यावहारिक तथा यथार्थ जैविक प्रक्रिया है। अतएव विवाह को आध्यात्मिकता का कलेवर देना संगत नहीं है। यदि विवाह आध्यात्मिक हो, तो संत पाल का कथन– जलते रहने से विवाह करना कहीं अच्छा है– झुठला जाता है। "जलते रहने" का तात्पर्य कामाग्नि से दग्ध होते रहना।

और भारत के प्राचीन धर्मशास्त्रों ने भी जलते रहने की अपेक्षा कामतृप्ति को श्रेयस्कर माना है। वेद, उपनिषद्, मनुस्मृति प्रभृति धर्मग्रन्थों में विवाह को न केवल संतानोत्पत्ति और यज्ञादि कर्म का साधन माना गया है, प्रत्युत काम-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तृप्ति का साधन स्वीकारा गया है। श्वेतकेतु के पूर्व प्राचीन भारत के समाज में स्वतंत्र एवं स्वच्छंद कामाचार की प्रथा पायी जाती है।[१४] इस प्रथा में इच्छानुसार कोई पुरुष किसी स्त्री के साथ और कोई स्त्री किसी पुरुष के साथ रतिविहार कर सकती है। यह तभी संभव है जब दोनों सहभागी इसके लिए समझौता करें। अतएव समझौतावाद विचार का आधार यही प्रथा है।

समझौतावादी सिद्धान्त के अनुसार विवाह दो विपरीत लिंगों के मध्य एक निश्चित उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया समझौता है जो समाज द्वारा अनुमोदित होता है। किन्तु इस अनुमोदन का आधार धर्म नहीं होता, वरन् आर्थिक और भावनात्मक आवश्यकताएँ होती हैं। जब तक इन आवश्यकताओं तथा जैविक उद्देश्य की पूर्ति एक दूसरे से होती रहती है, तब तक उनमें दाम्पत्य-भाव बना रहता है। मानव-जीवन की मूलभूत आवश्यकताओं में यौनतृप्ति के अतिरिक्त भोजन, वस्त्र, आवास, शिक्षा, मनोरंजन आदि हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अर्थ की अनिवार्यता है। अर्थार्जन के लिए किये जानेवाले परिश्रम की थकान मिटाने का उत्तम साधन "पत्नी का आँचल" तथा "बच्चों का खेल" है। इन साधनों की प्राप्ति विवाह द्वारा ही होती है। जब तक पति पत्नी द्वारा संतुष्ट हो पाता है, तब तक वह उसे स्वीकार करने में समर्थ है। किन्तु यदि पति पत्नी से संतुष्ट नहीं हो पाता है, तो वह उसे पृथक् कर सकता है और अन्य स्त्री (जो उसे संतुष्टि दे सके) को अपना सकता है। पत्नी भी पति से असंतुष्ट होने पर उसे त्याग सकती है और अन्य पुरुष (जिससे वह संतुष्ट हो सके) को अपना सकती है। इस प्रकार समझौतावादी विचारक विवाह को नित्य नहीं मानते हैं। अतः विवाह पवित्र संस्कार न होकर मात्र संविदा है। यह धार्मिक कृत्य न होकर जैविक आवश्यकता और सामाजिक दायित्व मात्र हैं।

समझौतावादी विचार भौतिकवादी दर्शन पर आधृत है। भौतिकवाद के अनुसार मूल-तत्त्व जड़त्व है जिसकी संख्या एक, दो या अनेक हो सकती है। समस्त विश्व जड़तत्व का ही परिणाम है। विज्ञान ने इस जड़तत्व को Energy कहा है, तो जीवशास्त्रीय दृष्टि से यह "काम" है। जिस प्रकार इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, न्यूट्रोन शक्तियों के परस्पर संयोजन से विश्व के पदार्थों का निर्माण और उनके परस्परविघटन से उनका विनाश होता है, उसी प्रकार काम-शक्तियों (वीर्य और रज) के परस्पर संयोजन से ही मानव (समाज) की उत्पत्ति हो पाती है और उनके परस्पर पृथक्त्व से मानव (समुदाय) विनाश की ओर जाता है। ड्यूवो और टफ्टस् का कथन है कि कामवासना को अतृप्त रखने अथवा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसके दमन से असाधारणता, संवेदनशून्यता और संकीर्णता, यहाँ तक कि मनोविकृति और स्नायविक विकृति भी, हो सकती है। [१५]

संस्कारवादी और समझौतावादी सिद्धान्तों के आधार पर विवाह की मुख्य विशेषताओं का उल्लेख इन रूपों में किया जा सकता है—

क) विवाह यौनतृप्ति का प्राथमिक और मौलिक साधन है।

ख) विवाह सन्तानोत्पत्ति का साधन है।

ग) विवाह यज्ञादि कर्मों को सम्पन्न कराने का हेतु है। यह विशेषता समझौतावादी अवधारणा में नहीं पायी जाती।

घ) विवाह संवेगात्मक होता है। इसलिए प्रेम इसका प्रमुख तत्त्व है।

ङ) विवाह सामाजिक दायित्व है जहाँ सहयोग, त्याग, सहिष्णुता आदि नैतिक गुणों की शिक्षा मिलती है।

च) विवाह स्वास्थ्य के लिए आवश्यक है।

छ) विवाह आर्थिक आवश्यकता की पूर्ति का भी साधन है।

विवाह की इन विशेषताओं के आधार पर ही यह देखना है कि चार्वाकदर्शन में विवाह की अवधारणा समझौतावादी है या संस्कारवादी। निश्चय ही चार्वाक संस्कारवादी विचारक नहीं हो सकता क्योंकि वह धर्म का मूलोच्छेदन करता है। अतएव चार्वाकदर्शन में विवाह की समझौतावादी अवधारणा ही प्रस्तुत है।

— ३ —

चार्वाक दर्शन भौतिकवादी है। अतः उसकी दृष्टि में जड़तत्त्व (पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु) ही मूल हैं जिनके परस्पर संयोजन से मानवशरीर की उत्पत्ति हुई है। शरीर जड़ है लेकिन अचेतन नहीं। कहा गया है— "चैतन्य-विशिष्टः कायः पुरुषः"। अर्थात् चेतना से आविष्ट शरीर पुरुष (आत्मा) है। दूसरे शब्दों में शरीर ही आत्मा है। इसलिए चार्वाकदर्शन में आत्मा की स्वतंत्र सत्ता का अभाव है, वरन् शरीर के रूप में अनित्य आत्मा के दर्शन होते हैं। शरीर का विनाश जड़तत्त्वों के परस्परविघटन से होता है, अतएव आत्मा का भी विनाश होता है। बृहदारण्यकोपनिषद्, २–४–१२ में भी कहा गया है कि आत्मा विज्ञान या शुद्ध चैतन्य के रूप में इन भूतों (पृथ्वी और जलादि) से निकलकर उन्हीं में विलीन हो जाती है। मृत्यु के बाद चैतन्य की सत्ता नहीं रहती। कहने का तात्पर्य है कि आत्मा (शरीर) की अनित्यता विवाह को भी अनित्य बना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

देती है, क्योंकि विवाह दो आत्माओं (शरीरों) का पारस्परिक मिलन है। इस मिलन का प्रमुख उद्देश्य कामतृप्ति है और परिणामी उद्देश्य संतानोत्पत्ति है। जब तक इन उद्देश्यों की पूर्ति होती रहती है, तब तक विपरीत लिंगी सहभागियों में संबंध बना रहता है। अन्यथा वे एक दूसरे से स्वतंत्र हो जाते हैं, और अन्य सहभागी के साथ जुड़ जाते हैं, बशर्ते कि उनसे इन उद्देश्यों की पूर्ति हो। द्रष्टव्य-

पिब खाद च जातशोभने यदतीतं वरगात्रि तन्न ते।
न हि भीरु गतं निवर्तते समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ॥

(हरिभद्रसूरि, षड्दर्शनसमुच्चय, ३)

अर्थात् हे सुन्दरी। जो इच्छा हो, खाओ और जो इच्छा हो, पीओ। हे कोमलांगी! जो व्यतीत हो गया, वह पुनः नहीं आनेवाला है। हे कातरस्वभाव वाली! गतवस्तु नहीं लौटती, और यह शरीर दृश्यमान (प्रत्यक्ष) है।

इस सूक्त में स्त्रियों को सलाह दी गयी है कि उन्हें इच्छानुसार खाना-पीना चाहिए अर्थात् इच्छानुसार शाकाहारी/मांसाहारी भोजन करना चाहिए तथा मदिरादि पेय पदार्थ को वर्जित नहीं मानना चाहिए। साथ ही, अतीत को विस्मृत कर देने का भी सुझाव दिया गया है क्योंकि व्यतीत वस्तुएं लौटती नहीं, मात्र वर्तमान शरीर ही वश में रहता है। तात्पर्य यह है कि वर्तमान शरीर को ही सुख पहुँचाने का उपक्रम करना चाहिए, और सुख का सर्वोत्तम साधन "काम" है। इसलिए कहा गया है...

साध्याऽवृत्तिनिवृत्तिभ्यां या प्रीतिर्जायते जने।
निरर्था सा मता तेषां सा चाकाशात् परा न हि ॥

(किसी मनोवांछित वस्तु की प्राप्ति का विधान तथा अवांछित वस्तु के अभाव (निषेध) में लोगों की उत्पन्न प्रीति निरर्थक और आकाश के समान शून्य है, क्योंकि काम के अतिरिक्त दूसरा कोई धर्म नहीं है।)

(-हरिभद्रसूरि, षड्दर्शनसमुच्चय, ७)

पद्मपुराण के सृष्टिखंड, ३३१ में कहा गया है कि--

आत्म मांसोपमं मांसं कथं खादेत पण्डितः।
योनिजास्तु कथं योनि श्रेयन्ते जन्तवस्त्वमी ॥

अर्थात् विद्वज्जनों को चाहिए कि वे अपने शरीर के मांस के समान ही दूसरों के शरीर का मांस अग्राह्य जाने और उनका भक्षण नहीं करें। सभी जीव-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जन्तु अपनी माँ की योनि से ही उत्पन्न हैं, तो अपनी माँ के समान योनिवाली स्त्रियों के साथ क्यों विहार करना चाहते हैं ?

यहाँ दो बातें ध्यातव्य हैं— एक, प्रत्येक व्यक्ति समान है, इसलिए हिंसा नहीं होनी चाहिए, अर्थात् समानता और अहिंसा का उपदेश दिया गया है। दूसरी, प्रत्येक जीव (पशु, मनुष्य इत्यादि) की उत्पत्ति उसकी माँ के गर्भ से होती है, और अन्य स्त्रियों की योनि तथा उसकी माँ की योनि में अंतर नहीं है। फिर भी लोग अन्य स्त्रियों के साथ रमण करते हैं या करना चाहते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि मनुष्य अपनी स्वाभाविक कामप्रवृत्ति को रोक नहीं सकता है, यह जानते हुए भी कि वह अपनी माँ की योनि के आकार-प्रकार की योनि में विहार कर रहा है। वस्तुतः कामभावना की प्रबलता मनुष्य को कभी-कभी इतना अंधा बना देती है कि वह स्त्री को मात्र उपभोग्या ही समझने लगता है, सारे रक्त-संबंध को परे हटाकर।

परन्तु चार्वाक ने स्त्री को मात्र उपभोग्या नहीं माना है (यद्यपि उस पर यह आरोप लगाया जाता है), वरन् रक्तसंबंध को ध्यान में रखकर ही काम-पिपासा शान्त करने के लिए स्त्रियों का सहवास बतलाया है।[१६] साथ ही, उपर्युक्त श्लोक से ज्ञात होता है कि चार्वाक ने संतानोत्पत्ति के लिए माँ की अनिवार्यता को अस्वीकार नहीं किया है। माँ के पेट में बढ़नेवाला गर्भ ही शिशु की प्राथमिक अवस्था है। गर्भधारण के लिए सहवास (वीर्य और रज का मिलन) आवश्यक है। इसलिए नैषधीय चरितम् में कहा गया है कि "उभयी प्रकृतिः कामे सज्जेत्" अर्थात् उभयलिंगी के अतिरिक्त सभी स्त्री-पुरुष को कामोपभोग में तत्पर रहना चाहिए; तथा शंकर ने भी कहा है कि "काम एव प्राणिनां कारणम्"[१७] अर्थात् एकमात्र काम ही प्राणियों की उत्पत्ति का कारण है।

स्पष्टतः यौनतृप्ति और संतानोत्पत्ति ही मानवस्वभाव का मूल उद्देश्य है। परन्तु चार्वाक के लिए यौनतृप्ति मानवस्वभाव का मूलोद्देश्य है, और परिणामी उद्देश्य संतानोत्पत्ति है। यही कारण है कि चार्वाक "अंगनादिआलिंगनादि" के द्वारा इन उद्देश्यों की ही चर्चा करता है। आलिंगनादि का तात्पर्य आलिंगन, चुम्बन आदि जैविक प्रक्रियाएँ हैं। ये प्रक्रियाएँ मुख्यतः उन स्त्रियों के साथ ही विधेय हैं जिन्हें पत्नी, प्रेमिका, सोसायटी गर्ल्स, वेश्या आदि की संज्ञा दी जाती है। पत्नी सामाजिक स्वीकृति द्वारा वैध है किन्तु अन्य स्त्रियों को अवैध कहा जाता है। चार्वाक की दृष्टि में वैध और अवैध का प्रश्न नहीं है क्योंकि मदनाकांत स्त्रियों का हस्तधारण अपेक्षित है।[१८] प्रबोध चन्द्रोदय में कहा गया है—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"कहाँ बाहू से बाहुमूल को दबाकर उन्नतस्तनी दीर्घनयनोंवाली ललनाओं का आलिंगन और कहाँ मूर्खों द्वारा सम्मानित यह भिक्षा, उपवास, नियमपूर्वक सूर्य-किरणों से शरीर का तपाना आदि देह सुखाने की विधि।"[१९]

अतएव चार्वाक का मंतव्य है कि सामाजिक स्वीकृति हो अथवा नहीं हो मनपसंद नारी के साथ या काम से पीड़ित कामेच्छु नारी के साथ हस्तधारण (विवाह) करना अनुचित नहीं है। यह मानव की मौलिक प्रवृत्ति है। इसलिए जाति-पाँति का विचार किये बिना ही विवाह कर लेना चाहिए। कहा गया है--

अनादाविह संसारे दुर्वारे मकरध्वजे।
कुलेच कामिनीमूले का जातिपरिकल्पना॥

अर्थात् इस अनन्त संसार में कामदेव अलंघ्य हैं। जब कुल में कामिनी ही मूल हो, तो जाति की परिकल्पना क्यों?

कहने का तात्पर्य है कि स्त्री ही परिवार की नींव है! वही सर्वोच्च-सत्ता है। अतः उसे पाने का ही प्रयास करना चाहिए, जाति-पाँति के झूठे चक्कर में नहीं पड़ना चाहिए। वस्तुतः जाति की प्रामाणिकता सिद्ध नहीं की जा सकती। इसलिए चार्वाक ने कहा है--

शुद्धिर्वंशद्वयोशुद्धौ पित्रोः पित्रोर्यदेकशः
तदनन्तकुलादोषाददोषा जातिरस्ति का॥
(चार्वाकषष्टि, ४)

तात्पर्य यह है कि संसार में विशुद्ध जाति नहीं पायी जाती। इस बात का कोई ऐतिहासिक या वैज्ञानिक प्रमाण नहीं है कि अमुक पुरुष या स्त्री अमुक जाति का/की है। पुरुष या स्त्री का होना ही एकमात्र प्रकृतिसिद्ध प्रतिज्ञप्ति है। यही कारण है कि चार्वाक ने जातिविशेष की बात न कर स्पष्टतः पुरुष और स्त्री के आलिंगनबद्ध होने की चर्चा की है; और इस कारण ही उसे "विवाहोच्छेदक दर्शन" कहा गया है अर्थात् चार्वाकदर्शन में विवाह की अवधारणा नहीं है। परन्तु जैसा कि मैंने प्रारंभ में ही बतलाने की चेष्टा की है उसमें विवाह का उच्छेद नहीं किया गया है, वरन् विवाह की स्थापना की गयी है। यह अलग बात है कि चार्वाक ने विवाह को पारम्परिक और संस्कारवादी अवधारणा को स्वीकार नहीं किया है, वरन् समझौतावादी अवधारणा को स्वीकृति दी है।

विवाह की समझौतावादी अवधारणा में जाति का प्रश्न नहीं है क्योंकि वहाँ दो विपरीत लिंगों में परस्पर समझौता को ही विवाह माना गया है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसलिए समझौतावादी विवाह प्रेम-विवाह या अंतर्जातीय विवाह का ही रूप है। इसलिए चार्वाक ने कहा है कि 'कः शमः क्रियतां प्राज्ञः प्रियाप्रीतौ परिश्रमः।[२०] (विद्वज्जनों ! प्रिया की प्रीति पाने के लिए परिश्रम करो, शान्ति और वैराग्य से से क्या ?)

वस्तुतः जीवन का आनन्द प्रेमिका (पत्नी) के सहवास में है, उसके आलिंगन-चुम्बन-मनुहार में है; शान्ति और वैराग्य में नहीं।

आध्यात्मिक दार्शनिकों ने भी "स्वर्ग में अप्सराओं के साथ विहार करने का अवसर प्राप्त करने" हेतु ही लौकिक जगत् में इन्द्रियनिग्रह का उपदेश दिया है।[२१] अप्सराओं की प्राप्ति के लिए ही इन्द्रियनिग्रह हो, तो यह काम से विरक्ति न होकर उसके प्रति आसक्ति ही है, और कामासक्ति का सही उपभोग लौकिक जगत् में ही संभव है। इसलिए वल्लभाचार्य जैसा आध्यात्मिक दार्शनिक भी शरीर को पुष्ट करने की सलाह देता है उसे सुखाने की नहीं[२२] और वात्स्यायन-जैसा यथार्थवादी दार्शनिक कहता है कि मानव के मूलस्वभाव की रक्षा के हेतु कामसेवन उसी प्रकार दैनिक अनिवार्यता है जिस प्रकार शरीररक्षा के लिए प्रतिदिन भोजन की आवश्यकता है।[२३]

— ४ —

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि न केवल भौतिकवादी और सुखवादी दार्शनिक वरन् आध्यात्मिक दार्शनिक भी "स्वर्ग और अप्सराओं" के बहाने काम की प्रमुखता को स्वीकारता है। अतएव काम का दमन या निष्कासन कदापि संभव नहीं है। इस सच्चाई को स्वीकारते हुए चार्वाक ने स्त्री (पत्नी) आदि (प्रेमिका, कॉलगर्स, वेश्या) के अलिंगन-चुम्बन इत्यादि जैविक प्रक्रियायों को ही मानवजीवन का चरम लक्ष्य कहा है। ये प्रक्रियाएँ सुख प्रदान करनेवाली हैं, और सुख को ही चार्वाक ने मनुष्य का चरम लक्ष्य कहा है।

सुख प्राप्त करने का उत्तम साधन विवाह ही है क्योंकि अलिंगन-चुम्बन आदि जैविक प्रक्रियाओं के लिए यह अपेक्षित है। समझौता द्वारा तो विपरीत लिंगी इन प्रक्रियाओं को ही अपनाते हैं, और इन प्रक्रियाओं को अपनाने में वे स्वतंत्र हैं। संस्कारवादी विवाह में भी ये प्रक्रियाएँ अपनायी जाती हैं, परन्तु इन्हें अपनाने में स्वतंत्रता नहीं रहती। अतः चार्वाकदर्शन में विवाह को समझौता माना गया है, और प्रत्येक मनुष्य को स्वतंत्रतापूर्वक विवाह करने और उसे विच्छेद

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

करने की प्रक्रिया को मान्यता दी है। दूसरे शब्दों में, चार्वाकदर्शन में स्वतंत्र विवाहप्रणाली तथा विवाहविच्छेद को अनुचित नहीं माना गया है। अतः कहा जा सकता है कि चार्वाक बहुपत्नीत्व या बहुपतित्व विवाह को सार्थक मानता है। यही कारण है कि चार्वाक ने सुकर्मों (वैदिक और धार्मिक अनुष्ठानों) में श्रद्धा रखने वाले लोगों से प्रश्न किया है कि वे मैथुन में वैसी श्रद्धा क्यों नहीं रखते ? उसका कथन है कि जिस कर्म के संपादन में अंततः सुख की प्राप्ति हो, वही कर्म श्रेयस्कर है।[२४] मैथुन में प्रत्यक्ष सुख की प्राप्ति होती है, इसलिए वह करणीय है।

निष्कर्षतः चार्वाकदर्शन में विवाह का उच्छेदन नहीं है, वरन् विवाह की समक्षीतावादी और बहुपत्नीत्व या बहुपतित्व-वादी अवधारणा स्थापित है। वह स्वयंवर और प्रेमविवाह को ही प्रश्रय देता है। वस्तुतः विवाह का आधार प्रेम है। प्रेम काम-संबंध को दृढ़ करता है। जहाँ प्रेम है, वहाँ जाति की संकीर्णता नहीं होती। प्रेम हृदय को विशाल बनाता है, मस्तिष्क को प्रगतिशील बनाता है। अतएव चार्वाकदर्शन विवाह के संबंध में प्रगतिशील और उदार विचार को अपनाता है जिसमें वैदिक बिधि-विधान का तामशाम और खर्चीलापन नहीं है, अर्थात् वह सादगीपूर्ण विवाहपद्धति को मान्य करता है जिसमें नाममात्र का खर्च होता है।

दर्शन विभाग — नरेश प्रसाद तिवारी
एस. यू. कॉलेज, हिलसा (नालन्दा)
मगध विश्वविद्यालय सेवा (बिहार)

टिप्पणियाँ

१. काम एवैकः पुरुषार्थः— बार्हस्पत्यसूत्र

२. न हि कश्चित्क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वं प्रकृतिजैर्गुणैः॥

— गीता, ३. ५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३. Dharma is what is indicated by vedic injunctions as conducive to the highest good.
– S. Radhakrishnan & C. A. Moore, *A Source Book of Indian philosophy*, p. 490.

४. यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः ।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसंगः समाचर ।।
– गीता, ३. ९

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः ।
लोकसंग्रहमेवापि संपश्यन् कर्तुमर्हसि ।।
– गीता, ३. २०

५. श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात् ।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ।।
– गीता, ३. ३५

६. प्रश्नोपनिषद्, २. ५–६
फ्रायड ने काम की सहजप्रवृत्ति को मानव-जीवन के प्रथम दिन से अंतिम दिन तक उसमें वर्तमान माना है । नार्मन हेयर ने भी कहा है– "The sexual instinct is clearly innate" – R. N. Kaul, *A Critical Introduction to Social philosophy*. pp. 66–67.

७. पशुश्चेन्निहतः स्वर्गं ज्योतिष्टोमे गमिष्यति ।
स्वपिता यजमानेन तत्र कस्मान्न हिंस्यते ।।
– माधवाचार्य, सर्वदर्शनसंग्रह

इस सूत्र के आधार पर कहा जा सकता है कि चार्वाक ने अप्रत्यक्षतः संतानोत्पत्ति के लिए यज्ञ को व्यर्थ माना है । इस संबंध में स्पष्टतः उसकी कोई धारणा नहीं दीखती । किन्तु सभी प्रकार के यज्ञकर्मों को उसने व्यर्थ ही बतलाया है ।

८. एकं सन्दिग्धयोस्तावद् भावि तत्रेष्टजन्मनि ।
हेतुमाहुः स्वमन्त्रादीनसंगानन्यधाविटाः ।।
– चार्वाकषष्टि, १९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

९. Marriage is a fence that protects religion. If the fence were to be destroyed, religion would go to pieces. The foundation of religion is restraint, and marriage is nothing but restrain. M. K. Gandhi, *Young India*, June 3, 1926.

१०. लालन प्रसाद सिंह, समाजदर्शन, तृतीय संस्करण, पृ. १०२

११. वही, पृ. १०३

१२. Marriage always implies the right of sexual intercourse : society holds such intercourse allowable in the case of husband and wife and, generally speaking, even regards it as thair duty to gratify in some measure the other partner's desire. – E. Westermarck, *A Short History of Marriage*, p. 1

१३. अद्वैत वेदान्त में मात्र ब्रह्म को ही पारमार्थिक सत्ता कहा गया है। ईश्वर की मात्र व्यावहारिक सत्ता है। पारमार्थिक दृष्टि से ईश्वर, जगत् आदि समस्त पदार्थ ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य नहीं हैं– एकोऽहं न द्वितीयः।

१४. Fundamentally, the doctrine and technique of Kama go back to primitive antiqnity..... No doubt it was through Svetaketu / Uddalaka / Aruni that the archaic Kama–wisdom lost its scope and depth. – H. Zimmer, *Philosophies of India*, p. 149.

१५. ड्यूवी और टफ्ट्स; नीतीशास्त्र, पृ. ५०३

१६. प्रस्तुत लेख के आरंभ में बतलाया गया है कि "स्त्री" का तात्पर्य किसी भी स्त्री से नहीं लिया जाना चाहिए।

१७. शंकराचार्य, गीताभाष्य, १६.८

१८. चार्वाकषष्टि, ११

१९. कृष्णमिश्र, प्रबोधचन्द्रोदय, २.२२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२०. चार्वाकषष्टि, ३३

२१. वही, ३२
जीमर ने भी स्वीकार किया है कि ब्रह्मलोक, जो आध्यात्मिक और निराकार जगत् है, में भी कामशक्ति वर्तमान है।
H. Zimmer, *Philosophies of Indta*, pp. 142–3.

२२ देवीप्रसाद चट्टोपाध्याय, इंडियन फिलॉसफी : ए पोपुलर इन्ट्रोडक्शन पृ. ७३

२३. वात्स्यायन, कामसूत्र, १. २. ४६

२४. सुकृते वः कथं श्रद्धा सुरते च कथं न सा।
तत् कर्म पुरुषः कुर्याद्येनान्ते सुखमेधते ॥
– चार्वाकषष्टि, १२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

राधाकृष्णन्– कुछ विसंगतियाँ

"भारत हमें क्या सिखा सकता है ?" मैक्स मुलर के इस प्रश्न का जितना सही उत्तर हमें राधाकृष्णन् की कृतियों से मिल सकता है, उतना संभवतः कहीं अन्य उपलब्ध नहीं है। विचारों की गहनता व विस्तार, तुलनात्मक अध्ययन तथा आकर्षक व प्रभावपूर्ण शैली द्वारा भारतीय दर्शन में राधाकृष्णन् ने अपना एक विशिष्ट स्थान बना लिया है। पूर्व तथा पश्चिम के विचारों के बीच उन्होंने जिस सेतु का निर्माण किया, उसके द्वारा आने वाली पीढ़ियाँ परस्पर वैचारिक आदान-प्रदान करने में सफल हो सकेंगी। उनके तीव्र आलोचक भी उनके विचारों तथा शब्द शिल्प से प्रभावित हुए बिना नहीं रह सके। एक अर्थ में राधाकृष्णन् ने यह सिद्ध कर दिया कि दर्शन का कोई भूगोल नहीं है। दर्शन की समस्यायें देश व काल द्वारा निर्धारित नहीं होती, यद्यपि उन समस्याओं का समाधान किसी देश व काल की संस्कृति, सभ्यता, इतिहास व परंपराओं द्वारा प्रभावित होता है। राधाकृष्णन् के दर्शन पर यह प्रभाव स्पष्ट है। मानव-बुद्धि स्वभाव से संघर्षशील है और उसका संघर्ष विशेष रूप से दर्शन में उपलक्षित होता है। इसी कारण सभी दार्शनिक विचारधाराओं में कुछ विसंगतियाँ होना स्वाभाविक है। प्रस्तुत लेख में राधाकृष्णन् के दर्शन की कुछ विसंगतियाँ संक्षिप्त में प्रदर्शित करने का प्रयास किया गया है। राधाकृष्णन् की प्रारंभिक कृतियाँ अन्य विचारकों की व्याख्या तथा आलोचनायें हैं। उनके अपने विचार यद्यपि *Hindu View of Life, Indian Philosophy* (दो भाग) तथा अन्य लेखों में स्थान-स्थान पर दृष्टिगोचर होते हैं, तथापि उनके दार्शनिक सिद्धान्त विशेष रूप से *An Idealist View of Life* में ही व्यक्त हुए हैं।

दर्शन का इतिहास– प्रोफेसर कॉगर के अनुसार राधाकृष्णन् की ऐतिहासिक कृतियाँ फोटो न होकर चित्रकारी हैं। अन्य दार्शनिकों के विचार प्रस्तुत करते समय राधाकृष्णन् पूर्ण रूप से वस्तुनिष्ठ नहीं रह पाए हैं। मूल प्रश्न यह है कि इतिहासकार को इतिहास लिखते समय क्या यह स्वतंत्रता है कि उसकी व्याख्या

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसके व्यक्तिगत विचारों से प्रभावित हो? राधाकृष्णन् का उत्तर है कि वस्तुनिष्ठता का अर्थ कल्पना का अभाव नहीं है। दर्शन के इतिहास के लिए सहानुभूतिपूर्ण कल्पना व रचनात्मक निरीक्षण आवश्यक हैं। अतीत एक निर्जीव मोम की कृति के समान नहीं है। राधाकृष्णन् अतीत को खुदाई करने वाले की वैज्ञानिक जिज्ञासा के लिए पथरीबो अस्थिपिंजर के समान नहीं मानते।[1] अपनी भारतीय दर्शन (प्रथम भाग) की भूमिका में वे लिखते हैं कि लेखक के निर्णय व सहानुभूति छिपे नहीं रह सकते। तथा उचित व निष्पक्ष कथनों के लिए आलोचना से बचाना आवश्यक नहीं है। किन्तु यदि प्रत्येक इतिहास, इतिहासकार की रुचियों से प्रभावित होगा तो क्या हमें मूल चित्र का दर्शन दे सकेगा? इतिहास वह आधार नहीं बन सकता जिस पर इतिहासकार अपने पूर्वाग्रहों (पक्ष अथवा विपक्ष) को व्यक्त करे। आलोचना व इतिहास का क्षेत्र सर्वथा पृथक् है। पूर्वाग्रही इतिहासकार अवश्य ही अन्य दृष्टिकोणों के दोषों का अवलोकन करेगा, उनके गुणों का नहीं। लेखक की "सहानुभूति" मूल को व्यक्त करने में बाधक बनेगी। व्यक्ति का जीवन तथा जगत् के प्रति निष्पक्ष दृष्टिकोण ही सही इतिहास व्यक्त कर सकता है। राधाकृष्णन् स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि जिन विचारों व सिद्धान्तों को हम स्वीकार नहीं करते उनके प्रति ईमानदार व उदार रहना अत्यन्त कठिन है। एक दार्शनिक भले ही प्राचीन सामग्री पर नया प्रासाद बना सकता है, किन्तु तब नहीं जब वह एक इतिहासकार की भूमिका में है। यदि इतिहासकार ही निष्पक्ष द्रष्टा नहीं है तो नए युग को अतीत का सही रूप किस प्रकार प्राप्त हो सकेगा? इसके अतिरिक्त स्वयं मनुष्य के विचार तथा दृष्टिकोणों में परिवर्तन रहता है। अतः एक ही इतिहासकार की विभिन्न कालों की कृतियों में ही दृष्टिकोण की भिन्नता आने से व्याख्या बदल जायेगी। कुछ ऐसा ही अन्तर राधाकृष्णन की *Reign of Religion in Contemporary Philosophy* तथा बाद की कृतियों में दिखाई देता है। राधाकृष्णन् की प्रत्येक कृति में उनकी वेदान्त के प्रति सहानुभूति उपलक्षित होती है जिसके परिणाम स्वरूप उनका भारतीय दर्शन का इतिहास, इतिहास न होकर एक विशेष दृष्टिकोण के आधार पर पूर्वाग्रही मूल्यांकन मात्र रह गया है। इस पूर्वाग्रही व्याख्या के कारण अनेक स्थानों पर यह जानना भी कठिन हो जाता है कि दिए हुए विचार मूल लेखक के हैं अथवा व्याख्याकार के।

दर्शन व धर्म– भारतीय दर्शन का सदा से यह दुर्भाग्य रहा है कि उसकी प्रवृत्ति दर्शन व धर्म को एक कर देने की रही है। किन्तु दर्शन न तो धर्म का अनुगामी है और न ही धर्मों के विरुद्ध कोई प्रतिक्रिया। दोनों का क्षेत्र भिन्न है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दर्शन एक विधि तथा प्रवृत्ति है। "दर्शन" शब्द का अर्थ है "देखना"। किन्तु इसके अन्तर्गत किसी अतिबौद्धिक साक्षात्कार का समावेश नहीं है। अपनी प्रारंभिक कृति *Reign of Religion in Contemporary Philosophy* में राधाकृष्णन् यह मत व्यक्त करते हैं कि दार्शनिक अन्वेषण में धर्म का हस्तक्षेप उचित नहीं है। किन्तु उनकी बाद की कृतियों में उन्होंने दर्शन व धर्म का भेद ही लगभग समाप्त कर दिया गया है। यद्यपि वे धार्मिक रुढ़िवाद तथा धार्मिक अनुभव में भेद करते है, तथापि धार्मिक अनुभव को भी दर्शन से एक नहीं किया जा सकता। राधाकृष्णन् के अनुसार, क्योंकि दर्शन का कार्य अनुभव के समस्त पक्षों का समन्वय तथा व्याख्या करना है, अतः धार्मिक अनुभव को भी दर्शन से पृथक् नहीं किया जा सकता। प्रथम तो यही संदिग्ध है कि दर्शन का कार्य अनुभव के समस्त पक्षों का समन्वय या व्याख्या है। यदि तर्क के लिए हम दर्शन के इस कार्य को स्वीकार भी कर लें तब भी धर्म को जीवन के अनेक पक्षों में से एक मानना तथा केवल धर्म को ही जीवन का केन्द्र बिन्दु मान लेना, बहुत भिन्न हैं। धर्म का विषय दर्शन से बाह्य है। धर्म में आस्था तथा विश्वास मुख्य हैं; प्रश्न तथा संदेह का उसमें कोई स्थान नहीं है। दर्शन में प्रश्न तथा चिन्तन मुख्य है। इसके विपरीत राधाकृष्णन् शंकराचार्य के इस मत से सहमत हैं कि यथार्थता हमारे विचारों की परिधि से कहीं अधिक महान् तथा बृहत् है। किन्तु हमारी भावनायें तथा संवेग दार्शनिक अन्वेषण का आधार नहीं बन सकते। हमारी स्वीकृतियाँ अथवा अस्वीकृतियाँ संवेग रहित होनी चाहिए। दर्शन का लक्ष्य "शान्ति तथा आनन्द" की उत्पत्ति नहीं है। इन्हें दार्शनिक सत्यों की कसौटी नहीं माना जा सकता जैसा कि राधाकृष्णन् मानते प्रतीत होते हैं। धर्म से स्वतंत्र रह कर ही दर्शन अपने लक्ष्य में पूर्णरूप से सफल हो सकता है। राधाकृष्णन् स्वयं यह मानते हैं कि कोई सिद्धान्त दार्शनिक है अथवा नहीं, यह उसके निष्कर्षों पर नहीं वरन् उसकी विधि पर निर्भर करता है। किन्तु उन्होंने दर्शन व धर्म दोनों के लिए अन्तःप्रज्ञा को ही अन्तिम महत्त्व दिया है। इस स्थिति में दोनों में अन्तर किस प्रकार किया जा सकेगा ? वास्तव में अन्तःप्रज्ञा को एक विधि के रूप में दर्शन के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता।

अन्तःप्रज्ञा तथा बुद्धि– राधाकृष्णन् के दर्शन की अन्तःप्रज्ञा सम्बन्धी विसंगति केवल उनके द्वारा शब्द के विभिन्न और कभी कभी विरोधी प्रयोगों में ही नहीं है वरन् अन्तःप्रज्ञा तथा बुद्धि के सम्बन्ध के विषय में भी है। राधाकृष्णन् ने "अन्तःप्रज्ञा" का अनेक अर्थों में प्रयोग किया है। कभी इसका प्रयोग मानसिक प्रक्रिया के रूप में हुआ है और कभी प्रक्रिया के परिणाम के रूप में। कभी विशेष

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

योग्यता (capacity) के लिए तो कभी ज्ञान के उद्गम के लिए, या कभी अन्तः-प्रज्ञा द्वारा वह ज्ञान प्राप्त किया जाता है जो अन्य विधिओं द्वारा अप्राप्य है। इस शब्द का प्रयोग विशेष रूप से "सम्पूर्ण साक्षात्कार" अथवा "सम्पूर्ण अनुभव" के लिए भी हुआ है। किन्तु साथ ही अन्तःप्रज्ञा को सामान्य सत्य के ज्ञान के लिए भी प्रयुक्त किया गया है। यह शब्द वस्तुओं के ज्ञान का निर्देश भी करता है। किन्तु "एक सत्" के पूर्ण ज्ञान के लिए भी राधाकृष्णन् इसका प्रयोग करते हैं। अनेक स्थानों पर इस शब्द के प्रयोग के साथ साथ ऐसा भी प्रतीत होता है कि कि राधाकृष्णन् "ज्ञाता" व "ज्ञेय" के भेद को बनाए रखना चाहते हैं, किन्तु दूसरे स्थानों पर इस द्वैत को पूर्ण रूप से अस्वीकार कर दिया गया है, जब कि वे यह कहते हैं कि यथार्थता के साथ एकरूपता से अन्तःप्रज्ञात्मक ज्ञान उदित होता है। यह "होने" द्वारा हुआ ज्ञान है, इन्द्रियों या प्रतीकों द्वारा नहीं। यह तादात्म्य द्वारा वस्तुओं के सत्य की चेतना है। राधाकृष्णन् चेतना तथा आत्म चेतना के साथ अतिचेतना को भी स्वीकार करते हैं और अतिचेतना व उससे प्राप्त अन्तःप्रज्ञाओं को ही सर्वाधिक महत्त्व देते हैं।

वास्तव में राधाकृष्णन् का अन्तःप्रज्ञा सम्बन्धी विवेचन ही उनके दर्शन का सबसे भ्रामक विषय है। उसकी विशेषता "सम्पूर्ण एकत्व" की है जैसा कि वे उपनिषदों से उद्धृत करते हैं। वह सम्पूर्णता की एक सामान्य ग्राह्यता है। कुछ कथन अन्तःप्रज्ञा का तादात्म्य रहस्यात्मक अनुभव को "शान्ति" तथा "आनन्द" से करते हैं जो अपने आप में यथेष्ट तथा पूर्ण है, किन्तु कभी अन्तः-प्रज्ञा को साध्य न मानकर केवल साधन माना है। "अन्तःप्रज्ञा ही आत्म-साक्षात्कार का साधन है।"[३] इस अर्थ में अन्तःप्रज्ञा को सम्पूर्ण अनुभव नहीं कहा जा सकता किन्तु लेखक यह भी मानता है कि अन्तःप्रज्ञात्मक जीवन ही मोक्ष है। इस प्रयोग में अन्तःप्रज्ञा आत्मा के एकत्व का अनुभव है, साधन नहीं। इस प्रकार अन्तःप्रज्ञा का विभिन्न अर्थों में प्रयोग राधाकृष्णन् को विरोधी निष्कर्षों की ओर प्रवृत्त करता है और संभवतः इसी कारण 'परम रहस्य' एक ऐसा 'दुर्बोध रहस्य' बन जाता है जो मानव की सीमा से परे है।

अन्तःप्रज्ञा तथा बुद्धि का कभी समन्वय और कभी संघर्ष राधाकृष्णन् की सभी कृतियों में स्पष्ट है। वे अन्तःप्रज्ञा के अन्तर्गत विचार या चिन्तन भी सम्मिलित करते हैं और बुद्धि को इतना महत्त्व दे देते हैं कि अन्तःप्रज्ञा का प्रमाणीकरण बुद्धि द्वारा मानते हैं। हम अन्तःप्रज्ञा द्वारा खोज करते हैं जब कि तर्क द्वारा सिद्ध करते हैं।[४] राधाकृष्णन् के अनुसार ज्ञान मूल रूप से तीन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकार का होता है- इन्द्रियात्मक अनुभव, चिन्तनात्मक तर्क तथा अन्तःप्रज्ञात्मक चेतना।[५] किन्तु लेखक के अनुसार प्रथम दो प्रकार यथार्थ अथवा सत् के ज्ञान के लिए अनुपयुक्त हैं।[६] किन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि यह अनुपयुक्तता भाषा की अपूर्णता के कारण है अथवा विषय को ग्रहण करने की अयोग्यता के कारण। कभी बुद्धि तथा अन्तःप्रज्ञा में निकटता उपलक्षित होती है तो अन्य कथन दोनों का विरोध प्रकट करते है। दोनों की निकटता तब प्रकट होती है जब वे कहते हैं कि अन्तःप्रज्ञा सम्पूर्ण मानव की प्रतिक्रिया है तथा इस प्रतिक्रिया में बुद्धि का कार्य भी सम्मिलित है।[७] अन्तःप्रज्ञा तथा बुद्धि में कोई अन्तराल नहीं है। वे यहाँ तक मानते हैं कि बुद्धि सहित अन्तःप्रज्ञा बुद्धि रहित अन्तःप्रज्ञा से उत्तम है। अन्तःप्रज्ञा को बौद्धिक बना कर हम इसको अधिक गहन करते हैं।[८] जब अन्तःप्रज्ञायें उदित होती हैं तब वे प्रमाणित की जा सकती हैं तथा की जानी चाहिए।[९] यह भी कहा गया है कि तर्क इस अन्तःप्रज्ञा का समर्थन करता है तथा समस्त प्रक्रियायें आंशिक रूप से अन्तःप्रज्ञात्मक होती हैं तथा आंशिक रूप से बौद्धिक।[१०] दोनों के द्वारा ही जीवात्मा निरपेक्ष से तादात्म्य कर सकती है। "होना" व "जाना" एक ही अनुभव के भिन्न पक्ष हैं।

किन्तु राधाकृष्णन् अपने ही विचारों का विरोध करते हैं जब वे अन्तःप्रज्ञा को बुद्धि से पूर्ण रूप से पृथक् तथा कभी-कभी विरोधी मानते हैं। केवल सीमा के भीतर ही बुद्धि पर विश्वास किया जा सकता है। बुद्धि का स्थान गौण हो जाता है उनके इस विश्वास द्वारा कि जिन गहन आस्थाओं द्वारा हम जीते और विचार करते हैं, जो समस्त विचार और जीवन के मूल सिद्धान्त हैं, वे इन्द्रियात्मक अनुभव या तार्किक ज्ञान द्वारा उद्भूत नहीं हैं।[११] राधाकृष्णन् अन्तःप्रज्ञा को ही इन मूल सिद्धान्तों का उद्गम मानते हैं। हमारे जीवन का अन्त आ जायगा यदि अन्तःप्रज्ञात्मक ज्ञान हमें ऐसे सामान्य साध्य-वाक्य न दें जिनके विषय में न प्रश्न किया जा सकता है और न ही जिन्हें प्रमाणित किया जा सकता है।[१२] किन्तु वे बुद्धि को अन्तःप्रज्ञा की कसौटी भी मान चुके हैं। वे एक दूसरी कसौटी भी मान लेते है (व्यवहारवादी) जब वे कहते है "वैज्ञानिक अनुभव निरन्तर आस्था का समर्थन करता है किन्तु किसी भी स्तर पर आस्था की प्रक्रिया तार्किक रूप से सिद्ध तर्क वाक्य नहीं बन सकती। हमारा सम्पूर्ण तार्किक जीवन एक गहन अन्तर्दृष्टि के आधार पर विकसित होता है जो भ्रम न होकर विवेक सिद्ध होता है क्योंकि वह कार्यक्षम है।"[१३] कहीं कहीं अन्तःप्रज्ञा को इतना महत्त्व दिया गया है कि केवल उसे ही धर्म (व दर्शन) का प्रमाण माना है। समस्त वास्तविक धर्म अत्यधिक रहस्यवादी होता है।[१४] एक ओर धार्मिक अनुभव को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्वतःसिद्ध मानते हैं किन्तु यह भी कहना चाहते है कि धार्मिक द्रष्टा के विश्वासों का ऐसा औचित्य बताना आवश्यक है जो उस काल के विचार को संतुष्ट कर सके।[१५] अनेक कथनों द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि राधाकृष्णन् तर्क द्वारा अन्तःप्रज्ञा को प्रमाणित करना चाहते हैं, किन्तु इसको कोई निश्चित विधि वे नहीं देख सके। किन्तु दूसरी ओर कहीं कहीं पाठक को ऐसा भी प्रतीत होता है कि अन्य दार्शनिकों द्वारा किये गये ऐसे प्रयत्न को वे अत्यन्त तुच्छ दृष्टि से देखते हैं।

ब्रह्म व ईश्वर– राधाकृष्णन् के अनुसार निरपेक्ष का वर्णन नहीं किया जा सकता।[१६] किन्तु इस स्वीकृति के पश्चात् भी निरपेक्ष के विषय में अनेक कथन किए गए हैं; निरपेक्ष सभी संभाव्यताओं तथा वास्तविकताओं का अधिष्ठान है।[१७] वह अपने आप में आत्मचेतना की पूर्णता में लौट आता है।[१८] निरपेक्ष वह है जिसमें सब कुछ प्राप्त होता है, किन्तु सब खो जाता है। निरपेक्ष में विशेष हैं जैसे सत्य, सुन्दर आदि। उसमें कोई मात्रा भेद नहीं है। किन्तु अत्यन्त निर्वैयक्तिक से अत्यन्त वैयक्तिक की ओर की व्याख्याओं की क्रमिक अवस्था है।[१९] *Reign of Religion in Contemporary Philosophy* में अनेक आत्म-विरोधी कथन हैं जैसे निरपेक्ष अपरिवर्तनशील है, अविकारी है जिसकी वृद्धि नहीं होती, किन्तु वह कोई स्थिर सत्ता नहीं वरन् वह आदर्श है जो मानवीय ज्ञान में क्रियान्वित होता है। वह स्वतंत्र तथा विस्तृत है और जगत् के रूप में विकसित होना उसका स्वभाव है।

राधाकृष्णन् निरपेक्ष ब्रह्म तथा ईश्वर में अन्तर करते हैं। यद्यपि *Hindu Veiw of Life* के अनुसार निरपेक्ष के उपासक सर्वोच्च हैं, उसके पश्चात् वैयक्तिक ईश्वर के उपासक तथा अन्त में अवतारों के उपासक। तथापि इसके विपरीत *Religion and Society* में यह विचार भी व्यक्त करते हैं कि आध्यात्मिक वैयक्तिक है। मुक्ति ईश्वर के साथ ही सम्भव है जो आनन्द व सौंदर्य से परिपूर्ण हो।[२०] यदि रहस्यवाद सत्य है तब ईश्वर वैयक्तिक होगा। राधाकृष्णन् मानते हैं कि आनन्द, सौंदर्य व सत्य से पूर्ण एक वैयक्तिक ईश्वर स्वीकार करना आवश्यक है; किन्तु इसे स्वीकार करके निरपेक्ष वाद की स्थापना नहीं हो सकती। इस प्रकार राधाकृष्णन् के दर्शन में निरपेक्षवाद तथा ईश्वरवाद का प्रतिपक्ष दोनों के सम्बन्धों को स्पष्ट करने में बाधा बन जाता है। धार्मिक अनुभव का विषय तथा ध्येय आवश्यक रूप से ऐसा ईश्वर माना जाता है जिससे व्यक्तिगत सम्बन्ध संभव हो, किन्तु निरपेक्षवाद में ऐसी किसी सत्ता का उल्लेख

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नहीं हो सकता। निरपेक्ष से किसी प्रकार के रहस्यात्मक या संवेगात्मक सम्बन्ध संभव नहीं है। किन्तु फिर भी राधाकृष्णन् "निरपेक्ष" के "उपासकों" को सर्वोच्च मानते हैं। निरपेक्ष व ईश्वर का तादात्म वे स्वीकार नहीं करते। ईश्वर निरपेक्ष की अभिव्यक्ति है।[२१] वह अमूर्त निरपेक्ष की मूर्तता है। किन्तु मूर्त अभिव्यक्ति अथवा वास्तविक संभाव्यताओं की रचना में क्या निरपेक्ष स्वयं सापेक्ष नहीं हो जाता? वह किस प्रकार अछूता बना रहता है? या तो हमें दोनों में तादात्म्य स्वीकार करना होगा, किन्तु इस स्थिती में निरपेक्ष, निरपेक्ष नहीं रह जायगा, अथवा दोनों में विरोध स्वीकार करना होगा। निरपेक्ष स्वरूप से ही समस्त सम्बन्धों तथा मूर्त विषयों से परे है– ऐसी सत्ता अवश्य ही अमूर्त होगी। इस प्रकार राधाकृष्णन् का निरपेक्ष-एकवाद विरोधाभासी हो जाता है। राधाकृष्णन् अपने आपको अद्वैत वेदान्ती मानते हैं किन्तु उनकी ईश्वरवादी प्रवृत्ति उन्हें रामानुज के अधिक निकट ले जाती है। यदि राधाकृष्णन् रामानुज के विशिष्टाद्वैत का अनुकरण करते तो सम्भवतः अपने धार्मिक विश्वासों के साथ अधिक न्याय कर सकते थे।

जीव तथा मोक्ष– जीव के विषय में भी राधाकृष्णन् दो विपरीत मतों का प्रतिपादन करते प्रतीत होते हैं। एक वह जो जीवात्मा तथा परमात्मा के अद्वैत को व्यक्त करता है तथा दूसरे मत के अनुसार जीवात्मा की अपनी स्वतंत्र सत्ता है। अन्तःप्रज्ञा के जिस स्वरूप का वर्णन राधाकृष्णन् करते हैं, उससे यही निष्कर्ष निकलता है कि अन्तिम सत्य जोवात्मा का निरपेक्ष से तादात्म्य है। "आत्मा ही विश्वात्मा अथवा चैतन्य है जो अन्य सब को निहित करता है।... जिस आत्मा की हमें खोज है वह ज्ञान का विषय नहीं वरन् समस्त ज्ञान का आधार है।"[२२] हमारा मनस् जगमनस् है, जीवात्मा विश्वात्मा है, वही परमात्मा है। किन्तु राधाकृष्णन् जोवात्मा के व्यक्तित्व का हनन भी करने को तैयार नहीं है। आत्मा तथा परमात्मा का एकत्व आत्मा को निरर्थक नहीं बना देता। वे मानते हैं कि आध्यात्मिक आत्म-साक्षात्कार की प्रक्रिया में हम अपनी विशिष्टता को समाप्त नहीं कर देते। रहस्यवादी अवस्था में हम निरपेक्ष से एक हो जाते हैं तथा हमें अपने एकत्व की चेतना रहती है। किन्तु यदि "निरपेक्ष" से अपने "एकत्व" की चेतना है तो क्या वह एकत्व हो सकेगा? क्या उसमें द्वैत का पूर्ण निराकरण हो सकेगा? एक ओर राधाकृष्णन् यह मानते हैं कि विशेष व्यक्तियों की भिन्नता केवल आकस्मिक है।[२३] सर्वोच्च रहस्यवादी अवस्था में व्यक्ति का परमात्मा में विलय हो जाता है। केवल इसी की अनुभवातीत सार्थकता है। व्यक्ति का दिव्यत्व ईश्वर के अंश की पूर्णत्व प्राप्त करने की आकांक्षा है।[२४]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समस्त प्रासंगिक विचार, भावना व संकल्प का आवश्यक परिणाम, विषय तथा विषयी का तादात्म्य है।[२५] किन्तु इसके विपरीत राधाकृष्णन् यह भी मानते हैं कि जीवात्मा कभी परमात्मा में विलीन नहीं होता। केवल वैयक्तिक प्रेम में एकत्व है, जिसके परिणाम स्वरूप हम एक को दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। परमात्मा व जीवात्मा भिन्न हैं यद्यपि प्रेम में परस्पर संयुक्त हो जाते हैं।[२६] शब्दजाल में छिपा यह अन्तर्विरोध राधाकृष्णन् को किसी निश्चित व स्पष्ट सिद्धान्त स्थापित करने में असफल कर देता है। राधाकृष्णन् यह भी मानते हैं कि एक दिन आएगा जब प्रत्येक जीवात्मा मोक्ष प्राप्त लेगी। किन्तु उस मध्यवर्तीकाल तथा सर्वमुक्ति के पश्चात् जीवात्माओं के अस्तित्व का क्या स्वरूप होगा इस विषय में भी राधाकृष्णन् कोई निश्चित निष्कर्ष नहीं दे सके हैं। जीव तथा मोक्ष के विषय में भी राधाकृष्णन् का मत रामानुज के वैयक्तिक अनेकवाद से अधिक समता रखता है।

जगत्– प्राकृतिक जगत् का मूल्यांकन भी रहस्यवादी भाषा में ही किया है। रहस्यवाद की मूल अवधारणा भौतिक मूल्यों का निषेध है। सर्वोच्च मूल्य तथा सर्वोच्च शुभ विश्वातीत हैं। उसी परम्परा के अनुसार राधाकृष्णन् भी यह मानते हैं कि विश्व का आंतरिक मूल्य नहीं है तथा इसकी कोई वैसी स्वतंत्र भौतिक यथार्थता नहीं है जैसी स्वभाववादी मानते हैं। किन्तु राधाकृष्णन् इसका बहुत जोर देकर निषेध करते हैं कि जगत् अयथार्थ है। बल्कि इसके विपरीत वे यह मानते हैं कि जगत् भी ईश्वर की अपनी अभिव्यक्ति है।[२७] रहस्यवादी अनुभव जगत् का निषेध न करके जगत् को गौरवान्वित करता है। जगत् की व्युत्पन्न सत्ता है। यह निरपेक्ष की अभिव्यक्ति है, स्वयं निरपेक्ष नहीं है। उनके लिए जगत निरपेक्ष का परिणाम भी नहीं है क्योंकि इस स्थिति में निरपेक्ष परिवर्तनशील हो जायगा। जगत् तथा ब्रह्म की एक-पक्षीय निर्भरता दिखाने के लिए वे सर्प व रज्जु की उपमा देते हैं, किन्तु यदि जगत् सर्प के समान भ्रम नहीं है, व्युत्पन्न है और ब्रह्म पर आधारित है तब वह किस अर्थ में और किस प्रकार ब्रह्म की अभिव्यक्ति है? इसके समाधान के लिए राधाकृष्णन् ब्रह्म तथा ईश्वर में अन्तर करते हैं और माया का प्रत्यय ले आते हैं। किन्तु इससे समस्याओं की वृद्धि ही होती है। क्योंकि अद्वैतवादी विचार-धारा में यह समस्त अन्तर ठहर नहीं सकते। माया का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है और माया की अनिर्वचनीयता राधाकृष्णन् के जगत् के अस्तित्व व स्वरूप को भी अस्पष्ट व अनिश्चित बना देती हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस प्रकार राधाकृष्णन् के दर्शन में अद्वैत व विशिष्टाद्वैत का संघर्ष, ब्रह्म, जीवात्मा, जगत् सभी के स्वरूप में स्पष्ट रूप से प्रदर्शित होता है। राधाकृष्णन् सभी प्रकार के रहस्यवाद से प्रभावित हैं, किन्तु वे भक्ति व प्रेम के रहस्यवाद के अधिक निकट हैं। यद्यपि वे अद्वैत वेदान्त की परम्पराओं पर चलने को उत्सुक हैं तथापि उनकी धार्मिक आस्थायें उन्हें अनजाने ही रामानुज की विचारधारा पर पहुंचा देती हैं। किन्तु इसके परिणामस्वरूप उत्पन्न विसंगतियों से राधाकृष्णन् के दर्शन का महत्त्व किसी प्रकार कम नहीं होता। सर्वांगी दृष्टिकोण, तुलनात्मक विचार तथा गहरे चिन्तन के कारण उन्हें भारतीय दर्शन का सही प्रतिनिधी कहा जा सकता है। राधाकृष्णन् के विचार हमें केवल दर्शन से ही परिचित नहीं कराते वरन् एक आध्यात्मिक अनुभव की ओर उन्मुख करते हैं।

– प्रेम मिश्र

दर्शन विभाग
जोधपुर विश्वविद्यालय
जोधपुर

टिप्पणियाँ

१. *The Philosophy of Radhakrishnan*– Library of Living Philosophers. p. 821.
२. *An Idealist View of Life* p. 138
३. *Ibid* p. 139.
४. *Ibid* p. 177.
५. *Ibid* p. 134.
६. *Ibid* p. 134.
७. ' The Spirit in Man ' (*Contemporary Indian Philosophy*) p. 269.
८. *An Idealist View of Life* p. 153.
९. *Ibid* 181.
१०. *Ibid* p. 181.
११. *Ibid* p. 154.
१२. *Ibid* p. 156.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१३. *An Idealist View of Life*, p. 155
१४. *Indian Philosophy*, Vol. I p. 236.
१५. *Hindu View of Life* p. 15.
१६. *Indian Philosophy*, Vol. I– p. 165.
१७. *An Idealist View of Life*, p. 343.
१८. *Reign of Religion in Contemporary Philosophy*, p. 165.
१९. *An Idealist View of Life*. p. 100.
२०. *Indian Philosophy*, Vol I– p. 556.
२१. *An Idealist View of Life*, p. 342.
२२. *Indian Philosophy*, Vol I– p. 194.
२३. *Ibid* p. 552.
२४. *Ibid* p. 209.
२५. *Ibid* p. 194.
२६. *The Philosophy of S. Radhakrishanan*. The Library of Living Philosaphers. p. 799.
२७. *Indian Philosophy*, Vol. I– p. 186.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बौद्ध दर्शन में कारणता

कारणता प्रत्येक भारतीय दार्शनिक सम्प्रदाय की प्रमुख समस्या रही है। कारणता की धारणा किसी दार्शनिक सम्प्रदाय की उस तर्क-पद्धति को प्रदर्शित करती है जिस पर वह दर्शन स्थापित होता है। ऋग्वेद से लेकर बुद्ध तक के प्रादुर्भाव तक कारणता संबंधी अनेक सिद्धान्त प्रचलित थे। इन सिद्धान्तों के विरुद्ध ही बौद्धों ने अपने कारणता सिद्धान्त की स्थापना की। प्रारम्भिक बौद्ध साहित्य में इन पूर्वपक्षीय सिद्धान्तों का उल्लेख किया गया है।

दैनिक अनुभवों में प्राप्त प्रकृति की घटनाओं में नियमितता के आधार पर आगमनात्मक अनुमानों द्वारा कारणता के सिद्धान्त को माना गया। यह नियमितता प्रकृति में अन्तर्निहित किसी शक्ति या कर्ता की इच्छा शक्ति द्वारा संचालित होती है, ऐसा समझा गया। यही ऋत की धारणा है, जो हमें ऋग्वेद में प्राप्त होती है। तत्पश्चात कारणता की विधिवत् व्याख्या आजीविकों में मिलती है। उनमें परिवर्तन संबंधी दो परस्पर विरोधी सिद्धान्त द्रष्टव्य हैं, जो श्वेताश्वतरोपनिषद् में भी वर्णित हैं। ये सिद्धान्त है – (१) यदृच्छावाद (indeterminism, accidentalism), तथा (२) नियतिवाद (Strict determinism, fatalism)। यदृच्छावाद के अनुसार घटनायें आकस्मित रूप से घटित होती हैं। इनका कोई कारण नहीं होता, जबकि नियतिवाद के अनुसार प्रत्येक घटना किसी पदार्थ में निहित नियमन-शक्ति द्वारा होती है। नियतिवाद का अर्थ यह भी है कि हमारे जीवन की सभी घटनायें अतीत कर्मों द्वारा निर्धारित होती हैं। नियतिवाद से मिलता-जुलता चार्वाकों का स्वभाववाद है। वस्तुओं की नियमन-शक्ति ही उसका स्वभाव है। इसमें पुरुष का प्रयत्न व्यर्थ है। "स्वभाविकं सर्वमिदञ्च यस्मादतोऽपि मोघो भवति प्रयत्नः"।[1] उदाहरणार्थ, अग्नि का स्वभाव है दाहकता।

स्थानाभाव के कारण इन बौद्धेतर सिद्धान्तों का विस्तार से वर्णन यहाँ संभव नहीं और न तो इसकी कोई आवश्यकता है। इनका संक्षिप्त वर्णन

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ७, अंक २, मार्च, १९८६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

केवल बौद्ध कारणता सिद्धान्त को समझने के लिए पृष्ठभूमि के रूप में किया गया है।

भारतीय चिन्तन के इतिहास में सर्वप्रथम कारणता के सिद्धान्त का सुस्पष्ट प्रतिपादन बौद्धों ने किया। यह यदृच्छावाद और नियतिवाद – दो अतिवादी सिद्धन्तों का निराकरण करके मध्यम मार्ग को स्वीकार करता है। इसके अतिरिक्त बौद्ध आत्मा का निषेध करते हुए कारणता की एक नई व्याख्या देते हैं। उदाहरण के लिए तीन प्रत्ययों (conditions) के विद्यमान होने पर ही चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है – (१) अक्षुण्ण और दोषरहित चक्षु हो (अज्झत्तिकं ..... चक्षु अपरिभिन्नं होति)[२], (२) वाह्य रूप (पदार्थ) दृष्टि क्षेत्र की परिधि में हो (बहिरा च रूपा आपाथं आगच्छन्ति)[३], और (३) मन ध्यानावस्थित हो (तज्जो च समन्नाहारो होति) [४]। जब ये प्रत्यय एक साथ विद्यमान होते हैं तभी चक्षुर्विज्ञान उत्पन्न होता है। इनमें से कोई भी एक अविद्यमान हो तो चक्षुर्विज्ञान संभव नहीं। ये सभी प्रत्यय इस सन्दर्भ में कार्योत्पादन के लिए व्यक्तिगत रूप से अनिवार्य (individually necessary) हैं तथा समष्टि रूप से पर्याप्त (collectively together sufficient) हैं। भौतिक कारणता का भी एक उदाहरण लें - बीज से अंकुर उत्पन्न होने के लिए तीन प्रत्ययों का होना आवश्यक है – (१) बीज अक्षुण्ण हो, अर्थात् हवा, जल, अग्नि आदि द्वारा क्षत न हो, (२) उसका रोपण अच्छी प्रकार किया गया हो, और (३) उसे आवश्यक मिट्टी, जल, हवा आदि उपलब्ध हो। इन तीनों प्रत्ययों के विद्यमान होने पर ही बीज अंकुरित होता है। यदि इनमें से एक भी अविद्यमान हो तो बीज अंकुरित नहीं होगा। इस प्रकार समग्र प्रत्ययों का योग ही कारण है, तथा प्रत्येक प्रत्यय का कार्य के साथ एक विशेष सम्बन्ध होता है।

बौद्ध दर्शन में कारणता को प्रतीत्यसमुत्पाद (पालि – पटिच्चसमुप्पाद) के नाम से जाना जाता है। इस सिद्धान्त का उद्भव किसी तत्त्वमीमांसीय तत्त्व की खोज नहीं, अपितु यह वह सत्य है जो हमारे जीवन के अनुभवों में प्राप्त होता है। बुद्ध का प्रथम आर्यसत्य – सर्वं दुखम् – वह सार्वभौम तथ्य है जिससे जगत् की प्रत्येक सत्ता ग्रसित है। परन्तु यह दुःख अकारण नहीं – इससके कारण भी हैं। प्रारम्भ में तो इसका स्वरूप आत्मनिष्ठ, नैतिक और व्यक्ति से संबंधित था जो द्वादशांग प्रतीत्यसमुत्पाद (द्वादशनिदान) से स्पष्ट होता है। यह कारणता के सिद्धान्त का विशेष प्रतिपादन (special formulation of causal principle) है। प्रतीत्यसमुदात्पाद की परिभाषा बुद्धघोष ने इस प्रकार दी है --

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

"पटिच्चसमुप्पादं ति पच्चयाकारं। पच्चयाकारो ही अञ्जमञ्जम् पटिच्च सहिते धम्मे उप्पादेति। तस्मा पटिच्चसमुप्पादो ति वुच्यति। ५

अर्थात् "प्रतीत्यसमुत्पाद कारणरूप है और कारणरूपता वह है जिसके अनुसार धर्म का पारस्परिक उत्पाद होता है। अतः इसे प्रतीत्यसमुत्पाद कहते हैं।"

कोई भी कार्य न तो स्वयं (स्वभावतः) होता है और न अहेतुक (अकारण) होता है, अपितु प्रत्ययों के विद्यमान होने पर ही होता है –

"उप्पज्जमानो च सह समा च उप्पज्जति न एकेकतो न पि अहेतुको ति समुप्पन्नो।" ६

"पच्चये निस्साय समुप्पन्नं।" ७

कारणता की यह व्यवितनिष्ठ या मानवीय व्याख्या मानवेतर बाह्य जगत् में भी लागू होती है, अर्थात् जैविक और अजैविक दोनों प्रकार की सत्ताएं इससे नियन्त्रित होती हैं। तब इसका स्वरूप इस प्रकार होता है –

"अस्मिन् सति इदं भवति।" ८

इस प्रकार प्रारम्भिक बौद्धदर्शन में कारणता न तो आत्मनिष्ठ (subjective) है और न बाह्य जगत् पर मस्तिष्क द्वारा आरोपित कोई वैचारिक कोटि (category) है। बौद्धों ने कारणता की वस्तुनिष्ठता (objectivity) पर अत्यधिक जोर दिया है। उनके अनुसार कारणता की चार विशेषताएँ हैं –

१) तथता (objectivity) बुद्ध के प्रादुर्भाव से पूर्व उपनिषदों में परिवर्तन को विवर्त और आत्मनिष्ठ माना गया। परिणामस्वरूप कारणता भी विवर्त बनकर रह गयी। उनकी मान्यता यह थी कि परिवर्तन मात्र ज्ञानात्मक (epistemic) है, यह कोई वास्तविक या सत्तामूलक (ontological) तथ्य नहीं। दूसरे शब्दों में, वास्तविक सत्ता अपरिवर्तनशील है, कूटस्थनित्य है। परिवर्तन या कारणता आभास (appearance) मात्र है। इसका केवल ज्ञानात्मक अस्तित्व है। बुद्ध ने कूटस्थ नित्य तत्त्व का निषेध किया और उसके बदले में कार्य-कारण नियम की वस्तुनिष्ठ व्याख्या की। उनके द्वितीय और तृतीय आर्यसत्य (दुःख का कारण है, दुःख के कारणों का निदान है) कारणता के सिद्धान्त की ओर निर्देश करते है। यहाँ कारणता आत्मनिष्ठ नहीं या हमारी धारणाओं (ideas) के बीच सम्बन्ध स्थापित करनेवाली कोई वैचारिक कोटि (category) नहीं। यह तो मनोवैज्ञानिक और भौतिक दोनों वास्तविक जगत् में समान रूप से लागू होती है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस प्रकार प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में कारणता का सत्तामुलक या यथार्थ अस्तित्व है। तथता का तात्पर्य यह है कि कारणता काल्पनिक जगत् नहीं अपितु वास्तविक जगत् से संबंधित है।

२) अवितथता (Necessity) चूंकि आवश्यक प्रत्ययों (conditions) के एक साथ विद्यमान होते ही कार्य उत्पन्न हो जाता है, एक क्षण का भी विलम्ब नहीं होता, अतः कारणता की एक विशेषता अवितथता है–

सामग्गिं उपगतेसु पच्चयेसु मुहुत्तं पि ततो निब्बत्तानं धम्मानं असंभवाभावतो अवितथता।[१०]

३) अनञ्जथता (invariability) चूंकि एक विशेष प्रत्यय समूह से ही कोई कार्य-विशेष उत्पन्न होता है, अन्य प्रत्ययों से नहीं, अतः अनञ्जथता की बात कही गयी है–

"अञ्जधम्मपच्चयेहि अञ्जधम्मानुप्पत्तितो अनञ्जथता हि।"[११]

यह कारण और कार्य के बीच अनिवार्य संबंध का द्योतक है।

४) इदम्पच्चयता (conditionality) प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में इदप्पच्चयता और पटिच्चसमुप्पाद सामान्यतः पर्यायवाची शब्द के रूप में प्रयुक्त हुए हैं। जब कोई प्रत्यय या प्रत्यय-समूह जरा, मरण आदि जैसे कार्यों (अवस्थाओं) को उत्पन्न करते हैं तो इसे हम इदप्पच्चयता कहते हैं–

"यथा वुत्तानं एतेसं जरामरणादीनां पच्चयतो वा पच्चयसमूहतो वा इदम्पच्चयता ति वुत्तो।"[१२]

इसका अभिप्राय यह है कि आवश्यक प्रत्यय या प्रत्ययों के विद्यमान रहने पर ही कोई कार्य उत्पन्न होता है। इससे यदृच्छावाद, नियतिवाद और स्वभाववाद जैसे सिद्धान्तों का खण्डन होता है।

बौद्ध दर्शन में कारणता न केवल मनोवैज्ञानिक जगत्, अपितु भौतिक जगत् में भी लागू होती है। कार्य-कारण भाव से जुड़ी हुई घटनायें निम्न प्रकार से संबंधित होती हैं- १) अ के विद्यमान रहने पर ब उत्पन्न होता है (इदमस्मिं सति इदं होति),। २) दूसरे शब्दों में, ब तब तक नहीं उत्पन्न होता जब तक कि अ विद्यमान न हो, और ब तभी उत्पन्न होता है जब अ विद्यमान रहता है। इस प्रकार प्रत्यय-समूह अर्थात् कारण और उनके कार्य के बीच एक-एक-सम्बन्ध (one-one relation) स्थापित होता है। यह कारणता की सामान्य धारणा से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भिन्न एक वैज्ञानिक व्याख्या है। सामान्य धारणा केवल कारण से कार्य की दिशा में ही सोचती है, जैसे जब कभी अ विद्यमान होता है, ब उत्पन्न होता है। परन्तु कारणता की वैज्ञानिक धारणा समान रूप से दोनों दिशाओं में लागू होती है, अर्थात् एक-एक-सम्बन्ध निर्धारित करती है। जैसे, जब कभी अ घटित होता है, ब भी घटित होता है। ब तब तक नहीं घटित होता जब तक कि अ न घटित हुआ हो। उपर्युक्त दोनों ओर से कार्य-कारण संबंध या कारणता के निर्धारण में प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन के दो प्रमुख सिद्धान्त हैं। यह सामान्य नियम परिवर्तनशील जगत् के निम्न सिद्धान्तों से मेल खाता है– १) अ के उत्पन्न होने पर ब उत्पन्न होता है (इमस्स उप्पादा इदं उप्पज्जति), २) अ के निरुद्ध होने पर ब भी निरुद्ध होता है। इमस्स निरोधा इदं निरुज्झति)।

प्रारम्भिक बौद्ध दर्शन में कारण उन सभी प्रत्ययों के सम्मिलित रूप को कहते हैं जो कार्य को उत्पन्न करने में सहायक होते हैं। यहाँ हेतु (cause) और प्रत्यय (condition) में भेद नहीं किया गया है। यहाँ कारण-कार्य प्रक्रिया में किसी नित्य द्रव्य की तत्त्वमीमांसीय पूर्वधारणा की कल्पना नहीं की गयी है। परन्तु आगे चल कर सर्वास्तिवादियों ने हेतु और प्रत्यय में भेद स्थापित किया। इस प्रकार उनका यह सिद्धान्त कारणता की आम-धारणा (common-sense notion) से भिन्न नहीं। आम धारणा के अनुसार किसी वस्तु (द्रव्य) और उसकी विभिन्न अवस्थाओं में भेद है। अवस्थायें वे हैं जो कार्य-कारण की प्रक्रिया में परिवर्तित होती रहती हैं, जब कि वस्तु (द्रव्य) सभी परिवर्तनों के बीच अपरिवर्तनशील बनी रहती है। इस प्रकार वस्तु तीनों कालों में द्रव्यतः अस्तित्ववान् रहती है। उदाहरणार्थ, मिट्टी घट का हेतु है, जब कि कुम्हार, उसकी छड़ी, चाक आदि प्रत्यय हैं। घट की उत्पत्ति से पूर्व और पश्चात् मिट्टी (द्रव्य) अपरिवर्तित रहती है। सर्वास्तिवादियों की यह मान्यता बौद्ध दर्शन के इतिहास में एक नयी घटना है जिस पर वैशेषिक दर्शन का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है। इसकी आलोचना अन्य सभी बौद्ध दार्शनिक सम्प्रदायों ने की है।

बुद्ध ने अपने सत्य की खोज में दो तथ्यों का ज्ञान प्राप्त किया– १) कारणता के नियम (पटिच्चसमुप्पाद), और २) कारण से उत्पन्न धर्म पटिच्चसमुप्पन्ने च धम्मे)। कारणता के विशेष और सामान्य स्वरूपों की व्याख्या ऊपर की जा चुकी है। बौद्ध दर्शन में कारणता के सिद्धान्त को समझने के लिए कारण से उत्पन्न धर्म को समझना आवश्यक है।

धर्म (पालि–धम्म, वस्तु, elements of existence, thing) के तीन प्रमुख लक्षण हैं– १) अनित्यता, २) दुःखता, और ३) अनात्मता। अनित्यता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का अर्थ यह है कि धर्म परिवर्तनशील (विपरिणामधम्म) है और इस परिवर्तन के बीच कोई नित्य द्रव्य नहीं होता, अतः धर्म अनात्म है। प्रथम लक्षण- अनित्यता- में सार्वभौम क्षणिकवाद का सिद्धान्त उद्भूत होता है। बुद्ध ने अनित्यता की बात कही और उनके अनुयायियों ने आत्यन्तिक तर्क के आधार पर इस तथ्य के निहितार्थ -क्षणिकवाद- की स्थापना की। क्षणिकवाद तक पहुँचने की प्रक्रिया इस प्रकार दर्शायी जा सकती है- हमारे अनुभवों में वस्तुओं में परिवर्तन परिलक्षित होता है। उदाहरण के लिए, हम नवीन वस्त्र पहनना शुरू करते हैं, जो कुछ महीनों या वर्षों में जीर्ण-शीर्ण हो जाता है। वस्त्र में यह परिवर्तन अचानक या आकस्मित नहीं होता, अपितु सूक्ष्म रूप से निरन्तर होता रहता है, जिसका ज्ञान हमें नहीं होता। यदि वस्त्र में एक क्षण की भी स्थिति मानी जाय तो तर्क के आधार पर उसकी स्थिति अनन्त क्षण तक भी मानी जा सकती है। इस अवस्था में वस्त्र नित्य होगा जो हमारे अनुभवों के विरुद्ध होगा। इस सन्दर्भ में कई बातें हो सकती हैं। यदि वस्त्र स्वयं परिवर्तनशील नहीं है तो कोई भी बाह्य-शक्ति उसमें परिवर्तन नहीं ला सकती। यदि यह मान भी लिया जाय कि वस्त्र थोड़े समय तक अपरिवर्तशील रहने के बाद परिवर्तित होना शुरू होता है तो उसमें दो विरोधी गुणों- अपरिवर्तशीलता और परिवर्तनशीलता- का सामंजस्य होगा। बौद्धों का कहना है कि वह वस्तु जिसमें अनेक विरोधी गुण पाये जाते हैं, एक नहीं अपितु अनेक हैं-

"यो विरुद्धधर्माध्यासवान् नासावेकः।"[13]

बौद्धों का क्षणिकवाद शाश्वतवाद का निषेध करता है। यह उच्छेदवाद का भी निषेध करता है कि परिवर्तन आकस्मित नहीं अपितु इसके पीछे कारणता का नियम काम करता है। इस नियम की व्याख्या प्रतीत्यसमुत्पाद के रूप में की गई है। क्षणिकवाद पर बाह्य दार्शनिक सम्प्रदायों के प्रभाव से इन्कार नहीं किया जा सकता। परन्तु एक बात स्पष्ट है कि बिना आन्तरिक गतिशीलता (inner dynamism) के यह प्रभाव भी संभव नहीं।

क्षणिकवाद को लेकर कारणता या अन्य सिद्धान्तों के सन्दर्भ में बौद्ध दार्शनिकों को अनेक जटिल समस्याओं का सामना करना पड़ा। बुद्धघोष से पूर्व सम्पूर्ण पालि साहित्य (थेरवाद) में क्षणिकता का सिद्धान्त अप्राप्य है। बुद्धघोष ने सर्वप्रथम इसका वर्णन अपनी अट्ठसालिनी में किया। क्षणिकवाद के विरुद्ध न केवल शंकराचार्य[14] जैसे बौद्धेतर दार्शनिक बल्कि योगसेन[15] जैसे बौद्धों ने भी आपत्ती की। इनकी आलोचना अनित्यता के सिद्धान्त पर नहीं, अपितु इससे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निःसृत क्षणिकवाद पर लागू होती है। एक क्षण के निरन्वय विनाश के बाद दूसरा क्षण उत्पन्न होता है। प्रथम क्षण के अभाव के बाद द्वितीय क्षण का भाव होता है। इन अभाव और भाव के क्षणों में कोई सम्बन्ध स्थापित नहीं हो सकता। इस प्रकार प्रथम क्षण द्वितीय क्षण का कारण नहीं हो सकता। पुनः यदि वस्तु क्षणिक है, अर्थात् जैसे ही उत्पन्न होती है वैसे ही बिना स्थिति के नष्ट हो जाती है, तो उसके अर्थक्रियाकारित्व (causal efficiency) का ज्ञान कैसे संभव है? क्षणिकवाद से उत्पन्न कारणात्मक सातत्य (causal continuity) की समस्या के समाधान के लिए उत्तरवर्ती बौद्धों ने दो तरीके निकाले– १) प्रथमतः धर्म की अवस्थाओं में ही परिवर्तन होता है, उसके द्रव्य में कोई परिवर्तन नहीं होता २) द्वितीयतः समनन्तर (immediate contiguity) के सिद्धान्त को स्वीकारा गया और पूर्ववर्ती क्षण (धर्म) को अर्थक्रियाकारित्व या पच्चयता से विभूषित किया गया। सर्वास्तिवादियों ने दोनों समाधानों को अपनाया, जब की सौत्रान्तिको ने केवल द्वितीय समाधान को ही स्वीकार किया। इसके अतिरिक्त उत्तरवर्ती थेरवादियों ने दो प्रकार के क्षणों की– कल्पना की-वैचारिक और भौतिक। उनके अनुसार, सोलह (कभी-कभी सत्रह) वैचारिक क्षणों के तुल्य एक भौतिक क्षण होता है। स्पष्ट है कि इस प्रकार का विभाजन दार्शनिक दृष्टि से तर्कसंगत नहीं हो सकता।

सर्वास्तिवादियों ने पुद्गल-नैरात्म्य की बात कही, परन्तु क्षणिकता में सातत्य की आवश्यकता को ध्यान में रखकर परिवर्तनों के बीच ऐसे द्रव्य या स्वभाव की कल्पना की जो नित्य (सर्वदा अस्ति) होता है। वे वस्तुवादी और बहुलवादी हैं। उन्होंने नित्य द्रव्य की कल्पना इसलिए की कि अतीत, अनागत और वर्तमान की घटनाओं में संबंध स्थापित किया जा सके। सर्वास्तिवादियों की एक शाखा वैभाषिक है। अपने ग्रन्थ अभिधर्मदीप प्रदीप में वैभाषिकों ने सर्वास्तिवादियों को सद्वादी कहा है।[१६] सद्वाद और सर्वास्तिवाद शाश्वतवाद की ओर ले जाता है जिसका निराकरण बुद्ध ने प्रारम्भ में ही किया है। सद्वादी होने के कारण ही सर्वास्तिवाद हेतु (cause) और प्रत्यय (condition) में भेद करते हैं। अभिधर्मकोशभाष्य, अभिधर्मदीपप्रदीप और तत्त्वसंग्रहपंजिका में चार प्रकार के सर्वास्तिवादी (धर्मत्रात, घोषक, वसुमित्र और बुद्धदेव) परिवर्तन के सिद्धान्त की व्याख्या अपने-अपने ढंग से करते हैं। इनमें से केवल वसुमित्र को ही वैभाषिकों ने स्वीकार किया है। वसुमित्र ने कारित्र (causal efficiency) के आधार पर धर्म की व्याख्या की है। जब धर्म कारित्रयुक्त होता है तो वह वर्तमान काल होता है, जब कारित्र सम्पन्न हो चुका होता हैं तो अतीत काल होता है,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और जब तक कारित्र आरम्भ नहीं हुआ रहता है तब तक अनागत काल होता है–

कारित्रेणाध्वनामेव व्यवस्थामभिवाञ्छति ।
तत्कुर्वन्वर्तमानोऽध्वा कृतेऽतीतोऽकृते परः ॥[१७]

कारित्र को लेकर वैभाषिकों और सौत्रान्तिकों के बीच एक लम्बा विवाद चलता है जिसको यहाँ देना प्रासंगिक नहीं । इतना अवश्य है कि दोनों क्षणभंग-वाद को मानते हैं, परन्तु उसकी व्याख्या अपने-अपने ढंग से करते हैं । वैभाषिक चार संस्कृत लक्षणों को स्वीकार करते हैं– जाति, स्थिति, जरा और अनित्यता । मध्यमककारिकावृत्ति (प्रसन्नपदा) और अभिधर्मकोशभाष्यव्याख्या से यह प्रतीत होता है कि वैभाषिक एक क्षण में चार संस्कृत लक्षणों को स्वीकार करते हैं जो किसी धर्म पर एक साथ सक्रिय होते हैं ।

यतो जाति-जरा-स्थित्यनित्यताख्यानि चत्वारि संस्कृत लक्षणान्युत्पद्यमानस्य भावस्य बाह्याध्यात्मिकस्य वा एकस्मिन्नेव क्षणे भवन्तीति अभिधर्मपीटकः । [१८]

सौत्रान्तिकों ने वैभाषिकों की असंगति को दूर करने के लिए 'स्थिति' को अस्वीकार किया । कारण यह है कि स्थिति के मानने पर तर्क के आधार पर धर्म नित्य भी हो सकता है । अतः यह मानना आवश्यक है कि धर्म का विनाश बिना स्थिति के होता है –

क्षणिकस्य हि धर्मस्य विना स्थित्या व्ययो भवेत् । [१९]
सौत्रान्तिकों के अनुसार, धर्म उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाता है –
क्षणिकानां नास्ति देशान्तरगमनम्, यत्रैवोत्पत्ति तत्रैव विनाशः ।" [२०]

सौत्रान्तिकों के इस क्षण को स्वलक्षण कहते हैं । हमें किसी स्थिर वस्तु का जो ज्ञान होता है, वास्तव में वह समान क्षणों की सन्तति (सन्तान) है जो निरन्तर प्रवहमान है । यह वस्तु का सामान्य लक्षण है – जो हमारी कल्पना पर आधारित है । दो क्रमिक क्षणों के बीच संबंध दिखाने के लिए सौत्रान्तिक भी पूर्ववर्ती क्षण को समानन्तर हेतु (immediately contiguous cause) की संज्ञा देते हैं । परन्तु क्षणों का विनाश अहेतुक और अवशेषरहित होता है –

अहेतुको निरन्वयः विनाशः । [२१]

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि धर्म क्षणिक हैं और उनका सामान्यलक्षण काल्पनिक है तो जन्म, जरा और मृत्यु की व्याख्या कैसे होगी ? सौत्रान्तिकों का उत्तर है कि जन्म किसी क्षण सन्तति का आरम्भ है । जरा इस तथ्य का द्योतक है कि प्रत्येक क्षण दूसरे क्षण से भिन्न तथा स्वतन्त्र है । दो क्षण समान हो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection..Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सकते हैं, परन्तु वास्तव में वे अद्वितीय हैं। मृत्यु (विनाश) समान क्षणों की सन्तति का अन्त है। इस प्रकार सौत्रान्तिक दर्शन में कारणता अनिवार्य पौर्वापर्य (invariable antecedence) सम्बन्ध है। यह तो किसी क्षण-सन्तान-विशेष की बात है। परन्तु अब प्रश्न यह है कि सन्तति के आरम्भ की व्याख्या कैसे की जाय? सौत्रान्तिकों का उत्तर है कि किसी सन्तति की उत्पत्ति 'अभूत्वा भाव उत्पाद' है—

अभूत्वा भवति, भूत्वा च प्रगतिच्छति। २२

वस्तु या धर्म का आकस्मिक (अहेतुक) विनाश होता है। कार्य का कारण (पूर्ववर्ती क्षण) होता है, परन्तु उसका विनाश आकस्मिक, अहेतुक या स्वाभाविक होता है —

आकस्मिको हि भावानां विनाशः — — — — — कार्यस्य हि कारणं भवति, विनाशश्चाभावः। २६

आशंका होती है कि यदि सभी संस्कार (धर्म) क्षणिक हैं, अस्थिर (स्थिति रहित) हैं, तो उनमें किस प्रकार कारणत्व का भाव हो सकता है? क्योंकि कार्य को उत्पन्न करने के लिए कुछ काल तक कारण का अस्तित्ववान् होना आवश्यक है। सौत्रान्तिक (कमलशील का उत्तर है कि हम जिसे भाव (धर्म) कहते हैं वह अर्थक्रियाशक्ति (क्रिया, efficiency) ही है और शक्ति या क्रिया कारण है—

क्षणिकाः सर्वसंस्काराः अस्थिराणां कुतः क्रिया।
भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकं सैव चोच्यते।। २४

यहां दो बातें महत्त्वपूर्ण हैं— (१) कारण एक ऐसे कार्य को उत्पन्न करता है जिसका 'अभूत्वा भाव उत्पाद' होता है, और (२) कारण का अर्थात् किसी भी धर्म का 'अहेतुक निरन्वय विनाश' होता है। कारण के विनाश के पश्चात् उसका कुछ भी अवशेष नहीं बचता तथा दूसरी ओर कार्य का उत्पत्ति से पूर्व अभाव होता है। ऐसी स्थिति में कारण और कार्य में किसी तरह का अनिवार्य संबंध स्थापित करना असंभव है। सौत्रान्तिक इसका कोई सन्तोषजनक उत्तर नहीं देते। हम अनुभवों में पाते हैं कि एक विशेष प्रकार के बीज (जैसे सरसों) से ही तेल उत्पन्न होता है, किसी अन्य द्रव्य (जैसे, पत्थर) से नहीं। इसके उत्तर में सौत्रान्तिकों का कहना है कि यह प्रकृति का नियम है, रहस्य है, जो हमारी कल्पना से परे हैं —

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नियताचिन्त्यशक्तीनि वस्तूनीह प्रतिक्षणम् ।
भवन्ति नानुयोज्यानि दहने दाहशक्तिवत् ।। २५

अर्थात् प्रतिक्षण नियत और अचिन्त्य (अनिर्वचनीय) शक्ति से युक्त वस्तुओं (स्वलक्षणों) का उत्पाद होता रहता है। (यह वस्तु का स्वभाव है) इस पर कोई सन्देह नहीं कर सकता। जैसे, अग्नि में (स्वभावतः) दाहकशक्ति होती है।

अभिधर्म काल में कारणता का सिद्धान्त सार्वभौम क्षणभंगवाद, जो 'सर्वम् अनित्यम्' की तार्किक परिणति है, से निःसृत हुआ है। इसके अनुसार, कोई घटना किसी अन्य घटना को उत्पन्न नहीं कर सकती, क्योंकि कोई भी अन्य वस्तु, घटना क्षणिक है। कोई भी वस्तु स्थितिहीन होने के कारण किसी अन्य वस्तु को उत्पन्न नहीं कर सकती, क्योंकि कार्योत्पादन के लिए उस वस्तु का कम-से-कम एक (या कुछ) क्षण तक अस्तित्ववान् होना आवश्यक है। परन्तु क्षणभंगवाद में एक क्षण को भी स्थिति स्वीकार्य नहीं। न्यायवैशेषिक जैसे वस्तुवादी दार्शनिक सम्प्रदायों ने कारण और कार्य का सह-अस्तित्व स्वीकार किया ताकि पहला दूसरे को उत्पन्न कर सके। उदाहरणार्थ, कुम्हार और घट दोनों एक काल में विद्यमान रहते हैं। उसी तरह परमाणु और घट भी सह-अस्तित्ववान् हैं। परन्तु बौद्धों के अनुसार, कुम्हार मात्र एक संतति है। उनमें से किसी एक क्षण के अनुवर्ती एक अन्य क्षण की उत्पत्ति होती है जिसकी सन्तति को हम घट कहते हैं। इसमे कोई नित्य द्रव्य या कर्ता निमित्त नहीं होता। तथ्य केवल इतना ही है कि कार्य कारण का अनुवर्ती होता है, उससे उत्पन्न नहीं होता। उसका अभूत्वा भाव उत्पाद होता है

जैसा कि हम ऊपर देख चुके हैं – क्षणभंगवाद से उत्पन्न समस्याओं का निराकरण करने के लिए तथा कारण और कार्य के बीच संबंध दर्शाने के लिए सर्वास्तिवादिओं (वैभाषिकों) ने सहभू हेतु (simultaneous cause) और सम्प्रयुक्तक हेतु (interpenetrating cause) की कल्पना की। परन्तु निम्न-लिखित असंगतियों के कारण सौत्रान्तिकों ने इसकी कटु आलोचना की। यदि सहभू हेतु को माना जाय तो प्रश्न यह उठता है कि सहभू कारण (हेतु) अ-स्वयं उत्पन्न होने से पहले कार्य ब को उत्पन्न करता है या बाद में ? यह स्पष्ट है कि अ स्वयं उत्पन्न होने से पहले ब को उत्पन्न नहीं करता, अन्यथा अ ब से पूर्ववर्ती न होने के कारण सामर्थ्य रहित होगा। परन्तु यदि अ अपनी उत्पत्ति के बाद ब को उत्पन्न करता है तो अ और ब सहभू नहीं होंगे। पुनः अ और ब को सहभू माना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाय तो अ के उत्पन्न होते ही ब उत्पन्न हो जाता है। इस स्थिति में कारण से कार्य की उत्पत्ति बोधगम्य नहीं होगी, जबकि कारण कार्य सम्बन्ध अनिवार्य रूप से पौर्वापर्य संबंध पर आधारित है। सहभू कारणता तभी संभव है जब कारण और कार्य की स्थिति मानी जाय। अर्थात् कारण और कार्य के संबंध को कर्मकर्तृभाव के रूप में स्वीकार किया जाय। उदाहरण के लिए, कुम्हार (कर्ता) और घट (कर्म) के बीच संबंध तभी स्थापित किया जा सकता है जब दोनों सहभू हों – एककालिक हों। ऐसी स्थिति में सम्पूर्ण जगत् क्रियाहीन हो जायेगा – यावता निर्व्यापारमेवेदं विश्वम्।[२६] वास्तविकता तो यह है कि न तो कोई कर्ता है न कर्म। कर्मकर्तृभाव कथनमात्र या व्यवहारमात्र है। कमलशील का तो यहां तक कहना है कि कारण और कार्य दोनों क्रियाहीन हैं – "निर्व्यापारमेव कार्यं कारणं वा।"[२७]

कारण वह है जो प्रथय क्षण में उत्पन्न होता है और वह कार्य वह है जो द्वितीय क्षण में उत्पन्न होता है। ऐसा कहना कि "कारण कार्य को उत्पन्न करता है" मात्र लाक्षणिक (उपलक्षण) है। कार्य कारण पर आश्रित होकर या उसके पश्चात् उत्पन्न होता है – ऐसा समझना चाहिए। सत्ता (वस्तु) स्वयं क्रिया (व्यापार) है – 'सत्तैव व्यापृतिः।[२८] चूंकि कारण के तुरन्त बाद कार्य की उत्पत्ति होती है, अतः उन दोनों के बीच कालान्तराभाव के कारण कोई क्रिया संभव नहीं। सत्ता ही क्रिया है, अतः उत्पत्ति से भिन्न किसी क्रिया की कल्पना व्यर्थ है। कार्य कारण से उत्पन्न होता है इसका अभिप्राय यह है कि कार्य कारण के ठीक बाद उत्पन्न होता है। सीधी सी बात यह है कि पूर्ववर्ती क्षण को कारण और उत्तरवर्ती क्षण को कार्य कहते हैं – कारण वस्तुमात्र है और तथाकथित क्रिया से रहित है – 'विलक्षणव्यापाररहितं वस्तुमात्रं हेतुः।'[२९]

अब प्रश्न यह है कि कारणता वास्तव में है क्या जिसे हम अपने व्यवहार में प्रयोग करते हैं? दो प्रकार की सत्ता मानी गयी है– (१) पारमार्थिक (स्वलक्षण point-instants) (२) व्यावहारिक सामान्य लक्षण, Series of point-instants)। परिणामतः दो प्रकार की कारणता भी है– (१) दो स्वलक्षणों के बीच की कारणता जिसका वर्णन विस्तार से ऊपर किया जा चुका है, और (२) दो भिन्न क्षण-सन्तानों के बीच की कारणता, जैसे एक क्षण-सन्तान (बीज) के बाद दूसरे क्षण-सन्तान (अंकुर) की उत्पत्ति। यह कारणता हमारी कल्पना मात्र है। यह केवल ज्ञानात्मक (epistemic) है, वास्तविक नहीं या सत्तामूलक नहीं। दो स्वलक्षणों के बीच भी कारणता वास्तविक नहीं, बल्कि कथनमात्र है। जब

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

एक कार्य उत्पन्न होता है तो हमें कारणता का ज्ञान इन्द्रियानुभव के रूप में नहीं होता, अपितु एक कार्य की उत्पत्ति में हम एक आवश्यक कारण की पूर्व-कल्पना या अपेक्षा रखते हैं। इस प्रकार कारण-कार्य संबंध एक अनिवार्य नियम जैसा प्रतीत होता है–

ये त्वाहुः – न विरोधो वास्तव इति। त इदं वक्तव्याः –
यथा न निष्पन्ने कार्ये कश्चिज्जन्यजनकभावो नाम द्विष्ठोऽस्ति।
कारणपूर्विका तु कार्यप्रवृत्तिः। अतो वास्तव एवं।' [३०]

पुनः यदि कारण और कार्य सह-अस्तित्वान् नहीं हैं, तो किस प्रकार उनमें सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है? यदि कार्यकारणभावसम्बन्ध कार्य और कारण दोनों में निहित है तो यह सम्बन्ध वस्तुसत् कैसे होगा? और यदि यह उनमें निहित नहीं है तो फिर यह सम्बन्ध कैसे कहलायेगा?

कार्यकारणभावेऽपि तयोरसहभावतः।
प्रसिद्धयति कथं द्विष्ठोऽद्विष्ठे सम्बन्धता कथम्॥ [३१]

कारणता का सम्बन्ध केवल व्यवहार जगत् में ही प्राप्य है। परमार्थसत् से इसका कोई सम्बन्ध नहीं। या यों कहें कि कारणता परमार्थसत् (स्वलक्षण) पर एक काल्पनिक आरोपण है।

क्षणभंगवाद के परिप्रेक्ष्य में धर्मकीर्ति ने तो सभी प्रकार के सम्बन्धों (Relations)– जैसे, कारणता, समवाय, संयोग, आदि– का खण्डन किया है। कारण यह है कि इन सम्बन्धों को धारण करने वाली न तो कोई वस्तु है (उसकी स्थिति न होने के कारण) और न तो सम्बन्ध एक स्वतंत्र कोटि ही है। जिन दो संबंधी– तादात्म्य (Identity) और तदुत्पत्ति (causation)– को बौद्ध न्याय में स्वीकार किया गया है वे भी न तो स्वय वस्तुसत् (स्वलक्षण, ultimate Reality) हैं और न किसी वस्तुसत् से किसी प्रकार से सम्बन्धित ही हैं। वस्तुसत् स्वतंत्र और पृथक् होते हैं। ये सम्बन्ध वास्तव में अनुमान के सन्दर्भ में ही अनिवार्य प्रतीत होते हैं और जैसा कि हम जानते हैं अनुमान स्वतंत्र रूप से केवल सामान्यलक्षण का ही ग्रहण करता है। और कारणता सम्बन्ध की कोटि मात्र है।

– हरिशंकर प्रसाद

दर्शनशास्त्र विभाग
दिल्ली विश्वविद्यालय
दिल्ली– ११० ००७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. बुद्धचरित, ९.५८, सं. E. H. Johnston, भाग–१, कलकत्ता, १९३५, पृ. १०२।

२. मज्झिम निकाय, १.१९०, सं.– V. Trenkner और R. Chalmer, भाग– १, Pali Text Society, London p. 948.

३. वही।

४. वही।

५. संयुक्त अट्ठकथा, २.६, सं. – F. L. Woodword, ३ भाग, Pali Text Society, London, १९२९–१९३७।

६. विसुद्धिमग्ग, सं. C. A. F. Rhys Davids, २ भाग, Pali Text Society, London, १९२०–१९२१, पृ. ५२१.

७. संयुक्त अट्ठकथा, २.४१।

८. मध्यमकमशास्त्रम् (प्रसन्नपदासहित), सं. – पी. एल. वैद्य, मिथिला विद्यापीठ, दरभंगा, १९६०, पृ. ३।

९. संयुक्त निकाय, २.२६, सं. – L. Feer, ६ भाग, Pali Text Society, London, १८९४–१९०४।

१०. संयुक्त अट्ठकथा, २.४१।

११. वही।

१३. T. R. V. Murti, *Central Philosophy of Buddhism*, George Allen and Unwin, London, १९५५, पृ. ६० से उधृत देखिये– रत्नकीर्तिनिबन्धावलि, सं.– अनन्तलाल ठाकुर, काशी प्रसाद जायस्वाल, अनुशीलन संस्थान, पटना, १९८५, पृ. ८६. "सर्वत्र विरुद्धधर्माध्याससिद्धिरेव भेदसिद्धिः।"

१४. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य २.२.२०।

१५ तत्त्वसंग्रह, ४२८–४३४।

१६. अभिधर्मदीपवृत्ति, सं. – पी. एस. जैनी, द्वितीय संस्करण, काशी प्रसाद जायस्वाल अनुशीलन संस्थान, पटना, पृ. २५८।

१७. अभिधर्मदीप, कारिका ३०३।

१८. मध्यमकशास्त्र (प्रसन्नपदासहित), पृ. २३६।
देखिये– अभिधर्मकोशभाष्य, सं. द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी, ४ भाग, १९७०–१९७३, पृ. २६०, २६३।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

१९. अभिधर्मकोशभाष्य, पृ. २५६ में उद्धृत।
२०. अभिधर्मकोशभाष्य व्याख्या, पृ. ४३।
२१. देखिये, वही, पृ. ५६९।
२२. बोधिचर्यावतारपञ्जिका, सं. – Louis de la Vallee Poussin, Asiatic Society of Bengal, कलकत्ता, १९०१–१९१४, पृ. ५८२। देखिये- अभिधर्मकोशभाष्य, पृ. २६१, संस्कृत नाम यदभूत्वा भवति, भूत्वा च पुनर्न भवति।
२३. वही, पृ. ५६९।
२४. तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, सं. द्वारिकादास शास्त्री, बौद्ध भारती, वाराणसी, २ भाग, १९६८, पृ. १४।
२५. तत्त्वसंग्रह, कारिका, ४३८।
२६. तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, पृ. २१९।
२७. वही।
२८. तत्त्वसंग्रह, कारिका, ५२०।
२९. तत्त्वसंग्रहपञ्जिका, पृ. २२०।
३०. न्यायबिन्दु, ४.७३-७४ पर टीका।
३१. सम्बन्धपरीक्षा, ७।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समग्र पूर्णता

महर्षि अरविन्द दिव्य-जीवन का प्रारम्भ मानवीय अभीप्सा (Human Aspiration) से करते हैं जिसकी चरम परिणति ईश्वर, प्रकाश स्वातन्त्र्य तथा अमरत्व में होती है। [1] उनकी इस अभीप्सा का आधार दर्शनशास्त्र के दो निषेधों का निषेध है। प्रत्ययवादी, विज्ञानवादी अथवा अध्यात्मवादी दर्शन जो अचित् तत्त्व का निषेध करता है उतना ही एकांगी है जितना भौतिकवादी दर्शन जो चित् तत्त्व का निषेध करता है। अतः अरविन्द का उद्घोष है कि इस पृथ्वी पर दिव्य जीवन की स्वीकृति हेतु एवं मर्त्यलोक में अमरत्व की भावना हेतु तब तक कोई आधार नहीं हो सकता जब तक हम केवल इतना ही मानते रहें कि इस देहप्रासादि में वास करनेवाला, इस परिवर्तनशील वस्त्र-खण्ड को धारण करनेवाला शाश्वत परमात्मा है, अपितु हमें स्वीकारना होगा कि जिस भौतिक तत्त्व से यह निर्मित है, वह एक उपयुक्त एवं श्रेष्ठ पदार्थ है जिससे वह निरन्तर अपने वस्त्र खण्ड को बुनता रहता है, अपने राजप्रासादों की असमापनीय प्रक्रिया को निरन्तर चलाता रहता है। [2] अरविन्द के अनुसार, हमारे संन्यास-आदर्श में "एकमेवाद्वितीयम्' की अपेक्षा के साथ 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' की उपेक्षा हुयी है। मनुष्य की दिव्य के आरोहण की रागात्मक अभीप्सा के साथ उसकी अवरोहण की प्रक्रिया जिससे वह समस्त सृष्टि को एकमेक करता है पर्याप्त रूपेण सम्बन्धित नहीं किया जा सका है। इसके अचित् की अर्थवत्ता को उतना नहीं समझा गया जितना कि इसके चित् की सत्यता को। प्राचीन वेदान्त के परमतत्त्व को उस व्यापकता एवं गम्भीरता के साथ संन्यासी न ग्रहण कर सका। हमें अपनी पूर्णता स्वीकृति में शुद्ध दिव्य-स्पन्दन के अंश की उपेक्षा नहीं करनी है। [3] चित् की स्वीकृति के अतिरेक में अचित् को अस्वीकारना नहीं है। अरविन्द का आदर्श समग्र पूर्णता है (The integral perfection)। निम्न पंक्तियों में अरविन्द के समग्र पूर्णता के स्वरूप पर विचार करेंगे।

मानवीय अभीप्सा दिव्य पूर्णता की है। सर्वप्रथम हमें इसके आवश्यक घटकों को जानना है। द्वितीयतः दिव्य का क्या अर्थ है जो मानवीय पूर्णता से

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भिन्न है। मनुष्य में किसी भी आदर्श के साक्षात्कार की, जिसकी उसका मन कल्पना कर सकता है, क्षमता होती है।

भौतिक पूर्णता की अवधारणा प्रायः कुछ बाह्य सी, कुछ सामाजिक सी, अपने परिवेश के सहमानवों के साथ अधिक बौद्धिक व्यावहारिकता, अधिक एवं उदात्त नागरिकता, कर्तव्यपरायणता, श्रेष्ठ, सम्पन्नतर, दयालुतर एवं प्रसन्नतर जीवन-विधा की कलात्मकता, अस्तित्व के अवसरों को उचित एवं अधिक सामंजस्य पूर्ण आस्वादिता में निहित है। पुनः अन्य आभ्यन्तरिक, एवं विषयिजन्य आदर्श की आकांक्षा करते हैं, एक स्पष्ट से विशद बुद्धि, संकल्पशक्ति, एवं विवेक प्रकृति में उद्गामिनी एवं व्यवस्थापित शक्ति एव क्षमता, एक उच्चतर नैतिक सम्पन्नतर सौन्दर्य, सूक्ष्मतर रागात्मक, अधिक स्वास्थ्यकर, अधिक संयमित जैविक एवं शारीरिक जीवन में विश्वास करते हैं। कभी एक पर बल दिया जाता है, शेष को छोड दिया जाता है तो कभी अधिक व्यापक एवं अधिक सन्तुलित विचारों, सम्पूर्ण सामंजस्य को पूर्ण पूर्णता मान लिया जाता है। शिक्षा तथा सामाजिक संस्थाओं के परिवर्तन को बाह्य साधन के रूप में वरीयता दी जाती है, अथवा दोनों लक्ष्यों को स्पष्टतः मिलाया जा सकता है, आभ्यन्तर पूर्णता एवं बाह्य पूर्णता को।

किन्तु भौतिक लक्ष्य का क्षेत्र मात्र वर्तमान जीवन एवं सुविधाओं से होता है, धार्मिक लक्ष्य इसके विपरीत मृत्यु के पश्चात् भावी अस्तित्व के प्रति प्रयास में निहित होता है। इसका सामान्य लक्ष्य किसी न किसी प्रकार की शुद्ध सन्तता होती है। इसका साधन ईश्वरकृपा या शास्त्रविहित विधि-निषेध की कर्तव्य भावना के माध्यम अपूर्ण एवं पापमय मानव के परिवर्तन में निहित है। धर्म का लक्ष्य सामाजिक परिवर्तन भी हो सकता है, किन्तु यह परिवर्तन भी धार्मिक लक्ष्यों की स्वीकृति के माध्यम ही होता है।

समग्र योग का लक्ष्य अधिक समग्रता एवं व्यवस्था को लिये है। अतः वह उस सत्य का साक्षात्कार करना चाहता है जो सामान्य धर्म से अधिक व्यापक एवं भौतिक सिद्धान्त से अधिक ऊँचा होता है। सम्पूर्ण जीवन ही योग है। बौद्धिक संकल्पनात्मक, नैतिक सौन्दर्यात्मक एवं शारीरिक प्रशिक्षण एवं विकास उत्तम है; किन्तु अन्ततः इनका चक्रवत् परिवर्तन ही होता रहेगा, यदि आत्म-साक्षात्कार न हो सका।

समग्र योग का सिद्धान्त एवं लक्ष्य सत्योन्मुख एवं आत्मोन्मुख होकर दिव्य जीवन का साक्षात्कार, समस्त मानवता का दिव्य जीवन का साक्षात्कार है। इस लक्ष्य को प्राप्ति हेतु दो स्तर से कार्य करने होंगे। प्रथमतः मानव ज्यों ही अपनी आत्मा, मन एव हृदय की दिव्यता की क्षमता का बोध करे इसे ही लक्ष्य में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रखकर, अन्य सभी ऐसी निम्न क्रियाएँ जो इस साक्षात्कार में बाधक हो उनका त्याग कर व्यक्तिगत प्रयास में जुट जाय। इसे जीवन-लक्ष्य के नव-जागरण, एवं विकासात्मक परिवर्तन का बोध होता है, दिव्यता एवं दिव्य पूर्णता का आध्यात्मिक विचार ही इस परिवर्तन का सशक्त लक्षण है।

वैयक्तिक प्रयास से एक एक प्रारंभिक परिवर्तन लाया जा सकता है। यह मात्र मनुष्य की मानसिकता के स्तर पर एक ऐसा आधार है जहाँ दिव्यता का कुछ आभास हो पाता है। यह मानसिक प्रयास होने के नाते उस उच्चता को नहीं पाता जिस उच्चता पर वह सर्वदा प्रतिष्ठित रह सके। अधिक ऊँचाई पर अधिक पूर्णता के साक्षात्कार हेतु उच्चतर शक्ति के प्रवेश की आवश्यकता होती है। अतः योग के द्वितीय स्तर पर समस्त व्यापार को इस बड़ी शक्ति में अर्पित कर देना होगा, इसी से अभिभूत होना होगा, जब तक व्यक्ति इस दिव्यता का साक्षात्कार न कर ले। [४]

इस द्विस्तरीय योग के माध्यम भौतिक पूर्णता के परे, काफी ऊँचे किन्तु धार्मिक सिद्धान्त के समीप मनुष्य पहुँचता है। भौतिक आदर्श मनुष्य को सर्वदा मानसिक, जैविक एवं शारीरिक जीव मानता है एवं उसका उद्देश्य मानवीय पूर्णता है जिसकी सीमा मन, जीवन, एवं शरीर की पूर्णता है। बुद्धि एव ज्ञान का, इच्छा एवं शक्ति का, नैतिक चरित्र एवं आचरण का, सौन्दर्य बोध एवं संरचना का, संवेगात्मक सन्तुलन एवं आनन्द बोध का, जैविक एवं शारीरिक दृढता का, व्यवस्थित क्रिया एवं सक्रियता का विस्तार एव सूक्ष्मीकरण है। [५] यह व्यापक एवं भरपूर लक्ष्य है किन्तु पर्याप्तरूपेण पूर्ण एव व्यापक नहीं है, जिसे मन मुश्किल से आध्यात्मिक तत्त्व के रूप में सोच पाता है, जिसे अविकसित एवं अपर्याप्त रूपेण सन्तुष्टि के छोड़ देता है।

समग्र पूर्णता का योग मनुष्य को दिव्य एवं आध्यात्मिक सत्ता के रूप में होता है जो मन, जीवन एवं शरीर से आबद्ध है, अतः इसका उद्देश्य उसकी मुक्ति एवं दिव्य स्वरूप की पूर्णता होती है। इसका प्रयास पूर्णरूपेण विकसित आध्यात्मिक सत्ता अन्तर्जीवन के जीने की होती है, उसके शाश्वत स्वरूपयापन की, एवं बाह्य मानवीय अभिव्यक्ति में भी मन, जीवन एवं शरीर की आध्यात्मिक क्रिया की झलक उत्पन्न करती है। भौतिक लक्ष्य हेतु, जो भी आवश्यक एवं वांछनीय है यह किसी का भी निषेध नहीं करता, प्रत्युत उनका विकास करता है, किन्तु इसके वास्तविक अर्थ को जो अभी तक परोक्ष था, प्राप्त कराता है, एवं इसके सीमित पार्थिव एवं मरणशील वस्तु को दिव्य एवं अमर मूल्यों में परिवर्तित कर देता है। [७]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समग्र योग धार्मिक आदर्श के कई बिन्दुओं पर मिलता है किन्तु व्यापकता की दृष्टि से वह इससे परे जाता है। धार्मिक लक्ष्य इस पृथ्वी से परे स्वर्ग तक का होता है एवं उनसे भी परे निर्वाण के कुछ प्रकार तक। इसकी विधा भौतिक विधा विकास के स्थान पर परिवर्तन की होती है। किन्तु यह इस पृथ्वी पर संभव नहीं है। अतः इसकी चरम निष्पत्ति हेतु परलोक प्राप्ति या संसार मुक्ति को लक्ष्य बनाती है। [८]

किन्तु समग्र योग की अवधारणा एक ऐसे आध्यात्मिक जीवन की है जो विभु है, जिसकी व्यापकता परलोक प्राप्ति या संसारमुक्ति की न होकर एक ऐसे विकास की होती है जिसमें हमें व्यवहारतः यह बोध होता है कि हम सर्वव्यापी हैं जो वस्तुतः हमारा स्वरूप ही है। [९] यह धार्मिक निष्ठा के स्थान पर दिव्य योग के पूर्णतर आध्यात्मिक साधना को प्रतिष्ठापित करता है। दिव्य अनुभूति एवं ग्रहण के माध्यम वैयक्तिक प्रयास से परिवर्तन की ओर अग्रसरित होता है किन्तु यह दैवीयकृपा यदि इसे कहा जाय मात्र रहस्यात्मक प्रवाह या स्पर्श जो ऊपर से हो रहा है न होकर बल्कि सर्वव्याप्त दैवीय उपस्थितिजन्य क्रिया है जिसका अपने में आभास होता है जो परमात्मा एवं इसे ही अपने आध्यात्मिक स्वरूप में धारण किये हुए है। इस परिवर्तन के फलस्वरूप हमारे नैतिक व्यक्तित्व का समग्र परिवर्तन दिव्य स्वरूप के सत्यम् एवं शिवम् के रूप में, हमारे बौद्धिक व्यक्तित्व का जाज्वल्यमान दिव्यज्ञान के रूप में, हमारे रागात्मक व्यक्तित्व का दिव्य-प्रेम एवं ऐक्य के रूप में, हमारे क्रियात्मक एवं संकल्पात्मक व्यक्तित्व का दिव्यशक्ति की क्रिया के रूप में हमारे सौन्दर्यात्मक व्यक्तित्व का दिव्य-सौन्दर्य की पूर्णग्राहिकता एवं आनन्दबोध के रूप में, अन्त में जैविक एवं शारीरिक व्यक्तित्व की दिव्य-परिणति को बिना छोड़े हुये होती है। यह समस्त पूर्वजन्म इसे परिवर्तन के प्रति अनैच्छिक एवं अचेतन अथवा विकास तथा योग को इस परिवर्तन का ऐच्छिक एवं चेतन प्रयास तथा साक्षात्कार स्वीकारना है। [१०]

समग्र पूर्णता की एक आवश्यक शर्त है अलौकिक दिव्य के प्रति साधक को उन्मुख करना। इसकी दूसरी आवश्यक शर्त है सार्वभौम दिव्य से साधक की एकाग्रता। इस समग्र पूर्णता के योग में ज्ञानयोग, कर्मयोग एवं भक्तियोग की त्रिवेणी का संगम है क्योंकि मानवीय स्वरूप का दिव्य में परिवर्तन अथवा दिव्य ज्ञान, क्रिया एवं आनन्द का माध्यम बनाना तब तक असंभव है जब तक कि साधक सच्चिदानन्द से एकाकार नहीं होता है। परमात्मा से यह एकाकारता सभी वस्तुओं एवं प्राणियों से एकाकारता है। पूर्ण पूर्णता आध्यात्मिक एकता के माध्यम एक ग्रहण है एवं यह एकता सार्वभौम मन, सार्वभौम जीवन, सार्वभौम स्वरूप जो कि लौकिक प्राणी के अन्य नित्य घटक हैं। मानसिक, जैविक एवं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

शारीरिक तत्त्वों की परमदिव्य से एकाकारता मानव के समग्र दिव्य पूर्णता का सार है। यह ऐक्य परमात्मा से है।''

दर्शनशास्त्र विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-२२१००१ (उ. प्र.)

-रेवती रमण पाण्डेय

टिप्पणियाँ

* अखिल भारतीय दर्शन परिषद् के उदयपुर में आयोजित २९ वें वार्षिक अधिवेशन में प्रस्तुत शोध-पत्र।

१. अरविंद, दि लाइफ डिवाइन, प्रथम भाग, पृ. १ (श्री अरविंद आश्रम, पांडिचेरी, सिक्स्थ इण्डियन एडिशन, १९७०)।

२. वही, पृ. ६।

३. वही, पृ. २६।

४. अरविंद, दि सिन्थेसिस आफ योग, पृ ५९३ (श्री अरविंद आश्रम, पांडिचेरी, सिक्म्थ रिप्रिंट, १९७१)।

५ वही, पृ. ५९३।

६ वही, पृ. ५९४।

७. वही, पृ. ५९४।

८. वही, पृ ५९५।

९. वही, पृ ५९५।

१०. वही, पृ. ५९५।

११. वही, पृ. ५९६।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सामान्य-विशेषात्मक अर्थ-ज्ञान का विषय

भारतीय दर्शन में यह प्रश्न दीर्घ कालीन विवाद का विषय रहा है कि ज्ञान का विषय सामान्य है अथवा विशेष। सामान्य एक वर्ग की सभी वस्तुओं में समान रूप से पाया जाने वाला धर्म है जो उनके प्रति विधेयात्मक बुद्धि उत्पन्न करता है तथा उनमें एकाकार प्रतीति तथा एक नाम का आधार है। विशेष विजातीय वस्तुओं से वस्तु को पृथक् करता है तथा इसके कारण वस्तु के प्रति निषेधात्मक बुद्धि की उत्पत्ति होती है। प्रारम्भ में मीमांसक आदि वस्तुवादी दार्शनिकों का कहना था कि किसी भी वस्तु का ज्ञान विधेयात्मक रूप से – अर्थात् 'यह घट है' रूप से– होता है इसलिये सामान्य ही ज्ञान का विषय है। बौद्धों का कहना था कि यह ज्ञान वस्तुतः निषेधात्मक है तथा इसका विषय वास्तव में घट की अघटों से व्यावृत्ति (अन्तर, पृथक्ता) ही है। किसी वस्तु को घट कहते समय हम किसी भावात्मक 'घटत्व' को नहीं जानते हैं कि यह वस्तु, जो घट नहीं है, उनसे भिन्न है।

जैन दार्शनिक अपने अनेकान्तवाद के अनुसार प्रारम्भ से ही यह मानते हैं कि ज्ञान का विषय मात्र सामान्य या विशेष नहीं हो सकता, अपितु सामान्य विशेषात्मक अर्थ होता है,[1] जो सदैव विधिनिषेधात्मक रूप से जाना जाता है। किसी वस्तु का साक्षात्कार मात्र ज्ञान नहीं है अपितु वस्तु के विशिष्ट स्वरूप का निश्चय ज्ञान है, जो विजातीय स्वरूप की व्यावृत्ति पूर्वक ही सम्भव है। यह निश्चय उसके सामान्य विशेषात्मक– सदृश-विसदृशात्मक– स्वरूप के कारण ही सम्भव हो सकता है। किसी वस्तु को हम तभी पहचान सकते हैं जबकि हममें उस प्रकार की वस्तुओं को पहचानने की क्षमता हो, हम उसके सम्बन्ध में यह जानें कि यह किस वर्ग की वस्तुओं से सादृश्य रखती है। सामने स्थित वस्तु को हम 'वृक्ष' रूप में तभी जान सकते हैं जबकि हमें उसकी ऐसी असाधारण विशेषताओं का बोध हो जो प्रत्येक वृक्ष में पायी जाती हैं तथा किसी भी अवृक्ष– वृक्षातिरिक्त– वस्तुओं में नहीं पायी जाती तथा जिनके होने पर ही किसी वस्तु को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वृक्ष कहा जा सकता है अन्यथा नहीं। सभी वृक्षों में समान रूप से पाया जाने वाला यह स्वरूप ही सामान्य 'वृक्षत्व' कहलाता है जो वस्तु को सभी वृक्षातिरिक्त वस्तुओं से व्यावृत्त (भिन्न) कर देने के कारण विशेष भी है। इस प्रकार प्रत्येक वस्तु सदृश वस्तुओं की दृष्टि से सामान्यात्मक तथा विसदृश वस्तुओं की दृष्टि से विशेषात्मक– अतः सामान्य विशेषात्मक स्वरूप को लिए हुए है।

ज्ञान सदैव वस्तु का विजातीय वस्तु से अन्तर सहित ग्रहण होता है। यदि हम वृक्ष और अवृक्ष में अन्तर नहीं कर सकते तो किसी वस्तु को वृक्ष रूप में नहीं जान सकते। वस्तु समान स्तरीय वस्तुओं में अन्तर सहित ही अपने विशिष्ट स्वरूप में पहचानी जाती है। जब भी हम किसी वस्तु को कोई नाम देते हैं तो किसी लक्षण के आधार पर देते है। इस नामकरण का प्रयोजन उसे इस लक्षण से रहित वस्तुओं से व्यावृत्त करना होता है। यह व्यावृत्ति समानस्तरीय वस्तुओं में स्थित वैशिष्ट्य के आधार पर होती है तथा वैशिष्ट्य के प्रति विधेयात्मक बुद्धि उत्पन्न होने पर स्वतः हो जाती है। उदाहरण के लिए, जब हम किसी रंग को 'नीला' कहते हैं तो उसका आधार उसका ऐसा विशिष्ट स्वरूप है जो नीलातिरिक्त रंगों में नहीं पाया जाता। उसके इस विशिष्ट स्वरूप की ओर निर्देश करने के लिये ही उसे 'नीला' कहा जाता है जिससे अन्य रंगों से उसकी व्यावृत्ति स्वतः हो जाती है। जब हम विभिन्न रंगों में स्थित अन्तर को नहीं जान रहे होते तो हम उसे 'नीला रंग', 'पीला रंग', आदि न कह कर 'रंग' मात्र ही कहते हैं जो उसका अरंग –रसादि– से विलक्षण स्वरूप रखने पर ही सम्भव है। साथ ही उस गुण को रंग तभी कह सकते हैं जबकि हम यह जानते हों कि उसका ऐसा स्वरूप है जो रंग मात्र से सादृश्य रखता है।

कुमारिल कहते है कि वस्तुओं में स्थित सदृश परिणाम वस्तुओं को पहचानने का आधार नहीं है अपितु वस्तुओं में स्थित एक निरंश सामान्य वस्तु के प्रति विधेयात्मक बुद्धि उत्पन्न करता है। जिन जिन वस्तुओं में यह सामान्य पाया जाता है उन्हीं में अनुगत शब्द तथा अनुगत बुद्धि की उत्पत्ति होती है। यदि ऐसा नहीं माना जाय तो प्रश्न उठता है कि बाहुलेय को गाय क्यों कहा जाता है? यदि कहा जाय कि शावलेय से सादृश्य के कारण, तो उसे बाहुलेय ही कहा जाय, गाय किस प्रकार कहा जा सकता है? क्योंकि शावलेय मात्र गाय नहीं है। सदैव शावलेय बाहुलेय आदि विशिष्ट गायों की उपलब्धि होती है तथा ऐसी कोई आदर्श गाय नहीं है जिससे सादृश्य के आधार पर उन्हें गाय कहा जा सकें।[1] कहने का तात्पर्य यह है कि विभिन्न गायें परस्पर विलक्षण होती हैं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इसलिये सादृश्य के आधार पर उन्हें एक सामान्य नाम 'गाय' किस प्रकार दिया जा सकता है ?

जैन दार्शनिक कहते हैं कि व्यक्ति को पहचानने के लिये उसमें उससे स्वतन्त्र नित्य जाति को मानने की कोई उपयोगिता नहीं है। जब तक हमें वस्तु के विशेष गुणों का ज्ञान नहीं हो हम उन्हें पहचान नहीं सकते। मासुर रूप और उष्ण स्पर्श का ज्ञान होने पर तथा साथ ही यह ज्ञात होने पर कि ये विशेषताएं अग्नि में ही पायी जाती हैं, अग्नि के अतिरिक्त पदार्थों में नहीं, किसी वस्तु को अग्नि कहा जा सकता है। घट के लक्षण पृथुबुध्नोदर आकार का बोध होने पर ही किसी वस्तु को घट कहा जाता है।

कुमारिल की आलोचना का उत्तर देते हुए वादिराज कहते हैं कि हमें सदैव विशेष व्यक्तियों की ही उपलब्धि होती है, उनसे स्वतन्त्र जाति की उपलब्धि कभी नहीं होती। जो व्यक्ति गाय को नहीं पहचानता वह शावलेयादि विशेष गायों को देखकर ही गाय को पहचानना सीखता है। यदि मान भी लिया जाय कि उन्हें उनमें स्थित एक निरंश नित्य जाति के द्वारा पहचाना जाता है तब भी यह समस्या शेष रहती है कि शावलेय में शावलेयत्व होने के कारण उसे शावलेय कहा जायेगा तथा बाहुलेय में बाहुलेयत्व होने के कारण वह बाहुलेय कहलायेगी। इन विशेष गायों के अतिरिक्त कोई सामान्य गाय नहीं होती जिसमें गोत्व जाति रहे, तब इन सबको गाय किस प्रकार कहा जा सकता है ?[3]

प्रत्येक वस्तु अनेक गुणों और विशेष संस्थान को लिए हुए होती है जिनमें स्थित सादृश्य के कारण उनका समान ज्ञान होता है तथा उन्हें एक नाम दिया जाता है। इस सादृश्य में प्राप्त हो रही विशेषताएँ अवान्तर वर्ग विभाजन का आधार होती हैं। चार पैर वाला आदि धर्म जिनमें समान रूप से पाये जाते हैं वे सभी पशु कहलाते हैं जिनमें गलकम्बल, मद व्यक्ति रूप विशेषता वाले पशु को गाय कहा जाता है। विभिन्न गायों में इस सादृश्य के कारण वे सभी गाय रूप से जानी जाती हैं तथा इस सादृश्य के साथ-साथ अन्य विशेषताओं के कारण शावलेय, बाहुलेय आदि रूप में। इसलिये अकलंक देव कहते हैं "समानभावः सामान्यविशेषयो; अन्य व्यपेक्षया"।[4] समान रूप से भाव अर्थात् आत्मलाभ करना दूसरे शब्दों में सदृशपरिणाम ही सामान्य है जो विसदृश वस्तुओं से व्यावृत्त प्रत्यय उत्पन्न करने के कारण विशेष भी है। वस्तु के सामान्य और विशेष धर्म व्यक्तिनिष्ठ अपेक्षा से न होकर वस्तुनिष्ठ अपेक्षा से हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

बौद्ध दार्शनिक धर्मकीर्ति कहते हैं कि विभिन्न वस्तुओं को एक वर्ग में रखने का आधार ऐसा कोई भावात्मक धर्म नहीं है जो उन सबमें समान रूप से प्राप्त हो, अपितु वे इस बात में समान हैं कि विजातीय वस्तुओं से भिन्न हैं।[५] उदाहरणार्थ विभिन्न गायों में कोई भी धर्म समान रूप से नहीं पाया जाता। उनके वर्ण, संस्थान आदि परस्पर विलक्षण होते हैं। फिर भी उन सबको गाय कहा जाता है, क्योंकि वे सभी जो गाय नहीं हैं उनसे भिन्न हैं। लेकिन जब तक हम यह नहीं जानते हों कि गाय होने का अर्थ क्या होता है तब तक हम यह भी नहीं कह सकते कि यह अगाय से भिन्न है। फिर अगाय को भी तभी जाना जा सकता है जबकि उसे अ-गाय अर्थात् गाय से पृथक् किया जाय। अतः जब तक स्वरूप बोध नहीं हो पर रूप निषेध असम्भव है। इसलिये आगे चलकर बौद्ध कहते हैं कि सामान्य विधि-निषेधात्मक स्वरूप लिये हुए होता है।[६] साथ ही वे यह भी कहते हैं कि सामान्य का विधेयात्मक स्वरूप वास्तविक न होकर आरोपित है।[७] जब हम किसी पदार्थ को गाय कहते है तो यह मानकर चलते हैं कि उसका ऐसा स्वरूप है जो सभी गायों में समान रूप से पाया जाता है। परमार्थतः सभी पदार्थ पूर्णतया विलक्षण हैं तथा प्रत्यक्ष में उनका यही स्वरूप अवभासित होता है। उसके बाद उत्पन्न होने वाला सविकल्पक ज्ञान उसमें सादृश्य का आरोपण करके उसका निश्चय करता है।

जैन दार्शनिक कहते है कि यदि सभी वस्तुएँ परस्पर पूर्णतया विलक्षण हैं, उनमें किसी भी दृष्टि से सादृश्य नहीं है तथा प्रत्यक्ष में उनका यही स्वरूप ज्ञात होता है, तो प्रश्न उठता है कि एक वस्तु के प्रत्यक्ष से गौ का विकल्प ही क्यों उदित होता है? अन्य का विकल्प क्यों नहीं उदित होता तथा उसके अनुसार प्रवृत्त होने पर अर्थक्रिया-समर्थ वस्तु की प्राप्ति क्यों होती है?[८]

यह ठीक है कि एक जाति की वस्तुएँ बहुत सारी विभिन्नताएँ लिये हुए होती हैं लेकिन उनमें किसी धर्म-विशेष की दृष्टि से सादृश्य भी होता है जिसके कारण वे सजातीय कहलाती हैं तथा एकाकार प्रतीती तथा एक नाम का विषय होती हैं। सभी गायें वर्ण, कद आदि की दृष्टि से परस्पर विलक्षण होते हुए भी 'गलकम्बलमत् व्यक्ति' विशेषता की दृष्टि से सादृश्य रखती हैं इसलिये 'गाय' कही जाती हैं। पदार्थ को गाय रूप में जानते समय इनके मध्य स्थित अन्तर का निषेध नहीं किया जाता, अपितु उस समय व्यक्ति उनके अन्तरों को ग्रहण नहीं करता। जब व्यक्ति इन भेदों का ग्रहण करता है तो उसे 'गाय' रूप में न जानकर 'काली गाय', 'भूरी गाय' रूप से जानता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यक्ति प्रत्यक्ष द्वारा वस्तु का पूर्णतया विलक्षण स्वरूप जानकर उस पर सामान्य स्वरूप आरोपित नहीं करता अपितु प्रत्यक्ष स्वयं ही वस्तु को प्रारम्भ में सामान्य रूप से अन्तर रहित रूप से ग्रहण करता हुआ क्रमशः और अधिक, और अधिक विशिष्ट स्वरूप को ग्रहण करता है। अकलंक देव कहते हैं कि सभी व्यक्ति चेतन अचेतन में समान रूप से प्राप्त धर्म-सत्ता को देख कर अचेतन को चेतन से पृथक् करते हुए जानते हैं।[९] अचेतन में भी प्राप्त हो रहे वर्ण संस्थानादि के भेद के आधार पर उसे और विशेष रूप से जानते हैं। वस्तु को अन्तर-रहित रूप से ग्रहण करने वाला ज्ञान मिथ्या न होकर अस्पष्ट होता है तथा वह उतना ही स्पष्ट होता जाता है जितना वस्तु के विशिष्ट स्वरूप को ग्रहण करता है। वस्तु के विशिष्ट स्वरूप को कितना अधिक जाना जा सकता है, यह व्यक्ति की जानने की क्षमता पर निर्भर करता है।

यदि ज्ञान वस्तु को पूर्णतया विलक्षण रूप से ग्रहण करता है तब भी वह उसे सामान्य विशेषात्मक रूप से ही ग्रहण कर सकता है। वादिराज कहते हैं कि हमें कभी किसी पूर्णतया विलक्षण पदार्थ का ज्ञान नहीं होता। कोई भी पदार्थ जब ज्ञात होता है तो विजातीय वस्तुओं से विलक्षण रूप से ही ज्ञात होता है। यदि वह विजातीय वस्तुओं के समान अजातीय वस्तुओं से भी विलक्षण हो तो उसका अपना कोई स्वरूप ही नहीं रहेगा। यदि अर्थ विकल्पातीत रूप से जाना जाता है तो विकल्पात्मक रूप से जाने जा सकनेवाले पदार्थों से विलक्षण होने के साथ ही साथ वह 'विकल्पातीत रूप से जाना जा सकना' इस विशेषता वाले पदार्थ से इस बात में भी सादृश्य नहीं रखता हो तो उसका अपना कोई स्वरूप किस प्रकार हो सकता है? स्वरूप-हीन पदार्थ की सत्ता ही नहीं होती। अतः उसका ज्ञान होने का प्रश्न ही नहीं उठता।[१०]

ज्ञान में सार्वभौमिकता होती है। इसमें समान वस्तुओं के समान ज्ञान का सिद्धान्त काम करता है। किसी वस्तु को जानने के लिये यह आवश्यक नहीं है कि उसके समान कोई वस्तु हो, जिससे सादृश्य के आधार पर उसे पहचाना जाय। अपितु इसमें यह मान्यता निहित है कि यदि इस प्रकार की कोई अन्य वस्तु होगी तो उसका ज्ञान भी इसी प्रकार का होगा। किसी भी वस्तु को हम तभी जान सकते हैं जबकि हममें उस प्रकार की प्रत्येक वस्तु को पहचानने की क्षमता हो। इस प्रकार विषय-बोध विषय के सामान्यात्मक स्वरूप की स्वीकृति पूर्वक ही सम्भव है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मण्डन मिश्र कहते हैं कि विशेष कभी भी वस्तु का स्वरूप नहीं हो सकता। वह अन्योन्याभाव रूप होता है। तथा अभाव अवस्तु होने के कारण कभी किसी प्रमाण का विषय नहीं हो सकता। सभी प्रमाण भावात्मक अर्थ को ही विषय करते हैं। प्रत्यक्ष इन्द्रियों से सम्बद्ध अर्थ को ही जानता है तथा भेद या व्यावृत्ति अभाव रूप होने से इन्द्रियों से सम्बद्ध हो नहीं सकती। यदि उसे प्रत्यक्ष का विषय मान भी लिया जाय तो निषेध के लिये निषेध्य का ज्ञान होना आवश्यक है। एक वस्तु में अनन्त वस्तुओं का अभाव होता है। यदि निषेध-पूर्वक ही विधान होता हो तो प्रत्यक्ष की शक्ति उन अनन्त वस्तुओं का निषेध करने में ही समाप्त हो जायेगी। उसके बाद विधान किस प्रकार होगा? फिर प्रत्यक्ष वस्तु के स्वरूप को जाने बगैर अन्य व्यावृत्ति में प्रवृत्त हो नहीं सकता तथा स्वरूप-बोध के उपरान्त क्षणिक होने के कारण वह समाप्त हो जाता है। अतः विधि मात्र ही प्रत्यक्ष का विषय है, निषेध नहीं। अनुमान से भी अन्योन्याभाव को जानना सम्भव नहीं है क्योंकि अभाव का अपना कोई स्वरूप नहीं है जिसके कारण इसका किसी भावात्मक पदार्थ से व्याप्ति सम्बन्ध हो सके तथा उसके द्वारा इसे जाना जा सके। 'सर्वं वै खल्विदं ब्रह्म' जैसे आम्नाय कथनों से भी भेद रहित एक मात्र अद्वैत ब्रह्म की सत्ता सिद्ध है। इस प्रकार भेद किसी भी प्रमाण से ज्ञात नहीं होता। सदैव अभेद रूप सामान्यात्मक वस्तु ही ज्ञान का विषय होती है।[११]

जैन दार्शनिक कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु भावाभावात्मक स्वरूप को लिये हुए होती है। उसका अपना एक निश्चित विशिष्ट स्वरूप होता है तथा अन्य रूपों का उसमें अभाव होता है। कोई वस्तु चेतन होती है तो उसमें चेतना के विरोधी धर्म जडता का अभाव होता है। यदि किसी ऐसी वस्तु की सत्ता स्वीकार की जाय जो सर्वात्मक हो, और जितनी भी विशेषताएँ हो सकती है वे सभी उसका स्वरूप हो तब भी उसका अभावात्मक पक्ष अवश्य होगा और वह होगा कि वह असर्वात्मक नहीं है– उसमें किसी धर्म का अभाव नहीं है।[१२] वस्तु का अभावात्मक पक्ष उसके निश्चित प्रतिनियत स्वरूप की व्यवस्था करता है। वह अन्य पदार्थों से निरपेक्ष रूप से ही इस भावाभावात्मक स्वरूप को लिये हुए होती है।

जिस प्रकार एक वस्तु अन्य वस्तुओं से पृथक् स्वरूप उन पदार्थों की अपेक्षा पूर्वक नहीं रखती उसी प्रकार वस्तु के अन्यों से पृथक्–विशिष्ट स्वरूप का ज्ञान भी अन्यों के उल्लेख की कोई अपेक्षा नहीं रखता। प्रभाचन्द्र कहते हैं, भेद व्यवहार के लिये अन्यों का उल्लेख आवश्यक है, भेद स्वरूप को जानने के लिये नहीं।[१३] जब हम कहते हैं कि यह इससे भिन्न है तो इस प्रकार के व्यवहार के लिये, जिससे भेद देखा जा रहा है, उसका उल्लेख आवश्यक है, लेकिन वस्तु का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विशिष्ट स्वरूप न तो अन्यों की अपेक्षा रखता है न उसे जानने के लिये अन्यों का उल्लेख आवश्यक है। इसे जानने से जो कुछ उससे विलक्षण है उसकी व्यावृत्ति स्वतः हो जाती है।

प्रत्येक वस्तु सामान्य विशेषात्मक रूप से ही ज्ञात होती है। किसी भी वस्तु को हम तभी जान सकते हैं जब कि हम एक प्रकार की वस्तुओं से उसका सादृश्य तथा अन्य प्रकार की वस्तुओं से उसका भेद देख सकें। चाहे हम एक मात्र अद्वैत सामान्यात्मक ब्रह्म की ही सत्ता मानें पर उसे जानने के लिये भी ब्रह्मपन को जानना आवश्यक है, जो अब्रह्म से उसे स्वतः ही व्यावृत्त कर देता है। इसलिये आगम भी ब्रह्म का ज्ञान कराने के लिये विधिनिषेधात्मक रूप से ही प्रवृत्त होता है। 'एक ही अद्वितीय ब्रह्म है'[१४] 'यहाँ नानाकुछ नहीं है',[१५] 'उस तत्त्व को ब्रह्म वेत्ता अक्षर कहते हैं, वह न मोटा है, न पतला, न रस है, न द्रव.....।[१६] वह दृष्टि का विषय न होकर द्रष्टा है, उससे भिन्न कोई द्रष्टा नहीं है।[१७] इस प्रकार स्वरूप बोध अस्वरूप की व्यावृत्ति पूर्वक ही होता है। हम ब्रह्म को तभी जान सकते हैं जबकि उसे अब्रह्म से पृथक् कर सकें। यदि हम ब्रह्म और प्रपंच में अन्तर नहीं कर सकते तो ब्रह्म को भी नहीं जानते। किसी वस्तु के अस्वरूप की व्यावृत्ति जितनी अधिक होती है उसका उतना ही अधिक स्पष्ट स्वरूप-बोध होता है तथा स्वरूप-बोध जितना अधिक स्पष्ट होता है, उतनी ही वस्तु अन्यों से व्यावृत्त हो जाती है। इस प्रकार विधि और निषेध परस्पर सापेक्ष हैं तथा एक के अभाव में दूसरे का सद्भाव असम्भव है।

बौद्ध और अद्वैत वेदान्ती– दोनों ही सादृश्य-वैसादृश्य को परस्पर विरोधी मानते हैं तथा एक वस्तु में इनकी युगपत् स्थिति को अस्वीकार करते हैं। बौद्धों को वस्तु का सादृश्य स्वीकार नहीं है तथा अद्वैत वेदान्तियों को वैसादृश्य। उनका कहना है कि सविकल्पक ज्ञान इन दोनों को लिये हुए होता है इसलिए भ्रामक है। शास्त्र भी सविकल्पक होने के कारण भ्रामक है। इसका महत्त्व यही है कि ये हमारे अनादि अविद्या जनित भ्रम को समाप्त करते हैं। जिस प्रकार जहर से जहर नष्ट होता है उसी प्रकार एक अज्ञान दूसरे अज्ञान को समाप्त करता है। अनादि अविद्या जनित अज्ञान के समाप्त हो जाने पर हमें निर्विकल्पक अनुभूति द्वारा सत्य का साक्षात्कार होता है जो सादृश्य-वैसादृश्य रूप द्वन्द्वात्मक कोटियों से परे हैं।

अकलंक देव कहते है कि यही स्वरूप है, अन्य नहीं इस प्रकार विधि निषेधात्मक निर्णय के अभाव में तत्त्व-साक्षात्कार मात्र से यदि कोई तत्त्वदर्शी हो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सकता हो तो सभी तत्त्व-दर्शी हो जायेंगे क्योंकि यह साक्षात्कार-रूप निर्विकल्पक अनुभूति बिना किसी अन्तर के होती है।[१८] ऐसी स्थिति में बौद्धों का स्वलक्षण वैशेषिकों के सात पदार्थ तथा अद्वैत वेदान्त का ब्रह्म सभी समान रूप से सत्य होगें।

निर्विकल्पक ज्ञान के आधार पर किसी भी प्रकार के वाद-विवाद में भाग लेने का अर्थ ही यह है कि हमें उसके द्वारा यह ज्ञात हुआ है कि यही स्वरूप है, अन्य नहीं। सत् नित्य ही है, क्षणिक नहीं यह निश्चय होने पर ही क्षण-भंगवाद के खण्डन में प्रवृत्त हुआ जा सकता है। धर्मी के तादात्म्य सम्बन्ध का बोध होने पर ही उनके भेद का निषेध किया जा सकता है। यह इसलिये सम्भव हो पाता है कि वस्तु विधि-निषेधात्मक रूप से ही ज्ञात होती है। यदि वस्तु की नित्यता को जानना उसकी अनित्यता का निषेध नहीं हो तो क्षणिक वाद के खण्डन का कोई आधार नहीं है।

वास्तव में कोई भी वस्तु अनिश्चित स्वरूप को लिए हुए नहीं होती, अपितु एक निश्चित विशिष्ट स्वरूप को लिये हुए होती है। वस्तु का अभावात्मक पक्ष ही उसके प्रतिनियत स्वरूप का नियामक है। इस भावाभावात्मक वस्तु को विधिनिषेधात्मक रूप से ही जाना जा सकता है, जो उसके सामान्य विशेषात्मक स्वरूप के सद्भाव में ही सम्भव है।

शोध-छात्रा,
दर्शन विभाग
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर– ३०२००४
(राजस्थान)

– राजकुमारी जैन

टिप्पणियाँ

१. न पश्यामः क्वचित् किञ्चित् सामान्यं वा स्वलक्षणम्।
जात्यन्तरं तु पश्यामः ततोऽनेकान्त हेतवः॥

सिद्धि विनिश्चय २/१२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

२. श्लोक वार्तिक, आकृतिवाद, श्लोक ६७-७३
३. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग-१ पृष्ठ, ४५५-४५७
४. न्याय विनिश्चय, १/११८
५. प्रमाण वार्तिक ३/१३९-१४०
६. अपोह सिद्धि, पृष्ठ- ८
७. वही, पृष्ठ- १५
८. सिद्धि विनिश्चय टीका, पृष्ठ- १३३
९. सिद्धि बिनिश्चिय- स्ववृत्ति- २/२४
१०. न्याय विनिश्चय विवरण, भाग-१ पृष्ठ- ४७९
११. ब्रह्मसिद्धि से न्याय विनिश्चय विवरण में उद्धृत. पृष्ठ ३४५-३४६
१२. अष्ट साहस्त्री, पृष्ठ- १०९
१३. न्यायकुमुदचन्द्र, भाग-१ पृष्ठ- १५४
१४. छान्दोग्य उपनिषद्, ६/२/१
१५. बृहदारण्यक उपनिषद् ४/४/१९
१६. वही ३/८/८
१७. बृहदारण्यक उपनिषद् ३/८/११
१८. न्याय विनिश्चय। १६२-६३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

देवताओं के नाम : कुछ पहलू

इस निबन्ध में देवताओं के नामों के बारे में हमारे सामने प्रस्तुत होनेवाले कुछ पहलुओं के बारे में सोचने का प्रयास किया है।

देवताओं के कई नाम प्राचीन भाषाओं में मिलते हैं। जैसे, इन्द्र देवता का नाम है। उसका सम्बन्ध स्वर्ग से बतलाया गया है उसका उल्लेख वेदों में, महाकाव्यों में (रामायण तथा महाभारत में), पुराणों में तथा इनसे सम्बन्धित अन्य ग्रंथों में मिलता है। एक ही देवता की कालावधि कितनी लम्बी हो गई है। ऐसे अनेक देवता हैं। इनके साथ काल की सीमा को जोड़ना शायद कठिन है। देवता तरह-तरह के स्वीकृत किये गये हैं। जैसे सूर्य, चंद्रमा एवं ग्रह नक्षत्र हैं। जैसे ग्रह-नक्षत्रों के नाम मिलते हैं वैसे और भी प्राकृतिक शक्तियों के नाम मिलते हैं। वरुण हैं, कुबेर हैं, कामदेव हैं..... कई नाम हैं देवताओं से सम्बन्धित। नामों की भाषा एक प्रकार से निश्चित है और जब भाषा निश्चित है, तो इन नामों के भाषिक अर्थ भी प्रतीकात्मक अर्थ हम रखने लगे हैं।

स्वर्ग से सम्बन्धित नाम (व्यक्तिवाचकसंज्ञाओं के रूप में) कई प्राचीन भाषाओं में मिलते हैं। संस्कृत, अरबी, ग्रीक, लैटिन आदि भाषाओं में ऐसे नाम हैं। इसका एक कारण तो यह है कि ऐतिहासिक दृष्टि से स्वर्ग की मान्यता का सम्बन्ध जितना प्राचीन काल से है, उतना आधुनिक काल से नहीं। हिन्दी-मराठी तथा किसी भी आधुनिक भारतीय भाषा में देवताओं से सम्बन्धित नाम मूल उद्भव की दृष्टि से नहीं मिलते। या तो वे संस्कृत मूल के हैं (तत्सम रूप में) या उनसे व्युत्पन्न (अर्ध-तत्सम या तद्भव रूप में)।

जब मैं कहता हूँ कि स्वर्ग से सम्बन्धित व्यक्ति-नाम (देवताओं के नाम) हिन्दी में नहीं मिलते तो इसका अर्थ यह लेना चाहिए कि जब से हिन्दी भाषा का स्वतंत्र प्रचलन हुआ है, उस समय से इस भाषा में ऐसे नये नाम नहीं मिलते। हिन्दी में इस प्रकार के सभी नाम संस्कृत मूल के हैं। ये सभी नाम सीधे संस्कृत

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हिन्दी में स्वीकार कर लिये गये हैं। और फिर हिन्दी ही क्यों, हमारे देश की अन्य भाषाओं में भी इस प्रकार स्वीकार कर लिये गये हैं। इससे एक सवाल सामने प्रस्तुत होता है कि भारत की आधुनिक भाषाओं का स्वतंत्र प्रचलन हो जाने के बाद उनमें देवताओं के नये नाम या नये देवताओं के नाम क्यों न आये हों ?

सामान्यतया देवताओं के नामों का प्रतीकात्मक अर्थ बतलाया जाता है। जिस नाम की जैसी मान्यता है, उसीके अनुसार उसका प्रतीकात्मक अर्थ कहा जाता है। इस संदर्भ में हमें यह भी स्वीकार करना चाहिए कि इस प्रकार के नामों का भाषिक अर्थ भी होता है।

प्रोफेसर अे. अे. मॅक्डोनल ने वैदिक माइथोलोजी नामक ग्रंथ लिखा है। इस ग्रंथ का स्वतंत्र हिन्दी रूपान्तर डॉ. सूर्यकान्त ने वैदिक देवशास्त्र के नाम से किया है। इस पुस्तक की भूमिका में लिखा है---

"देवताओं के लीला-क्षेत्र जगत् को वैदिक कवियों ने पृथिवी, वायु अथवा अन्तरिक्ष और द्युलोक---इन तीनों में बाँटा है। आकाश से, पृथ्वी से ऊपर का सारा ही आकाश अभिप्रेत होता है तथा पृथ्वी के साथ प्रयुक्त होकर यह ऊर्ध्व और अधोलोकों से बने संसार को वोधित करता है। आकाश गुम्बद (नाक) को एक सीमा के रूप में समझा गया है, जोकि दृश्यमान ऊर्ध्व जगत् को उसके अदृश्यमान द्युलोक से विभाजित करता है। प्रकाश और देवताओं का निवास स्थान वही है। द्युलोक, अन्तरिक्ष और पृथ्वी ऋग्वेद की यह प्रिय त्रिलोकी है, जिसका प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से बार-बार गुणगान किया है।"[१]

ऋग्वेद की इस त्रिलोकी के देवताओं का विस्तार से विवेचन किया गया है। इस विवेचन को देखकर लगता है कि यह सब देवताओं का इतिहास है। इसे इतिहास न कह कर 'माइथोलोजी' (देवशास्त्र) कहा गया है। प्रत्येक का नाम है और उक्त नाम से सम्बन्धित जो मान्यताएँ रही हैं और उनके गुण और चरित्र हैं, उन सब का भावात्मक आलेख वेदों में है। वैदिक कवियों ने अपने नाम नहीं दिये हैं। शायद ग्रन्थ-कर्ता या कवि से ग्रन्थ का या काव्य का तथा उसके आशय का महत्त्व अधिक समझा जाता था। सब से प्राचीन उपलब्ध कोश-ग्रंथ निघण्टु में देवताओं के नाम मिलते हैं। निघण्टु के पाँच अध्याय हैं, प्रथम तीन को नैघण्टुक काण्ड कहा गया है। चौथे को नैगम काण्ड तथा पंचम को दैवत काण्ड। नैघटुक काण्ड में पर्यायवाची शब्द, नैगमकाण्ड में अनेकार्थवाची शब्द और दैवतकाण्ड में देवताओं के नाम हैं। निघण्टु के बाद यास्क का निरुक्त

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मिलता है। निरुक्त बारह अध्यायों में लिखा गया है। तेरहवें तथा चौदहवें अध्याय में परिशिष्ट हैं। निरुक्त के अन्तिम छः अध्याय (सातवें से बारहवें तक) दैवतकाण्ड से सम्बन्धित हैं। सातवें अध्याय के आरम्भ में यास्क ने लिखा है—

"ॐ अथातो दैवतम् तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद्दैवतमित्याचक्षते। सैषा देवतपरीक्षा। यत्काम ऋषिर्यस्यां देवतायामार्थपत्यामिच्छन्स्तुतिं प्रयुङ्क्ते तद् दैवतः स मन्त्रो भवति। तास्त्रिविधा ऋचः। परोक्षकृताः। प्रत्यक्षकृताः। आध्यात्मिकयश्च। तत्र परोक्षकृताः सर्वाभिर्नामविभक्तिभिर्यृज्यन्ते। प्रथमपुरुषैश्चास्यातस्य ॥ १ ॥" [२]

अर्थात्—

अब, इसलिए (हम) (निघण्टु के) देवताओं से सम्बन्ध रखनेवाले विभाग की (व्याख्या करेंगे) यह विभाग दैवत, अर्थात् देवताओं से सम्बद्ध कहलाता है, जिसमें उन देवताओं के नाम परिगणित हैं जिनके प्रति स्तुतियाँ प्रधान रूप से सम्बोधित की गई हैं। निम्न उसी की विस्तृत परीक्षा है। कोई मन्त्र उस देवता से सम्बन्ध रखनेवाला कहलाता है जिसके प्रति कोई ऋषि विशेष इच्छा से अपनी स्तुतियाँ सम्बोधित करता है तथा जिसके द्वारा वह अपनी कामना पूर्ण करना चाहता है। वे मन्त्र, जिनके विषय में अभी संकेत किया गया, तीन प्रकार के हैं— (१) परोक्ष रूप से सम्बोधित (२) प्रत्यक्ष रूप से सम्बोन्धित (३) तथा स्वयं को सम्बोधित। इनमें से परोक्ष रूप से सम्बोधित मन्त्रों में नामों की सब विभक्तियों में रचना हुई है (शा. जोड़े गये हैं) परन्तु क्रिया क (केवल) प्रथम पुरुष (ही प्रयुक्त हुआ है)। [३]

निघण्टु में मिलने वाले देवताओं के नामों का निरुक्त में विस्तार से विवेचन है। इस प्रकार के ग्रन्थों के अध्ययन से संस्कृत भाषा में देवताओं के नाम किस प्रकार प्रयुक्त किये गये हैं इसकी जानकारी पायी जा सकती है।

इतिहास में व्यक्ति रूप में जिन नामों को पहले महत्त्व प्राप्त हुआ उनमें देवताओं के, प्राकृतिक शक्तियों के (जिन्हें देवता मान लिया गया) और उन सब के नाम अधिक हैं, जो भूलोक के साथ स्वर्ग के निवासी थे। देवताओं के नामों को धरती और स्वर्ग दोनों से जोड़ना पड़ा है। देवताओं के नामों का इतिहास, हमारा धार्मिक इतिहास है। धर्म के साथ ईश्वर-सम्बन्धी मान्यताएँ हैं और इन मान्यताओं के प्रमाण में देवताओं का इतिहास पुराण रूप में जुड़ा हुआ है। देवताओं के नाम, उनके प्रतीकात्मक अर्थ तथा उसका विकास ध्यान में लेते हुए हमारे धार्मिक विकास की दिशा का परिचय प्राप्त किया जा सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैदिक देवताओं के नामों की व्युत्पतियाँ मिलती हैं। उसके नामकरण से सम्बन्धित कथानक और प्रसंग मिलते हैं। इन नामों का प्रतीकात्मक विवेचन मिलता है और इस सारे विवेचन को देखकर लगता है कि इन सब नामों की संगति भाषा के साथ बैठाई गई है।

ब्रह्मा, विष्णु, महेश ऐसे देवताओं के बहुत नाम हैं। फिर एक ही देवता के कई पर्यायी नाम हैं। हलायुधकोश में इस प्रकार के पर्यायी नाम दिये गये हैं। उक्त कोश का प्रथम काण्ड स्वर्ग से सम्बन्धित नामों का है। हलायुधकोष में ब्रह्मा के २०, विष्णु के ५६, शिव के ४५ सरस्वती के ८, पार्वती के २१, लक्ष्मी के ९, ... और इस तरह कई नामों के पर्यायी नाम दिये गये हैं। प्रत्येक नाम के पर्यायी नामों की छन्दबद्ध तालिका और संख्याएँ (संख्याएँ सम्पादक ने दी हैं) दी गई हैं। इन सब नामो के भाषिक अर्थ भी ठीक ठीक दिए गए हैं। उक्त कोश में सब नामों के भाषिक अर्थ बतलाए गए हैं।

वस्तुतः हलायुधकोश 'नाम विज्ञान' की दृष्टि से बहुत ही महत्त्वपूर्ण कोश है। कारण यह है कि इसमें पाए जानेवाले पाँचों ही काण्डों में नामवाची शब्द ही प्रधान रूप से पाये जाते हैं। प्रथम काण्ड स्वर्ग से सम्बन्धित है, दूसरा काण्ड भूमिकाण्ड है, तीसरा काण्ड पातालकाण्ड है, चौथा काण्ड सामान्य काण्ड है और अन्तिम तथा पाँचवाँ काण्ड अनेकार्थकाण्ड है। प्रथम तीनों काण्डों में स्वर्ग, भूमि और पाताल से सम्बन्धित नाम हैं– पर्यायों के साथ नाम दिये गये हैं। सामान्य-काण्ड में भाववाची नाम हैं, विशेषण हैं और ऐसे शब्द हैं, जो संज्ञाओं के निकट हैं। जहाँ प्रथम तीन काण्डों में विशेष नाम (व्यक्तिवाचक संज्ञा कहना चाहिए) मिलते हैं, उस तुलना में इस काण्ड में सामान्य नाम (जातिवाचक, गुणवाचक– विशेषण का अर्थ देनेवाले) मिलते हैं। एक ही शब्द के पर्यायी अर्थ दिये गये हैं। अनेकार्थ काण्ड में चार काण्डों से अलग एक ही शब्द के बहुत से अर्थ दिए गए हैं। भाषा में प्रयुक्त अनेक नामों की अनेकार्थता का अध्ययन हलायुधकोश की सहायता से लाभप्रद हो सकता है।

रामायण और महाभारत में अनेक नाम हैं। इन दोनों ही महाकाव्यों में (वाल्मीकि-व्यास रचित) स्वर्ग और धरती दोनों का कथानक है। स्वर्ग के देवताओं की कथाएँ भी इन महाकाव्यों में मिल जाती हैं। इसी तरह लौकिक कथा भी इनमें मिलती है। रामायण में राम और महाभारत में कृष्ण ऐसे पात्र हैं जो धरती को स्वर्ग से जोड़ते हैं। इन काव्यों में पात्रों के वंश-विस्तार का विवरण है, उनके पूर्वजन्मों का वृत्त है, उनके गुणगान हैं, उनके शौर्य का वर्णन है, लोक–

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

परलोक की मान्यतायें हैं तथा ज्ञान-कर्म-भावना का अद्भुत मेल है। रामायण-महाभारत में आनेवाले सभी नामों का विवेचन अनेक रूपों में प्रस्तुत किया गया है। प्रस्तुत संदर्भ में इतना ही कहना है कि इन नामों का हमें ऐतिहासिक विस्तार मिलता है। राककथा को आधार मानकर वाल्मीकि से लेकर मैथिलीशरण गुप्त तक साहित्य मिलता है और यह क्रम टूटा नहीं है; अब भी जारी है। ठीक यही स्थिति कृष्णकथा की भी है। इनमें राम और कृष्ण के नाम की महिमा पर तो बहुत कुछ लिखा गया है। सच तो यह है कि इन नामों को सांस्कृतिक महत्त्व प्राप्त हो गया है। राम और कृष्ण कथाओं का तथा उनके विकास का सांस्कृतिक अध्ययन सांस्कृतिक दर्शन के अध्येताओं को लाभदायी होगा।

राम और कृष्ण अवतार हैं। वे नर रूप में नारायण हैं। इनके और अनेक नाम हैं। अन्य नामों को पर्यायी नाम कहना चाहिए। इन नामों के विस्तार के कारण निरुपाधिक ब्रह्म मानों सोपाधि हो गया है। निर्गुण ब्रह्म ने सगुण रूप धारण किया है। वस्तुतः नाम सगुण और निर्गुण दोनों को जोड़ने में सहायक होते हैं। तुलसी ने लिखा भी है–

> अगुन सगुन दुई ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाधि अनादि सरूपा॥
> मोरे मत बड़ नाम दुहूँ ते। किए जेंहि जुग निज बस बूतें॥ [४]

नाम के कारण अगुन सगुन से जुड़ गये हैं। गुण में उपाधि है। इन गुणों का विस्तार अधिक होने के कारण ही नामों की संख्या बढ़ती गई है। विशेषणों को विशेष्य से भिन्न नहीं माना जाना चाहिए। इनमें अद्वैत सम्बन्ध होता है। जब भी हम किसी का वर्णन करते हैं– किसी नाम के सम्बन्ध में कुछ बतलाते हैं– उस समय उसकी विशेषताओं का बखान ही करते हैं। और यदि ये विशेषताएँ नामी के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग हो तो फिर इन विशेषताओं के कारण नाम का विस्तार हो जाता है। पर्यायी नामों की संख्या इसीलिए बढ़ती रहती है।

देवताओं की स्तुति की जाती है। इनके स्तवन गाये जाते हैं। इसी तरह उनका स्तोत्र-पाठ होता है। इन सब में वस्तुतः नाम की महिमा होती है और फिर इनमें पर्यायी नाम (विशेषणों के रूप में जो विशेष्य के अंग हो गये हैं) ही होते हैं। 'हरि अनन्त हरि कथा अनन्ता' वाली बात चरितार्थ होती है। उपाधियों का अन्त नहीं है। उपाधियों से आँक कर निरुपाधिक को सोपाधिक रूप में, निर्गुण को सगुण रूप में प्रस्तुत किया जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

नाम के साथ विशेषण यदि सार्थक होते हैं, तो नामवाची शब्द भाषा के साथ संगति रखते हैं, ऐसा कहना चाहिए। इस स्थिति में विशेषण–विशेष्य दोनों में अद्वैत सम्बन्ध रहता है, ऐसा मानना चाहिए। इस दृष्टि से भी नाम तथा उनके विशेषणों के बारे में सोचा गया है।

हमें यह मानना चाहिए कि देवताओं के नामकरण में भाषा के साथ संगति बैठाई गई है। नाम की तरह उनमें गुण मिलते हैं। एक देवता के अनेक पर्यायी नाम होने पर भी प्रत्येक नाम के साथ ऐसा कोई-न-कोई प्रसंग मिल जाएगा, जो उस नाम को सार्थक प्रमाणित करेगा। फिर यहाँ यह भी स्वीकार करना चाहिए कि देवताओं के नामों में पर्यायों की संख्या बढ़ सकती है, किन्तु नामों में पुनरावृत्ति नहीं मिलती। सूर्य को किसी पर्यायी नाम से जानें, सूर्य एक ही है। विष्णु के चाहे जितने अवतार हों और अवतारों से सम्बन्धित चाहें जितनी कथाएँ हों किन्तु विष्णु एक ही हैं। हम अनेक नामों से फिर एक नाम की ओर भी मुड़ते हैं। देवताओं के नामों में एक का विस्तार अनेक में और अनेक का संतुलन फिर एक में मिलता है। इसमें शायद हमारे सांस्कृतिक ऐकात्म्य का एक सूत्र खोजा जा सकता है।

देवताओं के नामों के विस्तार में (पर्यायी नामों में) प्रतीकात्मक प्रवृत्तियाँ मिलती हैं। इन प्रवृत्तियों के कारण ही ये नाम हमारे सांस्कृतिक जीवन के अंग हो गये हैं। इन नामों में हमारे जीवन-मूल्य हैं और इनके बल पर जीवन की गम्भीर व्याख्या हम कर सकते हैं। देवताओं के नाम के साथ जैसे उनके गुण (लक्षण) बतलाए जाते हैं, ठीक उन गुणों के अनुरूप–लक्षणों के अनुसार कहिए–उनके रूप का विधान भी हुआ है। देवताओं के न केवल चित्र मिलते हैं, अपितु मूर्तियाँ मिलती है। निर्गुण को न केवल सगुण बनाया गया है अपितु निराकार को साकार भी किया गया है। निर्गुण को सगुण बनाने के तथा निराकार को साकार बनाने के प्रयासों में पाये जानेवाली समानान्तरता का अध्ययन लाभप्रद होगा, जिससे हमारे सांस्कृतिक, धार्मिक तथा वैचारिक तथा कलात्मक पहलुओं के पारस्परिक संबंधों के बारे में सोचने की नयी दिशा मिल सकती है।

देवताओं को आकार प्रदान करने के कारण कलाओं का विकास हुआ है। मूर्तिपूजा का कारण यही है। देवता न केवल मूर्तियों में साकार हो गये अपितु उनके लिये मन्दिरों का निर्माण हुआ। ये मन्दिर भारतवर्ष में ही नहीं, भारत के बाहर भी अनेक देशों में मिलते हैं। इनके माध्यम से नाम के साथ रूप जुड़ा हुआ है। और रूप के कारण नाम जीवित हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

तुलसी ने कहा है–

देखिअहिं रूप नाम अधीना । रूप ज्ञान नहिं नाम बिहीना ।।
रूप बिसेष नाम बिनु जाने । करतल गत न परहिं पहिचाने ।।
नाम रूप गति अकथ कहानी । समुझत सुखद न परति बखानी ।।
अगुन सगुन बिच नाम सुसाखी । उभय प्रबोधक चतुर दुभाषी ।। ५

रूप के महत्त्व का प्रतिपादन मन्दिरों में प्रतिपादित हुआ है । देवता स्वर्ग में निवास करते हुए भक्तों के लिये वे रूप के माध्यम से सुलभ हो गये है। हमारी भाषा, हमारा जीवन, हमारी कलाएँ देवाताओं से जुड़ी हुई दिखाई देती है । इसमें अभ्युदय और निःश्रेयस् के बीच एक अच्छा संगम स्थापित करने का प्रयास किया गया, जिसका अध्ययन हमारे लिये लाभप्रद होगा ।

देवताओं के नामों को व्यक्तिवाचक संज्ञाओं के अन्तर्गत ही रखना चाहिए। ये ऐसे नाम हैं, जिनका भाषिक अर्थ मिलता है । प्रतीकात्मक रूप में इन नामों की तर्कसंगत व्याख्या की जा सकती है । या यों कह लीजिए कि ये सब नाम भाषा में सार्थक मान लिए गए हैं । लेकिन देवताओं के नामों में पुनरावृत्ति वाली बात भी नहीं है । एक ही नाम दोहराया गया है, ऐसा प्रायः नहीं है । इन्द्र, इन्द्र है, सूर्य, सूर्य है, राम, राम है और कृष्ण, कृष्ण है, शिव, शिव है । हाँ, इन सब नामों के पर्यायी रूपों की संख्या बढ़ती गई है और इस तरह से बढ़ने वाले पर्यायी नाम भी भाषा में सार्थक हो गये हैं । विशेषणों के रूप में ही नामों का प्रचलन विशेष्य रूप में होता गया । इसलिए भाषा के साथ अन्य-अन्य पर्यायी नामों की संगति भी बराबर बैठती गई है । देवताओं की चारित्रिक विशेषताओं के कारण देवताओं के पर्यायी नाम बनते गये हैं और उन नामों से सम्बन्धित प्रसंग भी उन-उन नामों के साथ जुड़ते गए हैं ।

व्यक्तिवाचक संज्ञा के रूप में देवताओं के नामों का अध्ययन भाषा के ऐतिहासिक अध्ययन का आधार हो सकता है । इस आधार पर भाषा-परिवारों को पहचानने में और भाषा-परिवारों के आपसी सांस्कृतिक सम्बन्धों को जानने में भी सहायता मिल सकती है । आर्य परिवार से सम्बद्ध जितनी आधुनिक भाषाएँ हैं, (हिन्दी, मराठी, गुजराती, बंगला, उड़िया, असमी, पंजाबी...आदि) उनमें देवताओं के नाम सीधे संस्कृत भाषाओं से आये हुए हैं । इन नामों के आधार पर भी ये भाषायें आपस में पारिवारिक रूप में जुड़ जाती हैं । इन नामों के कारण द्राविड़-परिवार और आर्य-परिवार भी आपस में जुड़ गये हैं । संस्कृत भाषा के ये नाम द्राविड़ परिवार की भाषाओं में भी उसी तरह से प्रचलित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं, जैसे आर्य-परिवार में प्रचलित रहे हैं। इस प्रकार आय तथा द्राविड़ परंपराएँ समान सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर विकसित हुई ऐसा कहा जा सकता है।

देवताओं के नामों में हमारे अपने चिन्तन का उत्कर्ष है, सांस्कृतिक गरिमा है, जीवन-दर्शन है, इतिहास-दर्शन है और सब से बड़ी बात भाषा का प्रतीकात्मक रूप सार्थक होकर ऐतिहासिक अर्थ में परिणत है।

देवताओं के नाम हमारे अपने नामकरण– व्यक्तियों के नामकरण– के लिए आधार रूप में हैं। व्यक्तियों के नामों में इन नामों का प्रतिशत आज भी अन्य नामों की तुलना में अधिक मिलेगा। इन नामों की पुनरावृत्ति होती रही है और आज भी नये नामकरणों में हम इन नामों का उपयोग करते हैं। किन्तु ये सब नाम व्यक्तियों के साथ जुड़ने के कारण ऐतिहासिक हो गये हैं। व्यक्तियों को ये नाम दिये जाने पर भी ये नाम भाषिक दृष्टि से मूलतः (भाषा-विशेष में अर्थ को प्रतीकात्मक रूप में) संस्कृत भाषा से सम्बन्ध रखने वाले हैं और देवता-विशेष से जुड़े हुए हैं। देवताओं के नाम मनुष्यों को देने से (या रखने से) मनुष्य ठीक-ठीक देवता नहीं हो गये। देवताओं के नामों की भाषिक-संगति–अर्थ की दृष्टि से–देवता के साथ ही बैठती है।

देवताओं के नाम भाषा-प्रतीकों के सर्वोत्तम उदाहरण-स्वरूप हैं, अव्यक्त को व्यक्त करने के प्रयत्य में और व्यक्त में अव्यक्त को उजागर करने में इन नामों का अपना महत्त्व है। संक्षेपतः,

१) देवताओं के नाम ऐतिहासिक चिन्तन तथा भाषा-चिन्तन में सहायक प्रमाणित होते हैं। २) नामों के बिना ऐतिहासिक-चिन्तन नहीं हो सकता। क्योंकि इतिहास वास्तव में नामकरण के बाद में ही रूप-ग्रहण करता है। और इतिहास में व्यक्तियों के नामों से पहले– लौकिक नामों से पहले कहिए– हमें देवताओं के नामों का अध्ययन इतिहास की पूर्व कल्पना समझने में सहायक है। देवताओं के नामों को हम प्रायः पौराणिक अर्थ में (इतिहास-प्राक्-रूप में कहिए) लेते हैं। यदि ये नाम तथ्यों के आधार पर ऐतिहासिक प्रमाणित होते हैं, तो इससे इतिहास की कालावधि बढ़ेगी। फलस्वरूप हमारा ज्ञान और समृद्ध होगा। ४) देवताओं के नाम भाषा-चिन्तन तथा भाषिक विकास का विचार करने के लिए उपयोगी स्त्रोत हैं। व्यक्तिवाचक संज्ञा होने के नाते ये अपने नामकरण में भाषिक अर्थ की अभिव्यक्ति करते हैं। इन नामों में विशेषण और संज्ञा का द्वैत रूप नहीं रहता। देवताओं के नाम भाषिक गुणात्मकता के रूप हैं। भाषा के सूक्ष्म विश्लेषण में एवं अर्थ की निष्पत्तियों में इनका उपयोग किया जा सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

५) साथ-साथ देवताओं के नाम हमारे सांस्कृतिक, वैचारिक तथा कलात्मक विकास के साथ जुड़े हैं और हमारे सांस्कृतिक ऐकात्म्य का मुख्य स्त्रोत हैं। इस दृष्टि से देवताओं के नामों का अध्ययन लाभप्रद होगा।

'रत्नदीप' — राजमल बोरा
५, मनीषा नगर, केसरसिंहपुरा
औरंगाबाद– ४३१००५ (महाराष्ट्र)

टिप्पणियाँ

१. वैदिक शास्त्र, मूल : ए. ए. मैकडोनल, अनुवाद : डॉ. सूर्यकान्त, श्री भारत भारती प्राइवेट लिमिटेड, १, अंसारी रोड, दरियागंज, दिल्ली–६, प्रथम संस्करण १९६१, भूमिका, पृ. १२.

२. निघण्टु तथा निरुक्त, (मूल, भूमिका, हिन्दी-अनुवाद तथा परिशिष्ट सहित) लक्षणस्वरूप, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९६७ ई. मूल : पृ. १३२ (सप्तम अध्याय के आरम्भ की पंक्तियाँ)

३. वही, हिन्दी अनुवाद, पृ. २०९

४. रामचरितमानस, गीता प्रेस, गोरखपुर, बालकाण्ड, १–८/२३

५. वही, बालकाण्ड, १–५/२१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सांख्य दर्शन में अविवेक की अवधारणा

सांख्यकारिका का आरम्भ दुःख की विद्यमानता के तात्त्विक बोध के साथ होता है। दुःख, जगत् और मनुष्य परस्पर सापेक्ष हैं, क्योंकि जगत् मनुष्य का ही जगद्भाव है। जगत् या संसार में मनुष्य का अस्तित्व है ही उसकी जगत्प्रवृत्ति के कारण। बुद्धि केवल प्रकृति से विकसित तत्त्व ही नहीं है, जिसका कार्य निश्चय करना है, बल्कि उसमें विभिन्न भाव भी स्थित हैं। सांख्य के अनुसार, मनुष्य की सांसारिक प्रवृत्ति के पीछे मुख्य भाव 'अज्ञान' या कहें ज्ञान का अभाव है। 'ज्ञान का अभाव' से अर्थ विवेक-ज्ञान के अभाव से है, साधारण ज्ञान के अभाव से नहीं। सांख्य की पारिभाषिक पदावली में, अविवेक चिद्-रूप पुरुष और अचित् प्रधान की एकात्मता का अवधारण करना है। साधारण शब्दों में कहें तो यह देह-भाव, इन्द्रिय-भाव, आदि में अस्मत्त्व देखना है। उदाहरण के लिए, अर्जुन द्वारा विपक्ष में खड़े परिजनों में मम-भाव के आक्षेप और उसके आधार पर कर्म के निर्णय को देखा जा सकता है, जो हमारे प्रतिदिन के अनुभव का एक निदर्श है। यह मिथ्या अवधारणा ही दुःख का कारण है। मनुष्य अज्ञान के कारण जीवन को दुःखमुक्त करने वाली दृष्टि खो देता है और यह नहीं अनुभव करता कि सांसारिक वस्तुएँ वास्तविक शांति और सुख देने वाली नहीं हैं। दुःखों का अन्त वैज्ञानिक एवं तकनीकी उपलब्धियों से, धार्मिक कृत्यों या अन्य लौकिक साधनों से सम्भव नहीं है, क्योंकि 'दुःख' का मूल कारण अपने 'स्वरूप' को भूलना है जो इन सब सीमाओं से परे है। जब मनुष्य पूर्णतः सांसारिक प्रवृत्ति में निमग्न रहता है तब वह आत्म-स्वरूप को नहीं जान पाता। परिणाम-स्वरूप वह पर-रूप से अभिन्नता महसूस करता है, और मानता है कि यह सांसारिक या आनुभविक जीवन ही उसका स्वरूप है। वह 'द्रष्टा' और 'दृश्य', शुद्ध चैतन्य और आनुभविक चेतना में भेद करने में समर्थ नहीं होता।[1] इस दृष्टि का अभाव ही 'अविवेक' (पुरुष और प्रकृति के बीच भेद न देखना) है। इसके कारण मनुष्य अपने सत् स्वरूप या आत्म (पुरुष) को भूलकर आनुभविक विषयों से भ्रमित होकर सोचता है कि मनोभाव, इच्छाएँ

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ७, अंक २, मार्च, १९८६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

संकल्प और इन्द्रियानुभव, जो कि निरन्तर परिवर्तनशील भौतिक स्थितियों और इन्द्रियों के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया के कारण उत्पन्न होते हैं – इसके अपने हैं। इस प्रकार वह समस्त सांसारिक स्थितियों से मम-इतर का सम्बन्ध स्थापित कर लेता है। यह वह अवस्था है जब मनुष्य यह दृष्टि नहीं रखता कि 'वह' इस सांसारिकता से परे भी 'कुछ' है जो इसका स्वरूप है। यह पूर्ण आत्मविस्मृति या अनात्म से पूर्ण तादात्म्य ही दुःख का मूल है।

आत्म (पुरुष) और अनात्म (प्रकृति) के बीच अविवेक के कारण ही प्रकृति व्यक्तावस्था को प्राप्त होती है। किन्तु इस अविवेक का अधिष्ठान पुरुष में नहीं होकर प्रकृति में ही है।[२] इस अविवेक के कारण अव्यक्त प्रकृति, जो कि अनात्म है, आत्म-उपाधि के साथ व्यक्त होती है। बुद्धि से पंचमहाभूत पर्यन्त यह जगत् मनुष्य (और प्राणिमात्र) तथा उसके विषयों के सम्पूर्ण अस्तित्व और प्रकारता का समावेश करता है। किन्तु जबकि अपने अस्तित्व में मनुष्य का स्वभाव उसकी प्रकृति, प्रधानात्मक– त्रिगुणात्मक– है, अपने अर्थ में अपनी अभीप्सा में, यह पुरुष है। इस प्रकार यह विषयी जीव प्राकृतिक होते हुए भी पुरुष अथवा निरपेक्ष आत्म से भी संपृक्त है। अपने इस अर्थ का आभास जीव प्रत्यङ्मुख विचार में, मनन-वृत्ति में, प्राप्त करता है। प्रकृति में आत्मोपाधि का यही अर्थ है। यदि ऐसा नहीं मानें तो 'आत्मोपाधि' 'अनात्म' आदि शब्दों का कुछ अर्थ नहीं होगा। किन्तु परम अर्थ, परम मूल्य, आत्म और अनात्म का यह संयुक्त रूप नहीं है; सांख्य के अनुसार, वह स्वरूप– विश्रांत, निरपेक्ष और आत्मपूर्ण सत्ता है। किन्तु तब भी जगत् अथवा कहें मनुष्य के लौकिक अस्तित्व के लिये यह नितान्त बाह्य भी नहीं है, क्योंकि उसी से इसकी सार्थकता है, उसी से इसकी गति, स्थिति, रूप और गुण का कुछ अर्थ बनता है, जैसे हृदयगति का अर्थ प्राणी के जीवन से और मार्ग का अर्थ मंजिल से बनता है।

अब यह अनात्म क्या है? सांख्य के अनुसार, जगत् दुःख है, क्योंकि यह आत्मरूपेण गृहीत अनात्म है। अनात्म आत्म-सम्बद्ध दोष है, यद्यपि सांख्य के अनुसार इसका अधिष्ठान आत्म में नहीं होकर इससे स्वतंत्र है। यह दोष आत्म में तभी हो सकता था यदि आत्म स्वरूपतः पूर्ण, गुण-दोषातीत नहीं होता। किसी भी भारतीय दर्शन-संप्रदाय ने आत्म अथवा चैतन्य को विकासमान सत्ता नहीं माना है। आत्मा के पूर्ण सत् होने से उनके लिये अनात्म की विद्यमानता और इसके अधिष्ठान का प्रश्न एक बड़ी समस्या बन जाता है। वेदान्त ने इसे असत् मानकर इसका अधिष्ठान ब्रह्म में माना है। किन्तु अनात्म, जो कि दोष है, का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अधिष्ठान स्वतंत्र नहीं मानने पर इसे आत्मगत दोष मानना पड़ता है और तब आत्म को स्वरूपान्वेषी और विकासमान् मानना पड़ता है, जो कि वेदान्त को अस्वीकार्य है। इसीलिए वेदान्त के लिए अनात्म की विद्यमानता एक समस्या है जो सांख्य के लिए इस प्रकार से नहीं है।

अब यदि अद्वैत वेदान्त यह कहे कि अनात्म के असत् होने से आत्म की पूर्णता खण्डित नहीं होती तो कहा जायेगा कि अनात्म दोष-रूप है ही आत्म के प्रसंग से, अपने-आप में कोई बात न अनात्म है और न दोष। और अपने-आप में असत् होना ही आत्मसम्बद्ध दोष आत्मगत बनाता है, क्योंकि यदि किसी स्थिति को दोष और अपने-आप में असत् कहा जाय तो दोष आत्मा का धर्म हो जाएगा। इस परिस्थिति से बचने के लिए ही सांख्य अनात्म को आत्मोपाधि के रूप में असत् किन्तु पदार्थतः सत् मानता है। अर्थात् आत्मोपाधि इसलिए असत् है क्योंकि इसका स्वभाव, इसकी प्रकृति, आत्मा से भिन्न त्रैगुण्य है जबकि इसकी प्रतीति आत्मरूपेण है।

सांख्य के अनुसार समस्त अनुभव जिसके प्रसंग से है वह सत्-स्वरूप में नित्य अपरिवर्तनीय है। स्वरूप में शुद्ध-चैतन्य उपाधि-रहित है। यह गतिहीन है क्योंकि यह पूर्ण और निरपेक्ष है। किन्तु आत्मा का हमारा अनुभव आपेक्षिकता और अपूर्णता का अनुभव है। इसका समाधान क्या है? इसका समाधान यह है कि यह आपेक्षिक में निरपेक्ष का प्रतिबिंब है जो भ्रांतिवशात् वास्तव-रूपेण ग्रहण किया जा रहा है।

किन्तु तब प्रश्न है कि इस भ्रांति का कारण क्या है? इसमें सांख्य का उत्तर अंशतः वही है जो उन सभी भारतीय दर्शनों का है जो जगत् का मूल अविद्या को मानते हैं और अंशतः उनसे भिन्न है। यहाँ 'कारण' का अर्थ यदि हेतु मानें तो सांख्य का उत्तर अन्यों के समान है. कि इस भ्रम का कोई हेतु नहीं हो सकता क्योंकि सामान्य भ्रम (जैसे रज्जु में सर्प-दृष्टि) में हेतु विषयगत अनुरूपता और मनःस्थिति का संयुक्त व्यापार कहा जा सकता है, विषयाभाव में भ्रम का हेतु केवल मनःस्थिति, जैसे विक्षिप्तता, को ही कहा जा सकता है। किन्तु अविद्या के लिए दोनों हेतु अनुपस्थित हैं– न तो प्रकृति और पुरुष में कोई अनुरूपता है और न मनःस्थिति ही विद्यमान है, क्योंकि मनःस्थिति अविद्यापूर्वक होती है। इस कारण अविद्या अनादि और अतिक्रामी है। अन्यों से सांख्य की विशिष्टता इस बात में है कि, यदि कारण का अर्थ उपादान मानें तो, सांख्य अन्यों से भिन्न अविद्या का उपादान कारण प्रकृति को मानता है जबकि अन्य संप्रदाय कोई उपा-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant

दान नहीं मानते। बौद्ध तो कारण का प्रश्न ही नहीं उठाते, वेदान्त उठाता है। अब सांख्य के समान वेदान्त भी सत्कार्यवादी है। तब उससे प्रश्न होगा कि अविद्या का उपादान क्या है? इसका उसके पास कोई उत्तर नहीं है।

इस प्रकार सांख्य के अनुसार, हेतु-रूपेण प्रकृति और पुरुष का संयोग जनादि है। संयोग के अनादि होने से जन्म-मरण का यह क्रम भी अनादि है।

अब यह अनादि भ्रम या अविवेक जगद्भाव का अनादि हेतु है और यह जगद्भाव सुख-दुःख, हर्ष-विषाद आदि का अनादि हेतु है। किन्तु इनके हेतु के अनादि और अहेतुक होने से अंततः ये भी अहेतुक ही हैं, किन्तु उपादान में ये प्राकृतिक या त्रिगुणात्मक हैं।

यदि सुख-दुःख आदि को अचेतन प्रकृति के स्वरूप अथवा विकार नहीं मानें और परिणामतः इनकी अनुभूति के समय चेतन तत्त्व को ही इस रूप में घटित मानें तो चेतन को परिणामी होने से कैसे बचाया जा सकता है? सांख्य के अनुसार, वस्तु-स्थिति यह है कि सुख-दुःख आदि की अनुभूति के काल में आत्मा का सुखादि के रूप में परिणाम नहीं होता, बल्कि सुखदुःखादि रूप में परिणत हुई बुद्धि ही चेतन आत्मा की अपेक्षा से सुखादिविषयक अनुभूति का साधन बनती है। सुख-दुःखादि रूप में इस प्रकार बुद्धि का परिणाम होना और आत्मा में इसे उपस्थित करना आदि समस्त क्रियाकलाप चेतन के सम्पर्क की अपेक्षा रखता है। इन दोनों का सहयोग संसार के समस्त व्यवहार एवं क्रियाकलाप की धुरी है। किन्तु द्रष्टव्य है कि 'पुरुष' और 'प्रकृति' 'चैतन्य' और 'जड़त्व' तथा 'सहयोग' आदि शब्दों का प्रयोग साधारण अर्थ में समझना दो नितान्त भिन्न स्तरों में व्यामिश्र करना है, यह दार्शनिक अविवेक है। 'चेतन' या 'पुरुष' सांख्य में मानसिक चेतना के पर्याय नहीं है; मानसिक चेतना सांख्य के अनुसार त्रिगुणात्मक और परिणामतः अचेतन या जड़ है। मन को जड़ मान लेने पर 'जड़' का अर्थ भी स्पष्टतः असाधारण हो जाता है। पुरुष सांख्य के अनुसार अनुभव की सब कोटियों से अस्पृष्ट अस्तित्व की अर्थ-पर्येषणा का साध्य-तत्त्व है और 'जड़' या प्रकृति इस अस्तित्व का वह तत्त्व, जो यह अस्तित्व इस अर्थ और पर्येषण के बिना हो सकता है: जैसे, जल भरने के अर्थ के बिना घट मिट्टी मात्र है।

पुरुष और प्रकृति, अथवा चैतन्य और जड़त्व, को इस प्रकार परिभाषित कर देने पर कर्तृत्व, भोक्तृत्व और ज्ञातृत्व जबकि निरभिमान अतिक्रामी प्रेक्षकत्व के रूप में जीव के तात्त्विक स्वरूपगत हैं, साभिमान रूप में ये अविवेक हैं। क्योंकि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अभिमान कर्तृत्व, आदि विषयात्मक-अनुभवात्मक हैं और इस प्रकार वे तत्त्वतः कर्तृत्व, भोक्तृत्व, ज्ञातृत्व नही होकर इनकी विषयता हैं, क्योंकि कर्तृत्वादी स्वातंत्र्य को पूर्वापेक्षित करते हैं जबकि अभिमान विषय-पारतंत्र्य है।

सांख्य अन्य भारतीय दर्शनों के समान ही पुनर्जन्म को भव-चक्र मानता है किन्तु पुनर्जन्म के रूप और अर्थ के सम्बन्ध में विभिन्न भारतीय दर्शनों में मतभेद है जो वास्तव में उनकी तत्त्वमीमांसा के अनुसार आवश्यक है। यह द्रष्टव्य है कि पुनर्जन्म की अवधारणा का मूल मनुष्य द्वारा मृत्यु पर विजय की आकांक्षा है। गीता में कृष्ण अर्जुन को जो कहते हैं कि आत्मा शरीर के नाश के साथ नष्ट नहीं होता - 'न हन्यते हन्यमाने शरीरे' - उसमें यही अमरता की अभीप्सा है। प्लेटो ने भी पुनर्जन्म इसी आधार पर स्वीकार किया है। किन्तु सांख्य और महायान बौद्ध दर्शनों में, तथा वेदान्त में भी, पुनर्जन्म आत्ममूलक नहीं है, तीनों में इसका उपादान अनात्म-तत्त्व है। सांख्य के अनुसार जन्म-मरण और इसके कारणभूत संस्कार सब प्राकृतिक हैं, जिस प्रकार बौद्धों के लिये ये स्कन्धमूलक हैं। इसके लिये आत्मा या पुरुष की आवश्यकता नहीं है। किन्तु इस भव-चक्र की विवेक से समाप्ति हो जाने पर मनुष्य का जो शेष रहता है, वह है उसका अनात्म से मुक्त आत्म-तत्त्व।

इस प्रकार सांख्य में संसार 'पुरुष' से निगमित नहीं होता, न पुरुष संसार से निगमित होता है, किन्तु संसार का अर्थ 'पुरुष' के बिना लपूर्ण रहता है। संसार, या कहें विकृति के विभिन्न तत्त्व, बुद्धि से पंचमहाभूत पर्यन्त पुरुष के वैभव को ही व्यक्त करने के लिए हैं। यह 'पुरुष,' जो कि शुद्ध चैतन्य है, संसार का द्रष्टा है, किन्तु संसार-भाव में यह इस रूप में ज्ञात नहीं होता। सांख्यकारिका २० में कहा गया है–

"पुरुष के संयोग से अचेतन लिंग चेतन की तरह प्रतीत होता है, और इसी प्रकार गुणों का वस्तुतः कर्ता न होनेपर भी उदासीन पुरुष कर्ता सा प्रतीत होता है।"

यहाँ प्रश्न हो सकता है कि, यदि 'प्रकृति', 'पुरुष' से पूर्णतः पृथक् है, यदि यह अनात्म का स्वतंत्र अधिष्ठान है, तब अनात्म का आविर्भाव ही किस प्रकार होता है? क्योंकि शुद्ध ज्ञानस्वरूप 'पुरुष' और शुद्ध तटस्थ 'प्रकृति' दोनों में अविवेक असंभव है।

इस प्रश्न में आधारभूत भ्रांति है, वह यह कि 'अविवेक' का कभी आविर्भाव होता है। अविवेक प्राप्त स्थिति है। उसका केवल तिरोभाव

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

होता है और हो सकता है आविर्भाव नहीं, और तिरोभाव होने पर ऐसा नहीं है कि अविवेक या अनात्म या जगत् का प्रकृति में लय हो जाता है। ऐसा कुछ नहीं होता, क्योंकि 'प्रकृति' और 'पुरुष' वस्तुएं नहीं हैं, । अविवेक तिरोभूय है, यह निवार्य है, यही उसकी प्राकृतिकता है, और निवृत्त अवस्था 'प्रकृति' है। 'प्रकृति' और 'पुरुष' दो भिन्न तत्त्व हैं। 'प्रकृति' जगत् का अधिष्ठान है, पुरुष शुद्ध चेतना है। इस रूप में ये दोनों महत्त्वपूर्ण कोटियाँ हैं। इसी सन्दर्भ में देखने पर सांख्य के इस वाक्य को कि "पुरुष बंधन और मोक्ष का अधिष्ठान नहीं है" [७] समझा जा सकता है।

अन्त में, यह विचारणीय है कि प्रकृति और पुरुष के द्वैत के लिये क्या युक्ति है? यदि बुद्धि-पर्यन्त सब कोटियाँ प्राकृतिक हैं और विवेक भी बुद्धि-व्यापार ही है तब ऐसा कहने में क्या दोष है कि बौद्धिक चेतना में संसार-भाव के अतिक्रमण दोनों की क्षमता है और यह अतिक्रमण आध्यात्मिक शान्ति और सौख्य को देने वाला है। उदाहरणतः डेकार्ट की व्यवस्था में भौतिक और मानसिक दो तत्त्व, जो कि सांख्य द्वारा एक ही में सन्निहित हैं, जगत् की व्याख्या करने के लिये पर्याप्त हैं। इसी प्रकार प्लेटो, कांट और हेगल की व्यवस्थाओं में भी आनुभविक और अतिक्रामी दोनों सांख्य की प्रकृति में सम्मिलित हैं। तो क्या इन दार्शनिकों की व्याख्याएं अधूरी हैं? इसका उत्तर हम यह देना चाहेंगे कि वास्तव में प्लेटो का सूर्य अथवा परम शिवतत्त्व (दि गुड) डेकार्ट का ईश्वर, कांट का स्वतन्त्र संकल्प और हेगल का निरपेक्ष चैतन्य सांख्य की प्राकृतिक कोटियों में नहीं रखे जा सकते, ये बुद्धि का अतिक्रमण करते हैं। इसके अतिरिक्त, इतरता का बोध जैसे ऐन्द्रिय विषयों में हमें हो सकता है वैसा ही, बल्कि उससे भी अधिक तीव्रता के साथ, मनोवृत्तियों और विचारों के प्रति भी हो सकता है। यह इतरता का बोध ऐसे तत्त्व की ओर संकेत करता है जो नितान्त आत्मा है।

किन्तु यह बोध अत्यधिक विरले व्यक्तियों को ही होता है, साधारण रूप से मनुष्य अविवेक की अवस्था में ही रहता है। यद्यपि हम पदे-पदे सदसत्, उचित-अनुचित, कर्तव्याकर्तव्य में विवेक करते हैं, किन्तु यह विवेक वास्तव में पारमार्थिक स्तर का नहीं होता, यह लौकिक स्तर का ही होता है। अर्जुन का कुरुक्षेत्र में युद्ध नहीं करने का निर्णय इसका बहुत उत्तम उदाहरण है: युद्ध, राज्य में अपने भाग की मांग, ये सब स्पष्टतः त्याज्य प्रतीत होते हैं और इनसे विरति, राज्य और सपत्ति का त्याग उत्तम ही प्रतीत होते हैं। किन्तु वास्तव में इसमें कैसी आत्म-छलना है यह हमें तभी विदित होता है जब द्रष्टा कृष्ण इसे दिखाते हैं। किन्तु वास्तव में इस दृष्टि का सच्चा मर्म धारण करने के लिये उस तनाव का,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उस ग्लानि और क्लेद का होना आवश्यक है जो अर्जुन अनुभव कर रहा था। अन्यथा हम सामान्यतः जो विवेक करते हैं वह अविवेक का ही एक सोपान होता है। तो भी यह विवेक भी वास्तव विवेक की ओर संकेत कर सकता है, यदि हम इस संकेत को लेने के लिए उद्यत हों। क्योंकि आखिर किसी भी स्तर पर सद्-असद् में विवेक है ही किस आधार पर ? यह परिपृच्छा हमें किसी भी स्तर पर उस अन्तिम स्थिति का संकेत दे सकती है।

द्वारा श्री दिग्राजसिंह शर्मा, — प्रेमलता शर्मा
इतिहास विभाग,
राजकीय महाविद्यालय,
सिरोही (राजस्थान)

टिप्पणियाँ

१. पारमार्थिक चैतन्य और विषय-चेतना में सांख्य मौलिक भेद देखता है। इसपर द्रष्टव्य Larson, G J.; *The Classical Sankhya*, pp. 170–71; Motilal Banarsidas. Delhi, 1972.

२. सांख्यकारिका, २७

३. सांख्यकारिका, ६२

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

उन्मीलन

वैचारिक हिन्द-स्वराज की उन्मेषक
षाण्मासिक पत्रिका

सम्पादक
यशदेव शल्य

सहयोगी
गोविन्दचन्द्र पांडे, दयाकृष्ण, राजेन्द्रप्रसाद पांडेय

जुलाई १९८५ से प्रकाशन आरंभ

प्रथम अंक के लेखक– गोविन्दचन्द्र पांडे, यशदेव शल्य, नारायणशास्त्री द्राविड़, प्रेमलता शर्मा, न. कि. देवराज, के. सच्चिदानन्द मूर्ति ।

द्वितीय अंक के लेखक– नारायणशास्त्री द्राविड़, राजेन्द्रप्रसाद पांडेय, यशदेव शल्य, वीरेन्द्र शेखावत, धर्मेन्द्र गोयल, विद्यानिवास मिश्र, दयाकृष्ण ।

प्रकाशक : दर्शन प्रतिष्ठान
पी– ५१, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड, जयपुर– ३०२०१५

वार्षिक शुल्क : व्यक्तिगत– २०-००
संस्थाएं– ४०-००
आजीवन– क्रमशः २५०-००, १५००-००

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्रीमद् भगवद्गीता में सांख्य-योग-पदार्थ

भारतीय दर्शन की परम्परा में सांख्य पद से सामान्यतः वह चिन्तन ग्रहण किया जाता है, जिसके प्रवर्तक महर्षि कपिल माने जाते हैं। ईश्वर कृष्ण के अनुसार महर्षि कपिल ने जो तत्त्व-चिन्तन किया उसे अपने शिष्य पर कृपा करके आसुरी को प्रदान किया। आचार्य आसुरी से यह चिन्तन पञ्चशिख को प्राप्त हुआ। आचार्य पंञ्चशिख ने इस चिन्तन को पूर्ण व्यवस्था दी और उसका विस्तार किया। आचार्य पञ्चशिख के अनेक शिष्य थे, जिनके द्वारा सुदीर्घ शिष्य-परम्परा चली। इसी परम्परा में ईश्वर कृष्ण नामक एक आचार्य हुए। इन्होंने सांख्य दर्शन के चिन्तन को सत्तर कारिकाओं में निबद्ध कर दिया था,[1] जिसे सांख्य परम्परा का सबसे प्राचीन ग्रन्थ स्वीकार किया जाता है। इस दार्शनिक चिन्तन परम्परा के अनुसार कार्यकारण रूप समस्त जगत् सत् है। यहाँ किसी नवीन पदार्थ की उत्पत्ति होती है, यह स्वीकार्य नहीं है। नवीनता तो केवल परिणाम के कारण दिखाई पड़ती है। इस दार्शनिक चिन्तन परम्परा, जिसे प्रायः सांख्य शास्त्र या सांख्यदर्शन नाम से ही स्मरण किया जाता है, में निम्नलिखित पचीस तत्त्वों का परिगणन (संख्यान) किया गया है। १) मूल प्रकृति २) महत् ३)अहंकार (४–८) पांच ज्ञानेन्द्रियाँ (श्रोत्र, त्वचा नेत्र जिव्हा या रसना और घ्राण) (९-१३) पांच कर्म इन्द्रियां (वाक्, हाथ, पैर, पायु अर्थात् मल निकालने की इन्द्रिय गुदा और उपस्थ (१४) उभयेन्द्रिय अर्थात् ज्ञान और क्रिया दोनों की सहायता करने वाली इन्द्रिय मनस्, (१५–१९) पांच तन्मात्राएं अर्थात् शब्दतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, रसतन्मात्रा और गन्धतन्मात्रा, तथा इन पांचों तन्मात्राओंसे उत्पन्न होनेवाले (२०–२४) पाँच महाभूत अर्थात् आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी तथा (२५) पुरुष। इन पचीस तत्त्वों में प्रकृति (मूल प्रकृति) और उसके तेरह विकार जड़ हैं जबकि पच्चीसवां तत्त्व पुरुष चेतन है। यही तत्त्व भोक्ता है। प्रकृति के सम्पूर्ण विकार इस चेतन तत्त्व पुरुष के भोग की दृष्टि से सम्पन्न होते हैं तथा प्रकृति के इस चक्र को जान लेने पर उस पुरुष-विशेष के लिए

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding JKS-MoE-Grant-

प्रकृति विरत हो जाती है।[१] फलतः उसे अपवर्ग या मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है। यह सांख्य शास्त्र का सिद्धान्त है।

इसी प्रकार 'योग' शब्द महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रवर्तित उस दार्शनिक चिन्तन परम्परा का बोध कराता है, जिसमें एक विशेष प्रकार की साधनाओं के माध्यम से चित्त की पूर्ण स्थिरता प्राप्त करके कैवल्य अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है, ऐसा स्वीकार किया जाता है। पतञ्जलि के अनुसार चित्त या मन की पांच वृत्तियां हैं १) प्रमाण अर्थात् यथार्थ ज्ञान २) विपर्यय अर्थात् मिथ्याज्ञान ३) विकल्प अर्थात् शब्दों द्वारा मानस में उत्पन्न (कल्पित) पदार्थ रूप ज्ञान, जबकि वास्तविकता उस पदार्थ की नहीं है, जैसे, शशशृंग आकाश-कुसुम आदि। ४) निद्रा अर्थात् चित्त की वह स्थिति जब वह किसी भाव पदार्थ के सम्पर्क में नहीं है, किन्तु स्थिर भी नहीं है। मन की यह स्थिति नींद की स्थिति हुआ करती है। तथा ५) स्मृति अर्थात् पूर्व समय में अनुभव किये हुए की चित्त में पुनः उपस्थिति। इसे सामान्य भाषा में स्मरण कहते हैं।

योग के अनुसार चित्त की वृत्तियां निरुद्ध करने के अनेक उपाय हो सकते है। इनमें अभ्यास और वैराग्य, ईश्वर प्रणिधान, प्राणायाम, विषयवती प्रवृत्ति एवं किसी भी अभिमत (इष्ट) देव या पदार्थ का ध्यान इनमें मुख्य हैं।[२] यद्यपि अभ्यास और वैराग्य को पतञ्जलि ने विशेष महत्त्व दिया है। अभ्यास के क्रम में उन्होंने योग के आठ अग बताये हैं : यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि। योग के इन अंगों में यम, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह भेद से पांच प्रकार के, तथा नियम भी शौच, सन्तोष, तप, स्वाद्ध्याय और ईश्वर प्रणिधान भेद से पांच प्रकार के हैं। पतञ्जलि के अनुसार आसन के अनेक प्रकार हैं किन्तु वे प्राणायाम के उपकारक हैं, अथवा आसन-सिद्धि के बाद प्राणायाम की योग्यता बनती है। प्रत्याहार इन्द्रियों का निग्रह है। प्राणायाम और प्रत्याहार के बाद ही चित्त को किसी देश-विशेष में बांधने का क्रम बनता है। इसे धारणा कहते हैं। पतञ्जलि के अनुसार देश विशेष में चित्त बंध कर जब वहां एकतान होकर स्थिर होने लगता है तब उसे ध्यान कहते हैं तथा ध्यान के बाद जब चित्त स्वरूप-शून्यता की स्थिति में पहुँच जाता है, तब उसे समाधि कहते हैं। इसे ही योग कहते हैं।

श्रीमद् भगवद् गीता में इन सांख्य और योग पदों का प्रयोग अनेक बार हुआ है। एक स्थान पर तो वहां यह भी स्वीकार किया गया है कि सांख्य और योग ये दोनों परस्पर अभिन्न हैं। इनमें भेद की कल्पना केवल अज्ञानी जन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही करते हैं। वस्तुतः इनमें से किसी एक को भी व्यवहार के रूप में अपना कर कोई दोनों के फलों को प्राप्त कर सकता है। [५]

भगवद्गीता के उपर्युक्त सन्दर्भ में सांख्य और योग पदों के अर्थ पूर्वनिर्दिष्ट सांख्य और योगदर्शनों में प्रतिपादित तत्त्वज्ञान एवं साधना के मार्ग हैं अथवा उनसे भिन्न कुछ अर्थ-विशेष हैं ? यह प्रश्न ही प्रस्तुत निबन्ध का विचारणीय विषय है। सामान्यतः लोग सहज भाव से सांख्य और योग पदों का उपर्युक्त अर्थ मानकर इन श्लोकों को उद्धृत करते हुए दोनों की एकता प्रतिपादित करते हैं। स्वामी हरिहरानन्दारण्य ने भी योगभाष्य पर टीका (भास्वती टीका) लिखते हुए ऐसा ही किया है; किन्तु यह कितना उचित है, इसका निर्णय विद्वानों को स्वयं विवेक-पूर्वक करना है।

उपर्युक्त प्रश्न पर विचार के प्रसङ्ग में यह एक प्रश्न भी सहज भाव से उठता है कि क्या सांख्य अर्थात् सत्कार्य-वाद परिणाम वाद या प्रकृति पुरुष के भेद को जान लेने पर आसन और प्राणायाम में, धारणा-ध्यान और समाधि में क्या स्वतः सफलता मिल जाएगी ? अथवा योगसाधना अर्थात् आसन, प्राणायाम-प्रत्याहार (इन्द्रिय दमन) तथा धारणा-ध्यान और समाधि इनके अभ्यास से सांख्य का तत्त्वज्ञान, सत्कार्यवाद, परिणामवाद और प्रकृतिपुरुष का भेद बोध हो सकेगा ? योगसिद्धि अर्थात् समाधि-सिद्धि से प्राप्त ऋतम्भरा प्रज्ञा यदि प्रकृति-पुरुष भेद के प्रतिपादक या परिणामवाद और सत्कार्यवाद के प्रतिपादक शास्त्र अर्थात् सांख्यशास्त्र के अध्ययन से भी प्राप्त हो सकती है यह स्वीकार करना चाहें, तो पतञ्जलि का 'ऋतम्भरा प्रज्ञा' का विवरण असत्य होने लगेगा, जहाँ कहा है कि वह प्रज्ञा 'श्रुत प्रज्ञा' अर्थात् किसी शास्त्र के पढ़ने से प्राप्त प्रज्ञा से सर्वथा भिन्न है। [६] अतः यह सोचने को विवश होना पड़ता है कि दर्शन शास्त्र की परम्परा में प्रयुक्त सांख्य और योग पदों का तात्पर्य गीता में प्रयुक्त सांख्य और योग पदों के तात्पर्य से भिन्न होना चाहिए। इस भेद को समझने के लिए हमें भगवद् गीता में ही सांख्य और योग पदों के तात्पर्य के सम्बन्ध में संकेतों की खोज करना उचित होगा।

श्रीमद् भगवद् गीता के द्वितीय अध्याय में अर्जुन के शोक को और युद्ध न करने के पक्ष में उसके तर्क को सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण ने आत्मा की नित्यता और शरीर की अनित्यता के सम्बन्ध विस्तारपूर्वक उपदेश किया है, और कहा है कि इसे न शस्त्र काट सकते हैं, न अग्नि जला सकती है, न जल गीला कर सकता है और वायु उसे सुखा सकती है। यह आत्मा नित्य सर्वव्यापक होकर स्थिर और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

अचल है, इसे काटना, जलाना, गीला करना या सुखाना संभव ही नहीं है।[७] यदि इसे उत्पन्न होने वाला और मरनेवाला भी तुम समझते हो तो जो उत्पन्न हुआ उसका नाश (मृत्यु) निश्चित है, और जो मृत होता है, उसका पुनः जन्म निश्चित है। अतः इस स्थिति में भी शोक करना उचित नहीं है।[८] वस्तुतः सुख और दुःख के प्रति, हानि और लाभ के प्रति, जय और पराजय के प्रति उदासीन रहना चाहिए।[९] इन तथ्यों का प्रतिपादन करने के बाद भगवान् कृष्ण कहते हैं कि यह उपदेश मैंने सांख्य के अनुसार दिया है (एषा तेऽभिहिता सांख्ये... गीता २.३९)

आत्मा की नित्यता और अविकारिता को सांख्य दर्शन में स्वीकार किया है इसमें कोई सन्देह नहीं है, किन्तु साथ ही अविद्या की परिभाषा करते हुए योगदर्शन में भी इस तथ्य की ओर संकेत किया है।[१०] न्याय वैशेषिक या वेदान्त में भी आत्मा की नित्यता ही मानी गयी है, अतः इस तथ्य को अर्थात् आत्मा की नित्यता को सांख्य के वैशिष्ट्य के रूप में नहीं स्वीकार किया जा सकता। यही आत्म को सर्वगत अर्थात् सर्वव्यापक तथा स्थाणु, अचल भी माना है। कपिल प्रवर्तित सांख्य में आत्म सर्वव्यापक नहीं है। जीवात्मा को सर्वव्यापक न्याय वैशेषिक में माना गया है। वेदान्त का ब्रह्म भी सर्वव्यापक हे। अतः आत्मा की सर्व-व्यापकता के पक्ष को कपिल के सांख्य से जोड़ा नहीं जा सकता।

इसी प्रकार 'उत्पन्न पदार्थ अवश्य नष्ट होता है, और मृत का पुनर्जन्म अवश्य होता है' यह तथ्य भी कपिल के सांख्य का नहीं है। वहाँ प्रकृति निवृत्त-प्रसवा होगी तो सदा के लिए होगी अन्यथा होगी ही नहीं। अर्थात् कपिल-सांख्य के अनुसार प्रकृति-पुरुष विवेक होने पर प्रकृति उस पुरुष-विशेष के लिए भोग-साधन निवृत्त कर देती है, अन्यथा प्रकृति का क्रम चलता ही रहता है। हाँ, न्याय दर्शन में अवश्य ही प्रेत्यभाव (मृत्यु) की परिभाषा को पुनरुत्पत्ति के रूप में स्वीकार किया गया है,[११] जिसे 'ध्रुवं जन्म मृतस्यच' के रूप में यहाँ देखा जा सकता है। अतः मरने पर पुनः जन्म अवश्य होता है यह कथन गौतम के न्याय सूत्र के अधिक निकट है, सांख्य दर्शन में तो इसका प्रत्यक्ष-तया कहीं स्वीकार नहीं किया है। यह दूसरी बात है, कि इस तथ्य के समर्थन में प्रयास करने पर कुछ प्रमाण प्राप्त हो जाएँ।

सुख और दुःख, लाभ और हानि तथा जय और पराजय में समभाव रखने की बात प्रत्यक्षतः गीता की अपनी है, यह उपनिषदों का रहस्य है। योग में वैराग्य शब्द के द्वारा इसकी ओर संकेत अवश्य हुआ है। तत्त्वज्ञान के बाद यह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

स्थिति प्राप्त हो सकती है, तथा यह तत्त्वज्ञान किसी भी दर्शन परम्परा से प्राप्त हो, कोई अन्तर नहीं आएगा। इस विश्लेषण के बाद यह कहा जा सकता है कि गीता में सांख्य के नाम से जिन सिद्धान्तों का प्रतिपादन इस प्रकरण में हुआ है, वह कपिल प्रवर्तित सांख्य का साक्षात् प्रतिपाद्य नहीं है।

इसी प्रकरण में योग का जो प्रतिपादन हुआ है, वह भी अष्टांग योग के अन्तर्गत किसी अंग में समाहित नहीं किया जा सकता, न वह चित्तवृत्ति-निरोध रूप ही है। योग-बुद्धि की चर्चा करते हैं प्रतिपक्ष के रूप में जिस वेदवाद की, कामनाओं के साथ कर्म की, स्वर्ग देनेवाले कर्म की, जन्म आदि से युक्त कर्म-फल की चर्चा हुई है।[१२] वह पूर्वमीमांसा का पक्ष है। तथा पूर्वमीमांसा मुख्यतः उत्तर मीमांसा का प्रतिपक्ष स्वीकार किया जाता है। यह तो बात प्रतिपक्ष की हुई। सिद्धान्त पक्ष के रूप में इस प्रकरण में असंग-भाव का, अनासक्ति का, सिद्धि और असिद्धि में समभाव का प्रतिपादन करते हुए कर्म-योग का प्रतिपादन हुआ है। कर्म योग का तात्पर्य है फल की कामना न रखते हुए कर्म प्रवृत्त होना, कर्म फल के प्रति पूर्णतया अनासक्ति।[१३] इसे ही स्पष्ट करते हुए भगवान् कृष्ण ने 'समस्त कामनाओं का त्याग, आत्मतुष्टि, उद्वेग, स्पृहा, राग, द्वेष, भय, क्रोध आदि से पूर्ण विरति, पूर्ण इन्द्रिय संयम एवं प्रभु के प्रति समग्र भाव से समर्पण को आवश्यक स्वीकार किया है।[१४] इस साधना का फल होता है समस्त कामनाओं का उपशम, ममता, अहंकार का पूर्णतः अभाव और पूर्ण शान्ति की उपलब्धि।[१५] वहाँ इसे ब्राह्मी स्थिति भी कहा गया है जिसे प्राप्त करने के अनन्तर ही साधक को निर्वाण की प्राप्ति हो जाती है।[१६]

पतञ्जलि प्रवर्तित योगशास्त्र में अभ्यास के साथ जिस वैराग्य को स्वीकार किया गया है उसकी परिभाषा[१७] के अन्तर्गत यद्यपि समभाव, अनासक्ति का अन्तर्भाव किया जा सकता है, आत्मतुष्टि तथा उद्वेग, स्पृहा, राग, द्वेष भय, क्रोध आदि से पूर्ण विरति को उसके प्रभाव के रूप में सिद्ध भी किया जा सकता है, किन्तु अष्टाङ्ग योग की अन्तरङ्ग साधना–धारणा, ध्यान और समाधि[१८] से भी उसका सम्बन्ध सिद्ध किया जा सके यह यह सम्भव नहीं लगता। इतना ही नहीं, योग-साधना की पूर्णता की स्थिति अर्थात् निर्बीज समाधि की स्थिति में तो किसी प्रकार के कर्म सम्भव ही नहीं हैं, क्योंकि वहाँ तो धारणा, ध्यान और समाधि भी साधना होने के कारण बहिरङ्ग हो जाते हैं। यह भी स्मरणीय है कि वैराग्य की परिभाषा में लौकिक और वैदिक कर्मों के प्रतिपक्ष के रूप में अवश्य स्वीकार किया गया है, किन्तु कर्म के प्रति, उसके फल के प्रति अनासक्ति को वैराग्य के अन्तर्गत समाहित करने का कोई संकेत योग सूत्र के व्याख्याकार व्यास, भोज, वाचस्पति, विज्ञानभिक्षु आदि ने नहीं दिया है। इसके अतिरिक्त चित्त की समस्त

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

वृत्तियों के निरोध की स्थिति में कर्म का हो सकना भी संभव नहीं है। उस स्थिति में गीता के 'योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय' इस वचन की संगति भी हो सकेगी क्या ?

अतः गीता में प्रतिपादित योग को पतञ्जलि के योग से अभिन्न मान सकना सम्भव नहीं है। यहाँ इन दोनों ही पदों का कुछ भिन्न अर्थ होना चाहिए। यह भिन्न अर्थ क्या है इसका उत्तर भी हमें गीता में ही खोजना चाहिए। गीता में सांख्य और योग के उपर्युक्त विवरण के अनन्तर तृतीय अध्याय के प्रथम और द्वितीय श्लोकों के द्वारा अर्जुन ने कुछ पूछना चाहा है, जिसके उत्तर में भगवान् कृष्ण ने स्वीकार किया है कि लोक में दो प्रकार की निष्ठाएँ विदित हैं; एक, ज्ञान-योग की और दूसरी कर्म-योग की। और यहीं उन्होंने ज्ञान-योग की निष्ठा को सांख्य की निष्ठा एवं कर्म-योग की निष्ठा को योग की निष्ठा कहा है।[२१] इसका तात्पर्य यह है कि गीता में सांख्य का तात्पर्य ज्ञान-योग और योग का तात्पर्य कर्म-योग लेना चाहिए। इससे पूर्व द्वितीय अध्याय में भी आत्मा की नित्यता, देह की अनित्यता तथा देह और आत्म (देही) की चर्चा करके ही 'एषा तेऽभिहिता सांख्ये'[२२] इत्यादि कथन किया गया था।

योग-निष्ठा की चर्चा करते हुए भगवान् कृष्ण ने कर्म-योग का विस्तृत विवेचन किया है। तथा इस प्रकरण में उसे स्वीकार भी किया है। कर्म का एक क्षण के लिए भी त्याग संभव नहीं है। कर्म तो विवश होकर भी करके पड़ते हैं। अतः कर्मेन्द्रियों का संयम करते हुए निष्कर्ष होने का प्रयत्न स्पष्ट मिथ्या-चार है।[२३] कर्म-योग तो यह है कि मुक्त-सङ्ग होकर कर्मों को किया जाए।[२४] जो व्यक्ति अनासक्त भाव से कर्मों का सम्पादन करता है, वह परम पद को प्राप्त कर लेता है।[२५] अतः इन्द्रियों को मन के पूर्णतः अधीन रखते हुए अनासक्त भाव से कर्म करना चाहिए। इस योग-साधना को समझाते हुए कृष्णा अर्जुन से कहते हैं कि कामनाएँ रजोगुण का कार्य है, क्रोध भी उसका सहचारी है। इन दोनों के वशीभूत हो कर जब मनुष्य कर्म करता है, तो वह बन्धन में पड़ता है। ये काम और क्रोध ज्ञान को भी ढंक लेते हैं, इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि पर ये आरूढ हो जाते हैं। उस स्थिति में आसक्ति बढ जाती है, और उसके प्रभाव में रहकर कर्म करते हुए मनुष्य बन्धन में पड़ता है। अतः कर्म-योगी को चाहिए कि वह प्रथम इन्द्रिय-निग्रह करे[२६] जिसे पतञ्जलि ने प्रत्याहार के नाम से स्मरण किया है। इसके फल-स्वरूप मन का निग्रह किया जा सकता है, मन के निगृहीत होने पर बुद्धि-प्रसाद होता हैं, अर्थात् बुद्धि निर्मल होकर स्थिर हो जाती हैं। और उस स्थिति में पहुँचने पर साधक की आसक्ति समाप्त हो जाती है। उसे कर्म-योग सिद्ध हो जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

श्रीमदभगवदगीता के अनुसार अनासक्ति पूर्वक किया कर्म ही कर्म-योग है। इसे ही योग भी कहते है। इस तथ्य को पुष्ट करते हुए चतुर्थ अध्याय के प्रारम्भ में भगवान् कृष्ण ने कर्मयोग के इतिहास की ओर इंगित किया है। उनका कहना है कि सृष्टि के आदि में विवस्वान् को इस कर्म योग का उपदेश स्वयं भगवान ने दिया था। विवस्वान् ने अपने पुत्र को उसे सिखाया। तथा मनु से इसे इक्ष्वाकु ने प्राप्त किया था। राजर्षियों में चिरकाल तक यह कर्मयोग (योग) प्रचलित रहा था, किन्तु कालान्तर में वह लुप्त हो गया था, जिसका पुनः उपदेश (इससे तुरन्त पूर्व अर्थात् गीता के तृतीय अध्याय में भगवान कृष्ण ने अर्जुन को दिया है।[२७] इस इतिहास के संकेत में कृष्ण ने योग शब्द का ही प्रयोग किया है, जब कि तृतीय अध्याय के प्रारम्भ में योग और कर्मयोग दोनों शब्दों का प्रयोग हुआ था।[२८] इससे यह स्वीकार करने में आपत्ति न होनी चाहिए कि भगवद्गीता में योग शब्द का प्रयोग कर्मयोग के लिए हुआ है। और कर्मयोग का तात्पर्य है, अनासक्त भाव से सिद्धि और असिद्धि की सफलता और असफलता की ओर ध्यान दिये बिना कर्म को सम्पन्न करना।[२९] इसी का नाम है कर्म में कुशलता और कर्म में कुशलता ही योग है।[३०] असंगभाव को कर्म में कौशल क्यों कहा जाता है? इस प्रश्न के लिए लौकिक उदाहरण को देखना पर्याप्त होगा। हमें कोई वस्तु या जानकारी किसी स्थान विशेष से प्राप्त करनी है। एक व्यक्ति उसके लिए चलता है, किन्तु मार्ग को दुर्गम होने, हिंसक पशु, चोर, डाकू का भय मार्ग में है इसे देखकर वह मार्ग में ही भय-भीत होकर अपने उद्देश्य से विरत हो जाता है और अपनी जान बचाकर घर में बैठ जाता है। दूसरा व्यक्ति उसी कार्य के लिये चलता है, भय की ओर ध्यान दिये बिना अपनी यात्रा सम्पन्न करने का प्रयत्न करता है, किन्तु कार्य सम्पन्न नहीं कर पाता। तीसरा व्यक्ति इसी कार्य में प्रवृत्त होता है, निर्भय होकर आगे बढ़ता है, अभीष्ट वस्तु या सूचना लेकर वह लौटता है, मार्ग में चोर मिलते हैं उनसे बचता है, डाकू या शत्रू मिलते हैं, उनके समक्ष वह दीन, अकिंचन बनकर अथवा प्रमत्त सा व्यवहार कर के उनकी उपेक्षा का पात्र बनता है। वे उसे देख करके भी, मिलकर के भी, उसे कुछ बाधा नहीं डालते। और वह निर्विघ्नभाव से अपने स्थान पर अभीष्ट वस्तु या सूचना के साथ पहुँच जाता है। क्या इस तृतीय प्रकार के व्यक्ति को आप कुशल नहीं कहेंगे? कर्म करने में भी पापपुण्य, सुख और दुःख, स्वर्ग और नरक का भय लगा है। एक व्यक्ति इन द्वन्दों के भय से कर्म में प्रवृत्त ही नहीं हो पाता; जब अनायास ही अथवा विवश भाव से कर्म होते हैं तब व्याकुल और पीड़ित होता है। दूसरा व्यक्ति कर्म करता है, पूर्ण मनोयोग से करता है, किन्तु उनके द्वारा बांध लिया जाता है, सुखदुःख के द्वन्द्वों में

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

C-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

फँसकर निकल नहीं पाता। किन्तु कुशल व्यक्ति अनासक्त होकर असङ्भाव से कर्म करता है, शुभ-अशुभ फलों के प्रति निरन्तर उदासीन रहता है, प्रभु के प्रेम में मत्त रहकर सब कुछ उसे ही समर्पित करता हुआ आगे बढ़ता है, और कर्मों में फँसे बिना अपनी जीवन-यात्रा पूरी कर लेता है। क्या यह कौशल नहीं है ? निश्चय ही यह कौशल है, इसीलिए योग है। इसी कर्म-प्रक्रिया को कर्मयोग कहते हैं।

इस प्रकार कर्म में अनासक्ति की साधना का नाम है योग, एवं आत्मा की नित्यता अविच्छेद्यता, अपरिवर्तनीयता का तथा आत्मा से भिन्न देह आदि सभी जगत् के पदार्थों की अनित्यता, विच्छेद्यता और उनकी नित्यपरिवर्तनशीलता के पूर्ण बोध को श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार सांख्य कहा जाता है। ये दोनों ही मार्ग परस्पर पूर्णतया भिन्न मार्ग हैं। एक मार्ग कर्म का है और दूसरा मार्ग ज्ञान का है।

अब वह मुख्य प्रश्न समाधान के लिए रह जाता है कि सांख्य और योग वस्तुतः एक कैसे हैं ? दोनों में किसी एक पर भी चलने वाला दोनों के द्वारा प्राप्त होने वाले फल को कैसे प्राप्त करता है ?

इसका उत्तर अत्यन्त स्पष्ट और सहज है। कर्मयोग अथवा योग के लिए अनासक्ति भाव की सिद्धि हो जाने पर सफलता और असफलता में समभाव स्वाभाविक रूप से आयेगा, जिसे कि गीता में योग के नाम से, स्थित-प्रज्ञ-भाव के नाम से स्वीकार किया गया है। सांख्य के नाम से गीता में स्वीकृत तत्त्वविवेक, जिसमें आत्मा को नित्य और अविकारी तथा समस्त विश्व-प्रपञ्च और शरीर आदि को अवश्यमेव नष्ट होने वाला कहा गया है, के प्राप्त हो जाने पर, सिद्ध हो जाने पर भी तो समस्त विश्व-प्रपञ्च के प्रति अनासक्ति स्थिर होनी ही है। जिसके मानस में

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः॥ (२.१६)
अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनासिनोऽप्रमेयस्य (तस्माद्युध्यस्व भारत) (२–१९)
न जायतेम्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥ २–२०
वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही॥ (२.२२)
अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एवं च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इत्यादि तत्त्वविवेक सुस्थिर हो चुका है, प्रतिष्ठित हो चुका है, उसमें आसक्ति का कहीं स्थान होना ही नहीं है। आत्म नित्य है, अविकारी है, उसके नाश का, उसमें विकार का प्रश्न है ही नहीं, और शरीर आदि जगत् के पदार्थ अस्थिर, नाशवान् हैं, अतः उनके प्रति मोह कैसा है? स्वयं गीता में भी इस तत्त्वज्ञान का परिणाम समभाव स्वीकार किया है, जिसके फलस्वरूप विवेकी पुरुष सुख और दुःख में समभाव प्राप्त कर लेता है, और जब उसे इस समभाव की सिद्धि होती है तभी उसे अमृततत्त्व भी मिल जाता है (समदुःख सुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते। २.१५)। कहने का तात्पर्य यह है कि सांख्य का तत्त्वज्ञान भी अन्ततः अनासक्ति देता ही है। और इस प्रकार अन्तिम परिणाम सांख्य का और योग का (कर्मयोग या अनासक्ति योग का) एक ही होता है, भिन्न नहीं। इसीलिए भगवान् कृष्ण ने कहा है 'एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।'

इतना अवश्य है कि सांख्य के तत्त्वज्ञान के फलस्वरूप, देह आदि की अनित्यता के ज्ञान के फलस्वरूप, कभी-कभी मानस में तामस वैराग्य अर्थात् निष्कर्मण्यता, कर्म के प्रति उदासीनता उत्पन्न हो जाती है, कर्म से लगाव हट जाता है, जबकि एक क्षण भी कर्म के बिना रह सकना सम्भव नहीं है। फल क्या होता है? उदासीनता से, उपेक्षा भाव से कर्म सम्पन्न होता है, अतः वह कर्म अव्यवस्थित होता है, अनियन्त्रित होता है, बिना ब्रेक की गाड़ी की तरह, अथवा जिसका चालक होश में नहीं है, ऐसी गाड़ी की तरह, अनर्थकारी हो जाता है। जबकि योग में, कर्म योग में, मन और इन्द्रियां अनियन्त्रित नहीं होकर पूर्ण नियन्त्रित रहती हैं, कर्म कुशलता पूर्वक सम्पन्न होते हैं, कर्तव्यभाव से सम्पन्न होते हैं, उदासीन भाव से नहीं।[६२] अनासक्ति यहां कर्म के प्रति नहीं फल के प्रति होती है। सिद्धि और असिद्धि दोनों स्थितियों में समभाव रहता है। यही दोनों में अन्तर है। इसी कारण निष्काम भाव से अनासक्त होकर कर्म करनेवाला व्यक्ति कामनाओं के विलय के कारण, निस्पृह होने के कारण अहन्ता (अहंकार) और ममता से रहित होने कारण परमशान्ति का अधिकारी होता है। इसीलिए भगवान् कृष्ण ने कहा है–

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्तियद्वत्।
तद्वत्कामायं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥
विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति॥ गीता २.७०–७१

इस प्रकार निष्कर्ष के रूप में कहा जा सकता है, कि श्रीमद् भगवद्गीता में सांख्य पद ज्ञानयोग का एवं योग पद कर्मयोग का बोधक है। दोनों साधना के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पृथक पृथक् मार्ग हैं, किन्तु दोनों ही मार्ग अमृतत्व को प्राप्त कराने वाले हैं। किसी भी मार्ग से चलें, पहुँचना वहीं है। लक्ष्य दोनों मार्गों का एक है, फल भी दोनों मार्गों का एक है। अतः ठीक ही कहा है–

सांख्य योगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपि गम्यते।
एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति स पश्यति ॥
गीता ५. ४–५ ॥

अनुसन्धान विभाग — ब्रह्ममित्र अवस्थी
लालबहादुर शास्त्री केन्द्रीय
संस्कृत विद्यापीठ, शहीद जीत सिंह मार्ग
नई दिल्ली– ११० ०१६

टिप्पणियाँ

१. एतत्पवित्रमग्र्यं मुनिरासुखेऽनुकम्पया प्रददौ।
आसुरिरपि पंचशिखाय तेन च बहुआकृतं तन्त्रम् ॥
शिष्यपरम्परयाऽऽगतमीश्वरकृष्णः चैतदार्याभिः।
संक्षिप्तमार्यमतिना सम्यग्विज्ञाय सिद्धान्तम् ॥ सांख्यकारिका ७०–७१

२. दृष्टा ममेत्युपेक्षक एको दृष्टाहमित्युपरमत्यन्या।
सति संयोगेऽपि तयोः प्रयोजनं नास्ति सर्गस्य ॥ सां. का. ६६

३. अभ्यास वैराग्यां तन्निरोधः, ईश्वर प्रणिधानाद्वा, प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य, विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसःस्थिति निबन्धिनी, यथाभिमत ध्यानाद्वा। योगसूत्र, १.१२, २३, ३४, ३५, ३६।

४. यम नियम आसान प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधयोऽष्टावङ्गानि, यो. सू. २.२९।

५. सांख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम् ॥
यत् सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद् योगैरपिगम्यते ॥ भगवद् गीता ५. ४–५

६. श्रुतानुमानप्रज्ञाभ्यामन्यविषया विशेषार्थत्वात्। यो. सू. १.४९

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

७. गीता, २. २३-२४
८. वही, २.२७
९. वही, २.२८
१०. अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या। यो. सू. २.५
११. पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः। न्याय सूत्र, १.१९
१२. गीता, २-४२-४४
१३. वही, २-४७-४८
१४. वही, २-५५-५६, ६१
१५. गीता, २-७०-७१
१६. गीता, २-७२
१७. दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्टाऽस्य वशीकार संज्ञा वैराग्यम्।
योगसूत्र, १.१५
१८. त्रयमन्तरङ्गं पूर्वेभ्यः॥ योग सूत्र, ३.७।
१९. त्रयमन्तरङ्गम्पूर्वेभ्यः, तदपि बहिरङ्गनिर्बीजस्य। योगसूत्र ३.७,८
२०. गीता, २.४८
२१. वही, ३.३
२२ गीता, २.३९
२३. गीता, ३.६
२४. वही, ३.७,९
२५. वही, ३.१९
२६. गीता, ३.३७-४१
२७. गीता, ४ १-३
२८. वही, ३ ३
२९. वही, २.४७-४८
३० वही, २.५०
३१ गीता, ५.४-५
३२. योगः कर्मसु कौशलम्॥

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी) के स्वामित्व एवं अन्य विषयों से सम्बन्धित विवरण

फॉर्म ४ (नियम ८ देखिए)

१. प्रकाशन स्थान	: दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पूना– ४११००७
२. प्रकाशन अवधि	: त्रैमासिक
३. मुद्रक का नाम पता और राष्ट्रीयता	: डॉ. सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे १, मोरेश्वर हाउसिंग सोसायटी, बाणेर रोड, पुणे– ४११००७, भारतीय
४. प्रकाशक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	: डॉ सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे १, मोरेश्वर हाउसिंग सोसायटी, बाणेर रोड, पुणे– ४११००७, भारतीय
५. संपादक का नाम, पता और राष्ट्रीयता	: डॉ सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे १, मोरेश्वर हाउसिंग सोसायटी, बाणेर रोड, पुणे– ४११००७
६. उन व्यक्तियों / संस्थाओं के नाम व पते जो समाचार पत्र के स्वामी हों।	: दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय पुणे– ४११००७, और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अंमलनेर, जि. जलगाँव (महाराष्ट्र)

मैं, सुरेन्द्र शिवदास बारलिंगे, एतद् द्वारा घोषित करता हूँ कि मेरी अधिकतम जानकारी एवं विश्वास के अनुसार उपर्युक्त विवरण सत्य है।

– सुरेन्द्र बारलिंगे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वैदिक और श्रमण परम्पराओं का प्रथम आयाम : प्राणातिपातविरमण—अहिंसा की उपादेयता

उपनिषद्कारों का उद्घोष है—"जीवो जीवस्य जीवनम्" अर्थात् जीव का जीवन ही जीव है। इसी सिद्धान्त की प्रतिध्वनि निम्न श्लोक में आकृत हुई है—

जले जन्तुः स्थले जन्तुराकाशे जन्तुरेव च।
जन्तुमालाकुले लोके कथं भिक्षुरहिंसकः।।

आशय यह कि जल में जीव-जन्तु हैं, स्थल और आकाश में भी जीव-जन्तु हैं। इस प्रकार पूरा का पूरा लोक जन्तुओं से भरा हुआ है तो कोई भी भिक्षु अहिंसक कैसे रह सकता है? अतः कोई भी व्यक्ति पूर्णतया अहिंसा का पालन नहीं कर सकता। आते-जाते, खाते-पीते, श्वास-प्रश्वास लेते हुए व्यक्ति असंख्य जीवाणुओं को अपना आहार बना लेता है। मांसाहारी सभी जीव अपने से निर्बल प्राणियों की टोह में शिकार हेतु डोलते ही रहते हैं। जल में भी बड़ी मछली छोटी मछली को खा जाती है इसी प्रकार नभचारी सबल पक्षीगण छोटे-छोटे पक्षियों को अपनी क्षुधा का ग्रास बनाते हैं। तात्पर्य यह कि सम्पूर्ण लोक में हिंसा का अखण्ड साम्राज्य स्थापित दिखाई देता है। मत्स्यगलन्याय ही इस पाशविक जगत् का सार्वभौम नियम प्रतीत होता है। मानव की स्थिति देवता और पशु के मध्य परिगणित होती है। वह अपनी साधना के बल पर देवत्व को भी पा सकता है तथा स्तर से गिरकर पाशविकता के क्रूर-हिंसक-निर्दय गर्त में निमग्न भी हो सकता है। हिंसा पाशविक वृत्ति है। यह एक दूसरे के सह-अस्तित्व में विश्वास नहीं रखती। अपने को जीवित एवं सुरक्षित बनाये रखने के लिए यह अन्य सभी को लील जाना अभीष्ट-दायक समझती है। संघर्ष, उपद्रव, मारकाट आदि इसके हथियार हैं। सामर्थ्यवान् ही इसमें जीवित बचता है। शेष काल-कवलित हो जाते हैं। तुलसीदास जी भी कह उठते हैं—

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समरथ को नहीं दोष गुसाईं।
रविपावक सुरसरि की नाईं।

अर्थात् समर्थ ही जीयें, सारी सुख-सुविधाओं को भोगें, सभ्य और सुसंस्कृत कहलायें। सभी उनकी अधीनता स्वीकार करें अन्यथा मौत-शोषण-बेगार को गले लगायें। इस पाशविक सभ्यता के बल पर मुट्ठी भर सशक्त धनी, ज्ञानी लोग आज भी ऐश करते दिखाई पड़ते हैं। पर यह व्यवस्था सर्वकल्याणकारी नहीं है। इसलिए विक्षुब्ध, पीडित-पददलित बाध्य होकर विद्रोह का झण्डा उठाते हैं और फिर मानवता रक्त-स्नान, विनाश-ताण्डव एवं युद्ध.विप्लवों की विभीषिका में झुलसने लगते है। सभी ओर मारकाट, हाहाकार मच जाता है। तब इससे त्राण पाने के लिए कोई शलाका पुरुष अवतीर्ण होता है और अहिंसा की साधना का पक्ष प्रशस्त करता है। 'सर्वभूत हिते रतः' का संदेश देता है, परस्पर स्नेह का मार्ग सुझाता है। पुनः सर्व-अभ्युदयी व्यवस्था स्थापित करता है। अहिंसा का दिव्य मार्ग सुझाता है।

अनुभूति की अतल गहराइयों में डूब कर जो दिव्य रत्न उपलब्ध होता है वह है अहिंसा। अहिंसा इसलिए सहज अनुभूति है, साधना है, वाद अथवा सिद्धान्त नहीं। वाद तर्क-जंजाल से आविल हो जाती है। सिद्धान्त शब्द-समुद्र की परिधि में ही गोते खाता रहता है। वैखरी वाणी के नवनीत हैं – वाद और सिद्धान्त। अतः क्रम सोपान के कायल हैं। अनुभूति सहज और पूर्ण होती है। वह पश्यन्ती व मध्यमा के कलुष से अछूत परावाक् रूपी विशुद्ध-निर्मल अनुभूति है। अनुभूति इसीलिए शब्दयात्रा पर निर्भर नहीं होती। अहिंसा वह सहज अनुभूति है जिसे प्रयत्न से लाना नहीं पड़ता, आचरण मे उतारना नहीं पड़ता वरन् जो सहज ही प्रस्फुटित हो जाती है, प्रसारित हो मुकुलित हो जाती है। वैसे ही जैसे किसान गेहूँ, जुआर या चावल बोता है तो उससे भूसा, कड़ब तथा पुआल अपने आप पैदा होते हैं, किसान को उन्हें उत्पन्न करने की जहमत नहीं उठानी पड़ती। यदि किसान भूसा, कड़ब अथवा पुआल बोना शुरु कर दे तो उससे भूसा, कड़ब अथवा पुआल उत्पन्न होना तो दूर, उलटे भूसा आदि सड़ कर खाद ही निर्माण करेंगे, गेहूँ आदि नहीं। इसीलिए लोक मे गेहूँ आदि अन्न कण ही बोये जाते हैं, भूसा आदि नहीं। इसी प्रकार अहिंसा भी सहज अनुभूति है। आचरण में अभ्यास द्वारा उसे अर्जित नहीं किया जा सकता।

यद्यपि अहिंसा की प्रतिष्ठा सभी वैदिक और श्रमण धाराओं में मान्य है तथापि उसके जैसी सूक्ष्म विवेचना जैन श्रमण संस्कृति में पायी जाती है, वह उतनी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यापक अन्य धाराओं में उपलब्ध नहीं है। दशवैकालिक सूत्र का यह डिण्डिम घोष आज भी जैन धर्म और दर्शन में अनुप्राणित है -

सव्वे जीवादि इच्छन्ति, जीवउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणि वहं घोरं, निग्गन्था वज्जयतिण। (६/१२)

अर्थात् सभी प्राणी जीवित रहने की कामना करते हैं, मरना कोई नहीं चाहता। इसीलिए निर्ग्रन्थ (जैन) मत में (सभी प्रकार के) प्राणी-वध को वर्जनीय माना गया है। सूत्रकृतांग में भी अहिंसा का सारतत्त्व समझाते हुए कहा गया है -

एवं खु नाणियों सारं, जं न हिंसई किंचण।
अहिंसा समयं चेव एयावन्हं विवाणिया ।। (१/११/१०)

अर्थात् "ज्ञानी होने का सारतत्त्व ही यह है कि व्यक्ति किसी भी प्राणी की हिंसा न करें। अहिंसा का इतना ही ज्ञान यथेष्ट है। यही अहिंसा विज्ञान का तकाजा है।" अहिंसा की व्याख्या दशवैकालिक सूत्र की गाथा नौ और दस में जितने मार्मिक और गम्भीर रूप से व्यापकता के साथ की गयी है प्रायः उत्तरवर्ती ग्रन्थों की विवेचना इसी की विश्लेषणा प्रतीत होती है। यथा:

तन्मिथं पढमं ठाणं महावीरेण देसियं।
अहिंसा निवडणा दिट्ठा सत्व भूएसु संजमो।। (६/९)

जावन्ति लोए पाणा, तसा अ दुआ थावरा।
ते जाणमजाणं वा न हणे नो वि थायए। (६/१०)

अर्थात् "भगवान् महावीर ने अठारह धर्म स्थानों में सर्व प्रथम स्थान पर अहिंसा को प्रतिष्ठित किया है। अहिंसा समस्त जीवों के प्रति संयम से व्यवहार रखना है। वह सब सुखों की प्रदाता है। संसार में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं उनको जाने या अनजाने में न स्वयं मारना चाहिए और न दूसरों से मरवाना चाहिए। जो मनुष्य स्वयं प्राणियों की हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है एवं हिंसा करने वाले का अनुमोदन करता है वह लोक में अपने लिए वैर की ही वृद्धि करता है।" तात्पर्य यह कि निर्भय और वैरनिवृत्त अहिंसा-साधक को जीवन के प्रति तनिक भी मोह-ममत्व रखने वाले समस्त प्राणियों को सर्वत्र अपनी आत्मा के समान जान कर उनकी कभी हिंसा नहीं करनी चाहिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अहिंसा शब्द निषेधपरक है। जैन पंच महाव्रत अथवा अणुव्रतों में इसका स्थान प्रथमतः आता है। वस्तुतः अहिंसा व्रत के साथ दो और भी व्रत हैं जो निषेधात्मक हैं -- अचौर्य अपरिग्रह। हिंसा जब सर्वरूपेण प्रयाण कर जाती है, तब शेष बचती है केवल अहिंसा। जब कोई व्यक्ति अपना अन्तस् रूपान्तरित कर अपने अन्दर विद्यमान हिंसा के प्रति पूर्ण जागरूक हो जाता है, हिंसा के बाहरी और आन्तरिक कलेवर को साक्षात् कर उसे देखने में पूर्ण समर्थ हो जाता है, उसे पूरा-पूरा पहचान लेता है, उसके अणु-परमाणुओं की सूक्ष्म पकड़ का अवगम कर लेता है, खाते-पीते, उठते-बैठते, आते-जाते विभिन्न मुद्राओं में जो हिंसा पनपती है उसका पूरा-पूरा साक्षी बन जाता है, विवेकरूपी प्रखर भास्कर-प्रकाश से उर्जस्वित एवं प्रकाशित हो उठता है तब व्यक्ति सहज यह अनुभूत करने लगता है कि विवेक-ज्योति जहाँ-जहाँ जाग्रत हो रही है वहाँ-वहाँ हिंसा बिदा हो रही है तमाच्छिन्न कालिमा दूर हो रही है। वहाँ हिंसा क्षीण हो कर क्षरित हो जाती है, समाप्त हो जाती है। इसे न तो बलपूर्वक दबाना पड़ता है न अभ्यासजनित प्रयोगों द्वारा उसके परित्याग को साधना पड़ता है। चेतना में ज्योंहि अहिंसा-अनुभूति का प्रभात रवि मंजुल प्रकाश विकीर्ण करता है त्योंहि हिंसा के ओसकण बिदा होकर काफूर होने लगते हैं। अंशुमालि की रश्मियों का ताप सहने की कुबत जैसे नन्हें-नन्हें मुक्ता ओसकणों में नहीं रहती, वे उसके उदित होते ही स्वयं ही बिदा हो जाते हैं, किसी के बिदा करने का इन्तजार नहीं करते। यही दशा चेतना में अहिंसा की जाग्रत अनुभूति की भी है। इसके होते भला हिंसा की क्या मजाल, जो पल भी ठहर जाये। इसीलिए भगवान् महावीर अहिंसा की नकारात्मक, व्याख्या करने में ही कृत-कृत्य हैं, यद्यपि बुद्ध भगवान् ने इसी की सकारात्मक व्याख्या को धारणा-दया आदि कहा है। जीजस-क्राइस्ट ने इस वृत्ति का नाम प्रेम, रखा है। किन्तु महावीर अहिंसा का निषेध-परक प्रयोग ही करते हैं। वे हर क्षण इस बात के लिए सजग और सतर्क हैं कि कहीं हिंसा न हो जाय। अतः वे सर्वत्र आचरण में सहज ही कह सकने में समर्थ हैं कि हिंसा नहीं है। कहीं नहीं!! कहीं भी नहीं!!! वे उच्चकोटि के साधक, परमयोगी, तत्त्ववेत्ता एवं उग्र तपस्वी थे। अपनी साधना से उपलब्ध हुई अनुभूतियों की यथार्थता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए किसी प्रकार के समझोते के पक्षपती नहीं थे। यही कारण है कि मध्यमा प्रतिपद् के आराधक भगवान् बुद्ध करुणा से विगलित होने के कारण मांस-भिक्षा की भी कहीं-कहीं अनुमति दे बैठते है, परन्तु हिंसा के प्रति पूर्ण जागरूक भगवान् महावीर को यह कभी भी मंजूर नहीं हुआ। सद्यः मृत प्राणी का भी भक्षण परिस्थिति विशेष में बुद्ध के लिए भक्ष्य बन सकता है, किन्तु भगवान् महावीर के लिए नहीं। उनकी अमृतमय मधुर वाणी निर्धारित हो पड़ती है कि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सभी लोग सद्यःमृत पशु कहाँ से पायेंगे तथा इस बात की क्या प्रत्याभूति है कि लोग निरीह पशु की हत्या कर उन्हें सद्यः मृत घोषित नहीं करेंगे ? अतः प्राणी हिंसा किसी भी दशा में क्षम्य नहीं है तथा आचरण में अहिंसा को उतारने वाला हिंसा-कार्य में निमग्न नहीं हो पाता।

यद्यपि अहिंसा की व्युत्पत्ति निषेधपरक है किन्तु प्रत्येक निषेध विधि के बिना अस्तित्वविहीन रहता है। इसी प्रकार हर विधान के गर्भ में भी निषेध गर्भित रहता है। बाद के अनुवादियों ने भगवान् की सहजता को विधि-मुखी बना कर दया आदि को अहिंसा का पर्याय घोषित किया है। भगवान् की सर्वग्राही अहिंसा जहाँ-जहाँ व्याप्त हो जाती है वहाँ-वहाँ ये हिंसा अपने आप विदा हो जाती है और सर्व-मैत्री, विश्वबन्धुत्व-भाव सहज ही स्थापित हो जाता है। विधि परक विश्लेषण से उसकी प्रतिष्ठा नहीं करनी पड़ती। प्राणी मात्र को पीड़ा किंचित् भी न पहुँच जाये इस बात के लिए पूर्ण जागरूक विवेक साधक अपने आप सभी प्राणियों का हितचिन्तक बन जाता है। महात्मा गांधी के निम्नलिखित विचार भी इसी बात की पुष्टि करते है –

पूर्ण अहिंसा समस्त जीव-धारियों के प्रति दुर्भावना का सम्पूर्ण अभाव है, इसीलिए वह मानवेतर प्राणियों, यहाँ तक कि विषधर कीड़ों और हिंसक जानवरों का भी आलिंगन करती है।"

–गांधीवाणी पृ ३७.

वस्तुतः सम्पूर्ण राग-द्वेष, संशय–अविश्वास, संघर्ष–विरोध, घृणा क्रूरता शोषण-दमन, आदि सभी दुष्प्रवृत्तियों का रामबाण इलाज अहिंसक आचरण ही है। अहिंसा की विधानपरक व्याख्या में इसलिए जैनाचार्यों ने सर्वभूत दया, समता समाचार, सम्माचार, सामाचार, समानता, संयम आदि पदों को प्रयुक्त किया है। मूलाचार गाथा १२३ में इनकी स्पष्ट अभिव्यक्ति हुई है –

समदा समाचारो सम्माचारो समो वा आचारो।
सव्वेसिं हि सभाण सामाचारो दु आचारो।।

आत्मा की अकूत गहराइयों में अहिंसा–संगीत जब स्पन्दित हो निनादित होता है तब व्यष्टि-समष्टि का भेद मिट जाता है, व्यक्ति समाज को अपना ही समझ कर उसकी दुःख-तकलीफों को अपनी मानकर उसके निवारण हेतु प्रयास करता है, तब प्राणी-मात्र को सुखी देखने की प्रेमानुभूति का उदय होता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

यही अहिंसा की सच्ची साधना है। इसलिए अहिंसा को जैनमत में परमधर्म कहा गया है।

अहिंसा ठीक-ठीक रूप से समझने के लिए हिंसा क्या है और कितने प्रकार की है, यह जान लेना आवश्यक है। हिंसा के स्वरूप और भेद को अवगम कर लेने के पश्चात् वह कैसे होती है इसे भी जाना जा सकता है। जैन मत में साधारणतया हिंसा को दो भागों में बाँटा गया है --द्रव्य-हिंसा और भाव-हिंसा। किसी भी जीव को मारने या सताने अथवा सतर्क-हीनता का भाव न होने पर भी जीव का घात हो जाता है तब वह द्रव्य-हिंसा कहलाती है। जब किसी को मारने, सताने अथवा असावधानी का भाव होने से घात होता है तब उसे भाव-हिंसा कहते हैं। वस्तुतः भाव-हिंसा ही हिंसा कहलाती है। द्रव्य-हिंसा तभी कही जाता है जब वह भाव-हिंसा से सम्बद्ध हो। अन्यथा भाव अथवा संकल्प न होने पर कभी अनायास जो द्रव्य-हिंसा हो जाती है उसके लिए कर्ता दोषी नहीं माना जाता। कर्ता इरादतन या संकल्प करके जो प्राणों का घात करता है उसे ही हिंसा कहा जाता है।

आचार्य उमास्वामी ने व्रतों में प्रधान होने के कारण अहिंसा को प्रथम स्थान दिया है। हिंसा, झूठ, चोरी, मैथुन एवं परिग्रह आदि पाँच दुष्प्रवृत्तियों (पाप) से विरक्त रहना व्रत है। तात्पर्य यह कि अभिप्रायपूर्वक किये गये नियम अथवा कर्तव्य और अकर्तव्य के संकल्प को व्रत कहते हैं। जैन मत में अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एवं अपरिग्रह महाव्रत तथा अणुव्रत दोनों कहलाते हैं। हिंसा आदि पाँच पापों से सर्वथा विरत रहना महाव्रत तथा यथाशक्ति उनसे दूर रहना अणुव्रत। जैन समाज-व्यवस्था के अन्तर्गत धर्म को चतुर्आयामी माना गया है --भिक्षु, भिक्षुणी, श्रावक एवं श्राविका। भिक्षु तथा भिक्षुणियों के लिए निरपवाद होकर उक्त मतों का पालन करना अनिवार्य है, जबकि गृहस्थ श्रावक और श्राविकाओं के लिए यथा सामर्थ्य उनके पालन का विधान किया गया है। वीतरागी मुनिगण तथा साधना-रत साध्वियों के लिए भाव तथा द्रव्य हिंसा दोनों से विरत रहना अपरिहार्य है, किन्तु संकल्पी हिंसा का परित्याग करना ही गृहस्थों के लिए आवश्यक ठहराया गया है।

उपर्युक्त दृष्टिकोण से ही हिंसा को शायद कहीं-कहीं साध्वापेक्ष तथा गृहस्थापेक्ष भेदों में भी परिगणित किया गया है। साधु और गृहस्थ का पद, स्थान, उत्तरदायित्व आदि की दृष्टि से व्रतों का पालन जुदा-जुदा है। साधु के लिए मन, वचन और काया तथा कृत, कारित तथा अनुमोदित हिंसा का सर्वथा त्याग करना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आवश्यक है। किन्तु गृहस्थी की गाड़ी को सुचारु रूप से चलाने के लिए हिंसा को चार भागों में बाँटा गया है--संकल्पी, उद्योगी, आरम्भी एवं विरोधी। निरपराध-निरीह प्राणियों का जानबूझ कर वध करना संकल्पी हिंसा है जैसे, कसाई बूचड़खाने में पशुवध करता है। हलाल और झटके द्वारा पशुओं का प्राण हरण करना इसी कोटि में आते हैं। गृहस्थ के लिए इसीलिए, जैनमत में, पशु-मांस का क्रय-विक्रय, वध आदि कार्यों का निषेध, जीवनयापन के लिए भी निषिद्ध किया गया है। जीविका-उपार्जन उदरपूर्ति हेतु करना आवश्यक है। इसलिए मानव कृषि, उद्योग, व्यवसाय, धन्धों में प्रवृत्त होता है। जीवन-निर्वाह हेतु उद्योग संचालन में जो हिंसा होती है उसे उद्योगी हिंसा कहते हैं। सावधानी बरतते हुए भी भोजन आदि तैयार करने में जो हिंसा हो जाती है उसे आरंभी हिंसा कहते हैं। अपनी, अपने राष्ट्र अथवा अन्य लोगों की रक्षा के लिए जो हिंसा करना पड़ती है उसे विरोधी हिंसा कहते है।

जैन धर्म में जीवों का विश्लेषण बड़े ही वैज्ञानिक और व्यापक ढंग से किया गया है। जीव दो प्रकारों में परिगणित किये गये हैं--स्थावर और त्रस। इस मत में स्थावर जीवों में पृथ्वीकायिक, जलकायिक, अग्निकायिक, वायुकायिक एवं वनस्पति जीवों की गणना की गयी है। एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने की क्षमता न होने के कारण इन्हें स्थावर जीव की संज्ञा दी गयी है। जैन साधक इसीलिए यथाशक्ति आवश्यकता न पड़ने पर न तो पृथ्वी खोदता है, न जल को अनावश्यक बहाता है, न आग जलाता है और न वायु डुलाता है। वनस्पति-जीवों की सुरक्षा के हेतु वृक्षों को न काटता है, ना तृण आदि पौधों को रोंधता है। सूक्ष्म कीट-पतंगों से लेकर पशु-पक्षी और मनुष्य तक के जीव त्रस कहे जाते हैं। त्रस जीवों की संकल्पी हिंसा से गृहस्थ को बचना चाहिए। मनोविनोद, जीभ के स्वाद, प्रभुता-भय-प्रलोभन अथवा दबाव में आकर एवं देवताओं की प्रसन्नता के हेतु निरीह पशु-पक्षियों को बली चढ़ाने का जैन मत में सर्वत्र निषेध किया गया है। मानव शरीर की संरचना प्रकृति ने इस प्रकार की है कि वह मांसाहारी न बने।

मनुस्मृती में भी कहा गया है –

नाकृत्वा प्राणिनां हिंसां मांसमुत्पद्यते क्वचित्।
न च प्राणिवधः स्वर्ग्यस्तस्मान्मांसं विवर्जयेत्॥ (५/४८)

अर्थात् प्राणियों की हिंसा किए विना मांस त्याज्य है। अन्यत्र भी मनुस्मृति में बड़े स्पष्ट शब्दों में प्राणिवध और हिंसा के सभी प्रकारों की भर्त्सना की गयी है। यथा –

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

योऽहिंसकानि भूतानि हिनस्त्यात्मसुखेच्छया ।
स जीवंश्च मृतश्चैव न क्वचित् सुखमेधते ।। (५-४५)

अनुमन्ता विशसिता निहन्ता क्रयविक्रयी ।
संस्कर्ता चोपहर्ता च खादकश्चेति घातकः ।। (५-५१)

आशय यह कि जो अहिंसक (निर्दोष) प्राणियों का वध अपने मजे (सुख) को कामना से करता है, उसको जीते-जी और मरने के बाद भी कहीं सुख नहीं मिलता। अतः अनुमति देनेवाले, काटनेवाले, खरीदनेवाले, बेचनेवाले, पकानेवाले परोसने वाले तथा खानेवाले ये आठों हत्यारे कहलाते हैं। महाभारतकार का भी उद्घोष है : परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्। अष्टादश पुराणों का सार महर्षि व्यास के इन दो वचनों में संगृहीत है :– परोपकार करना पुण्य तथा पराये प्राणी को पीड़ा पहुँचाना ही पाप है। चाणक्यनीतिसार (८/२१) में भी मांस भक्षण करनेवाले, शराब पीनेवाले, मूर्ख और निरक्षर लोगों को मनुष्य रूप में पशु बताया गया है जिनके भार से पृथिवी आक्रान्त है। वेदों की ही प्रतिध्वनि इन ग्रन्थों में दिखाई पड़ती है जहाँ प्राणीवध करने वालों के लिए सर कुचलने का प्रावधान दण्डविधान में किया गया है। जैसे,

यः पौरुषेयेण क्रविणा समक्ते, यो अश्वेन पशुना यातुधानः ।
यो अघ्न्याया भरति क्षीरमग्ने, तेषां शीर्षाणि हरसापि वृश्च ।।
ऋग्वेद १०/८७/१६

यथा मांसं यथा सुरा ययाक्षा परिदेवने ।
यथा पूंसो वृषण्यतेस्त्रियनि हन्यते मनः ।। –अथर्ववेद

अर्थात् (राक्षस वृत्ति अपनाने वाले) जो मनुष्य घोड़े और गाय का मांस खाता हो और दूध को चोरी करता हो उसके सिर को कुचल देना चाहिये। इसी प्रकार मांसाहारी, शराब पीने वाला और व्यभिचारी ये तीनों एक जैसे दोषी होने के कारण मार डालने योग्य हैं।

प्राणियों को पीड़ा और अवसाद से घिरा होने के कारण करुणा में विगलित होनेवाली बौद्ध श्रमण परम्परा में भी अहिंसा को पंच शीलों में प्रथम स्थान दिया गया है। धम्मपद का निम्नश्लोक अहिंसा पालन करने वाले को ही आर्य यानी श्रेष्ठ कहता है –

न तेज अरियो होति येन पाणानि हिंसति ।
अहिंसा सब्ब पाणानां अरियोति पवुच्चति ।।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अर्थात्, वे जन कदापि आर्य नहीं कहला सकते जो प्राणियों की हिंसा में निमग्न रहते हैं। सभी प्राणियों के प्रति अहिंसा की भावना रखने वाले मनुष्यगण उच्च, श्रेष्ठ (आर्य) पद को प्राप्त हो सकते हैं।

तृतीय विश्व-युद्ध की आशंका और भय से त्रस्त आज के मानव को अहिंसा का दिव्य संदेश ही बचा सकता है। वैदिक और श्रमण परम्पराओं के अनुसार विश्व के मानव शतांश में भी अहिंसा का पालन कर अपने चरित्र और आचरण में हिंसा के प्रति संयमपूर्वक जाग्रत हो जायें तो घातक हथियारों के जखीरे अपने आप समाप्त हो जायेंगे। विश्व के विकसित राष्ट्र यदि हथियारों की अंधी दौड़ से अपने आपको विरत कर लें और उनमें लगनेवाली अपरिमित धनराशि को मानव कल्याण में न्यस्त कर दें तो विश्व का बहु-संख्यक मानव-समुदाय क्षुधा, वस्त्र, औषधि, आवास आदि से पीड़ित-शोषित न हो। अहिंसा का दिव्य संदेश ही यह कार्य सम्पन्न कर सकता है। अतः अहिंसा को आचरण में उतारना आज की अनिवार्य आवश्यकता है।

दर्शन विभाग
सागर विश्वविद्यालय
सागर-४७०००३ (म प्र.)

-ब्रजनारायण शर्मा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतिक्रिया

परामर्श (हिन्दी) के जून, १९८५ के अंक में प्रकाशित डॉ रामजी सिंह का लेख "समकालीन भारतीय दर्शन की दिशा' देखने को मिला। समकालीन भारतीय दर्शन की भावी दिशा के निर्धारण के क्रम में डॉ. सिंह ने कुछ ऐसे प्रश्नों को हमारे समक्ष उपस्थित किया है जिन पर गंभीर चिन्तन की आवश्यकता है। वर्तमान दार्शनिक-चिन्तक की अतीतोन्मुखता के प्रति डॉ. सिंह अपना विरोध प्रकट करते हैं। (१५) अतीत के प्रति अंध-भक्ति घातक है। यह एक बिलक की तरह है जो हमारे मन में दृढ़रूप से अपना स्थान ग्रहण कर लेता है। ऐसी स्थिति में बिलक से प्रभावित धारणा के प्रतिकूल हमारे समक्ष चाहे जितने प्रभावशाली उदाहरण और तर्क प्रस्तुत किए जाएं हम प्रभावित नहीं होते। हमारे सोचने की दिशा एक संकीर्ण मानसिकता से प्रभावित होती है। इस संकीर्णता से परे हट कर किसी सत्य की स्वीकृति हम नहीं दे पाते। अतीत के प्रति अंध-भक्ति से प्रभावित जो भी जीवन-दृष्टि होगी उसमें वर्तमान-युगीन समस्याओं से विमुखता स्पष्ट से उभरती है। प्रश्न यह है कि क्या सचमुच समकालीन भारतीय दर्शन की दिशा अतीतोन्मुख है? मेरा उत्तर निषेधात्मक होगा। सच तो यह है कि हमने अतीत को लगभग भुला दिया है। वर्तमान युग में मानवीय मूल्यों में जो ह्रास दृष्टिगत हो रहा है वह अतीत की उपेक्षा का ही उदाहरण है। पाश्चात्य संस्कृति के आक्रमण ने हमारी संस्कृति को लगभग निरस्त कर दिया है। आज पाश्चात्य संस्कृति पर आधृत जीवन शैली का अंधानुकरण हमारे लिए गरिमा का विषय समझा जाता है। हम एक ऐसी जीवन-शैली को अंगीकार कर रहे हैं जिसकी उपादेयता भारतीय सामाजिक परिप्रेक्ष्य में संदेहास्पद है। पाश्चात्य संस्कृति एक मशीनी संस्कृति है। इस मशीनी संस्कृति के प्रभाव में ही मानव और मानवीय मूल्यों की सर्वथा उपेक्षा की जाती रही। भारतीय संस्कृति जीवन में आध्यात्मिक दृष्टिकोण को अपनाने का अनुदेश देती है। इस दृष्टिकोण ने हमारे जीवन और मूल्य-बोध को सदैव प्रधानता दी है। परन्तु पाश्चात्य संस्कृति

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के दिग्भ्रमित सम्मोहन में हमने भौतिकवादी जीवन-दृष्टि को स्वीकार कर मूल्य-बोध से अपने को बिल्कुल पृथक् कर लिया है। 'अर्थ' को वैयक्तिक जीवन की समृद्धि का मानक मानते हुए हम ने अपनी क्रियाशीलता को अर्थ और उससे संबद्ध उपलब्धियों तक ही सीमित रखा है। पिछले कुछ दशकों से हम मानव के नैतिक एवं आध्यात्मिक मूल्यों में जो अवमूल्यन देख रहें है उसके मूल में पाश्चात्य संस्कृति का अंधानुकरण ही है।

वास्तव में डॉ. सिंह जिस दार्शनिक सृजनात्मकता की बात करते हैं उसे अतीत के प्रभाव से मुक्त नहीं माना जा सकता है (पृ. २१५)। कोई भी विचार अपने पूर्वगामी विचारधाराओं से प्रभावित होता है। यह प्रभाव भावात्मक और निषेधात्मक दोनों तरह का हो सकता है। अतीत के विचारों की भावात्मकता तब दृष्टिगत होती है जब नूतन परिवेश में भी अतीत के कुछ मूल्यों की शाश्वतता का समर्थन डॉ सिंह भी करते हैं। (पृ. २१८) इसे एक उदाहरण से स्पष्ट करना चाहूँगा। कर्म-सिद्धांन्त भारतीय संस्कृति का शाश्वत मूल्य है। कर्म-सिद्धान्त यह ढेर देशना देता है कि कर्म के अनुरूप भावी-जीवन में फल की प्राप्ति होती है। यह हमें निरन्तर सत्कर्मों और नैतिक कर्मों के सम्पादन एवं कर्तव्यपरायणता की ओर अनुदेशित करता है। इसी प्रकार अतीत के विचारों की निषेधात्मकता का तात्पर्य उन मूल्यों के निराकरण से है जो नूतन परिवेश में अपनी अर्थवत्ता खो बैठते हैं। उदाहरण के रूप में अतीत में प्रचलित कुछ रूढिगत मान्यताओं, अन्ध विश्वासों और प्रथाओं की चर्चा की जा सकती है। सती प्रथा भारतीय समाज में बहुत दिनों तक प्रचलित रही। लेकिन, जैसे जैसे हमने इस प्रथा की कुरीतियों को समझा, हमने कालान्तर में इसे अपने जीवन से बिल्कुल ही हटा दिया। आज सती प्रथा को सामाजिक मान्यता प्रदान नहीं की जा रही है। इसमें प्रसिद्ध समाज सुधारक डॉ. राजाराम मोहन राय के योगदान को भुलाया नहीं जा सकता। इस प्रकार, हम देखते हैं कि अतीत के विचारों का स्वीकरण और अस्वीकरण दोनों ही प्रक्रियायें समान रूप से कार्यरत रही हैं। ऐसी स्थिति में डॉ. सिंह का समकालीन भारतीय दार्शनिक चिन्तन पर अतीत के प्रति अंध-भक्ति का आरोप निराधार लगता है।

भारत में दर्शन और धर्म में अन्तर नहीं किया जाता। दर्शन और धर्म के बीच इस अभेदमूलक संबंध को डॉ. सिंह दार्शनिक प्रगति में बाधक मानते हैं। डॉ. सिंह के लिए जीवन में प्रगति है जहाँ नवीन समस्याएँ सदा ही उठती रहती हैं। (पृ. २१६)। नवीनता को प्रगति की संज्ञा देना सर्वथा अनुचित है। नवीनता की शरण हम परिवर्तन के लिए तो लेते हैं; परन्तु अवमूल्यन भी एक अर्थ में नवीनता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

का ही द्योतक है। प्रगति का अभिप्रेत अर्थ उद्देश्यपूर्ण परिवर्तन से है। प्रगति अतीत के विचारों का परिमार्जित रूप है। प्रगति लक्षित दिशा की ओर सोद्देश्य कल्पना है। कल्पना अपने विचारों का जीवन में सुनियोजित प्रयोग है।

प्रगति को भौतिकवादी और नैतिकवादी दोनों ही दृष्टियों से देखा जा सकता है। विज्ञान से प्रभावित सभ्यता ने तकनीकी और आलोचनात्मक संकाय में विकास को भौतिक प्रगति माना है। यदि इस विश्व में हम अधिकतम सुख, आनन्द, धन और भौतिक सुविधा इत्यादि प्राप्त करने में सफल होते हैं तो यह भौतिक प्रगति का सूचक होगा। नैतिक प्रगति से हमारा तात्पर्य मनुष्य के अन्दर आध्यात्मिक आत्मा के प्रकाशन और आध्यात्मिकता की ओर निर्देशित विचार और क्रिया से है। यदि मनुष्य अपने अन्दर दुःखी के लिए सहानुभूति, मानव के लिए प्रेम, निष्कलंक चरित्र और मानववादी दृष्टिकोण जैसे सूक्ष्म सद्गुणों को विकसित करता है तो इसे उसकी नैतिक प्रगति माना जाएगा। नैतिक प्रगति के माध्यम से मनुष्य नैतिक शक्ति का उपयोग करता है, न कि शारीरिक शक्ति का। गांधी जी ने हिंसा जैसे शारीरिक शक्ति का त्याग कर अहिंसा जैसे नैतिक शक्ति का प्रभावशाली प्रयोग किया, जिसने हमें स्वतंत्रता की लड़ाई में निरन्तर प्रेरित किया। डॉ. सिंह दार्शनिक चिन्तन की दिशा-निरूपण में सफल नहीं हो पाये। यही कारण है कि उनके विचारों में एक ओर आध्यात्मिकता की स्वीकृति है तो दूसरी ओर भौतिकवाद के प्रति आत्म-समर्पण। अगर सच पूछा जाए तो दर्शन और धर्म में अभेद भारतीय दर्शन के लिए वरदान ही सिद्ध हुआ है। क्या डॉ. सिंह मेरे इस प्रश्न का उत्तर देने का कष्ट करेंगे कि पश्चिम में दर्शन और धर्म के बीच अन्तर की स्वीकृति ने दार्शनिक चिन्तन की दिशा को किस ओर अग्रसर किया है? यदि डॉ. सिंह के पूरे लेख की ओर ध्यान दिया जाए तो ऐसा लगता है कि आध्यात्मिकता और भौतिकता जैसे दो विरोधी सिद्धांतों के बीच संगतपूर्ण समन्वय स्थापन का इन्होंने प्रयास अवश्य किया है। परन्तु आशातीत सफलता इन्हें नहीं मिल पायी। इसका कारण है उनका भौतिकवाद की ओर झुकाव। इसी के कारण उन्होंने पाश्चात्य संस्कृति में मान्य कुछ धाराओं को समकालीन भारतीय दर्शन पर आरोपित करने की चेष्टा की है। दर्शन और धर्म के बीच अन्तर की मौन स्वीकृति और इसे भारतीय प्रसंग में आरोपण की सक्रिय चेष्टा इसका एक स्पष्ट उदाहरण है। डॉ. सिंह का मंतव्य और स्पष्ट हो जाता है जब उनके द्वारा मार्क्स् और विट्गेन्स्टाइन की स्तुति को ध्यान में रखते हैं। (पृ. २१६)। भौतिकवाद की ओर इनका झुकाव स्पष्ट है।

डॉ. सिंह ने समकालीन भारतीय दर्शन की दिशा वर्तमान-युगीन सामाजिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समस्याओं के आलोक में ही निर्धारित करने की चेष्टा की है (पृ. २१८)। जब तक दर्शन मानव के समक्ष उपस्थित सामाजिक समस्याओं के प्रति अनुक्रियाशील नहीं होगा, वह अपने अभूत स्वरूप को नहीं छोड़ पाता। वर्तमान युगीन परिप्रेक्ष्य में दार्शनिक चिन्तन की अमूर्तता अपनी अर्थवत्ता खो बैठा है। दर्शन को मानव के सामाजिक समस्याओं से जूझना ही होगा ताकि कोई संतोषप्रद समाहार की प्राप्ति हो। आज जरूरत इस बात की है कि हम दर्शन को सत्य के कठोर धरा-तल पर अवतरित करें। दर्शन को मानव के वर्तमान परिवेश एवं उसकी समस्याओं के प्रति संवेदनशील होना पड़ेगा।

उपर्युक्त चर्चा के आलोक में इस प्रश्न पर विचार करना अप्रसंगिक नहीं होगा कि क्या समकालीन भारतीय दार्शनिक चिन्तन मानव के तद्युगीन समस्याओं से विमुख रहा है? मानवीय समस्याओं के प्रति निरन्तर आग्रह भारतीय दार्शनिक चिन्तन की विशिष्टता रही है। डॉ. सिंह ने इस तथ्य को अस्वीकार करते हुए आधुनिक भारतीय दर्शन को जीवन की समस्याओं के प्रति बिल्कुल उदासीन माना है। (पृ. २१९) दुःख एवं शोक को इन्होंने मूलभूत मानवीय समस्या के रूप में उपस्थित किया है। इस प्रसंग में समकालीन भारतीय चिन्तकों के द्वारा व्यक्त विचारों को प्रस्तुत कर अपने मत की पुष्टि करना चाहूँगा। विवेकानन्द ने मानवीय प्रतिमानों की सापेक्षता का समर्थन किया है। निरपेक्षता का पूर्ण निषेध करते हुए उन्होंने यह उद्‌गार व्यक्त किया है कि अपने प्रतिमानों को निरपेक्ष मानने के कारण ही दूसरों के दृष्टिकोणों की हम उपेक्षा करते हैं। परस्पर वाद-विवाद और झगड़े के मूल में शांति-स्थापन एवं स्नेह-स्थापन के लिए यह अनिवार्य प्रतीत होता है। उदाहरणार्थ, पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित होकर हमने व्यावहारिकता को एक अर्थ में स्वीकृत किया है, परन्तु भारतीय प्रसंग में इसका दूसरा ही अर्थ लिया जाता है। इसलिए व्यावहारिकता के अर्थ-निरूपण में दोनों ही अवस्थाएँ सही हैं। लेकिन इनका दूसरे पर आरोपित करना सर्वथा अनुचित होगा।

डॉ. सिंह ने दुःख और शोक को मूल मानवीय समस्या के रूप में प्रस्तुत किया है। वास्तव में, डॉ. सिंह के लेख में जो विसंगतियाँ है उसके मूल में लौकिक एवं पारलौकिक समस्याओं की चर्चा के बीच अंतर को न समझना है। इसलिए लौकिक समस्याओं का समाधान पारलौकिक में खोजना गलत होगा। समकालीन भारतीय दर्शन में जिन लौकिक समस्याओं की चर्चा है उसके क्षेत्र में विस्तारण की आवश्यकता महसूस की जा रही है। धर्म एवं इसकी महत्ता मानवीय धर्म और इसके समसामयिक औचित्य इत्यादि जैसे विषयों पर भी पर्याप्त चिन्तन की अनिवार्यता है। यदि दर्शन को हम व्यावहारिकता प्रदान करना चाहते हैं तो उसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लौकिक समस्याओं के समाहार के प्रति अति सजग होना पड़ेगा। लौकिकता पर बल देने का अर्थ पारलौकिकता का निषेध नहीं होना चाहिए। वास्तव में लौकिकता एवं पारलौकिकता मानवीय व्यक्तित्व के ससीम एवं असीम पक्ष का सूचक है। लौकिकता एवं पारलौकिकता के बीच उपयुक्त संतुलन जब तक नहीं होता दर्शन की विचारधारा इन दोनों अति दृष्टिकोणों के बीच झूलती रहेगी।

निष्कर्षतः, हम यह कह सकते हैं कि आज हमें वही मानदंड मान्य होगा जो मानव को वर्तमान नैतिक एवं आध्यात्मिक संकट से उभार कर सुख एवं समृद्धि की ओर अग्रसर करे। आत्म-विश्वास की कमी हमारे पास नहीं। जरूरत सिर्फ आत्म-विश्लेषण की है। हमें यह समझना होगा कि वर्तमान युगीन परिप्रेक्ष्य में मानव जिन समस्याओं से जूझ रहा है उनसे निवृत्ति के लिए अतीत के मूल्यों के पुनर्मूल्यांकन की अति आवश्यकता है। नूतन परिवेश में अपने सांस्कृतिक गौरव को हमें पाश्चात्य संस्कृति के दिग्भ्रमित प्रभाव से बचाना होगा। अब यह हम पर निर्भर है कि अपने दार्शनिक चिन्तन की धारा को हम किस ओर प्रवाहित करना चाहते हैं। मानव के समक्ष विकल्प हैं और इनमें से किसी एक का चयन कर हमें दार्शनिक चिन्तन की दिशा को निश्चित मार्ग देना होगा।

दर्शन विभाग
एस्. यू. कॉलेज
हिलसा-८०१३०२
नालन्दा (बिहार)

—विजयकुमार सिन्हा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रन्थ–समीक्षाएँ

– १ –

जैन, (डॉ.) कमलेश कुमार; जैनाचार्यों का अलंकारशास्त्र में योगदान; पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध–संस्थान वाराणसी, १९८४; मूल्य– ५० रुपये।

डॉ. कमलेशकुमार जैन की प्रस्तुत कृति अपने ढंग का प्रथम शोध–ग्रंथ है। विद्वान् लेखक ने प्रस्तुत ग्रन्थ में जैन आलंकारिकों की अलंकारशास्त्रविषयक मान्यताओं का आलोचनात्मक एवं तुलनात्मक विवेचन करने का प्रशंसनीय प्रयत्न किया है। जैनाचार्यों ने एक ओर अलंकारशास्त्रविषयक मौलिक ग्रन्थों का निर्माण किया है तो दूसरी ओर दण्डी, रूद्रट, मम्मट आदि प्रमुख आलंकारिकों के ग्रन्थों पर टीकाएँ भी लिखी हैं। इसी प्रकार भरत, भामह, अभिनवगुप्त आदि आचार्यों के मतों का उल्लेख करते हुए उनका खण्डन-मण्डन भी किया है। लेखक के मतानुसार आचार्य हेमचन्द्र का काव्यानुशासन तो विभिन्न अलंकारशास्त्रियों के विचारों का आकार–ग्रन्थ ही है। इसी प्रकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र का नाट्यदर्पण नाट्यतत्त्वों का प्रतिपादक अनुपम ग्रन्थ है।

प्रस्तुत शोध–ग्रन्थ के प्रारम्भ में जैन आलंकारिकों का ऐतिहासिक क्रम से परिचय दिया गया है एवं उनके अलंकारशास्त्रविषयक ग्रन्थों की विशेषताएँ बतलाई गई हैं। उन अलंकारग्रन्थों का भी परिचय दिया गया है जो आजतक अनुपलब्ध हैं, अथवा यत्र-तत्र विभिन्न ग्रन्थ-भंडारों में बिखरे पड़े हैं। टीकाग्रंथों की बहुलता के कारण उनका भी सामान्य परिचय दे दिया गया गया है। आगे के अध्यायों में कवि और काव्य के स्वरूप पर पर्याप्त ऊहापोह करते हुए रस का

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

विशेष विवेचन किया गया है, एवं दोषों और गुणों के स्वरूप पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। पंचम अध्याय में जैन दृष्टि से अलंकार का विवेचन है, जो तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक दोनों दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। अन्त के दो प्रकरणों में ध्वनि एवं नाट्य जैसे महत्त्वपूर्ण विषयों का समावेश करके लेखक ने अपनी कृति का महत्त्व और बढ़ा दिया है। अन्त में व्यवस्थित एवं त्रुटिरहित सहायक ग्रन्थसूची व शब्दानुक्रमणिका देने से ग्रन्थ विशेष उपयोगी हो गया है।

ईसा की प्रथम शताब्दी के जैनाचार्य आर्यरक्षित, जो कि अनुयोगद्वारसूत्र के रचयिता हैं, से प्रारंभ कर ईसा की अठारहवीं शती के समयमाणिक्य पर्यन्त जैन परम्परा में अलंकारशास्त्र का जो स्वरूप निर्मित हुआ एवं जिस प्रकार का उसका विकास सामने आया उसका विस्तृत विवेचन एवं आलोचना प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय है। लेखक की तुलनात्मक, आलोचनात्मक एवं विवेचनात्मक दृष्टि के कारण ग्रन्थप्रणयन विद्वद्वर्ग के लिए निश्चित रूप से उपयोगी बन पड़ा है। छपाई, सफाई एवं शुद्धि की दृष्टि से भी कृति पर्याप्ततः निर्दोष है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

— २ —

जैन, (डॉ.) लालचन्द; जैन दर्शन में आत्म-विचार; पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान, वाराणसी; १९८४; मूल्य- ५० रुपये।

आत्मचिन्तन भारतीय दर्शनों का सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण दृष्टिबिन्दु है। ब्राह्मण तथा श्रमण दोनों परम्पराओं के दार्शनिक चिन्तकों ने आत्मा के स्वरूप का गंभीर विश्लेषण एवं विवेचन किया है। एतद्विषयक भारतीय साहित्य प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। जैन दार्शनिक साहित्य का विपुल अंश आत्म विचार से सम्बद्ध है। डॉ. लालचन्द जैन ने प्रस्तुत ग्रन्थ में इसी विषय का विस्तार एवं गहराई से अध्ययन करने का प्रयास किया है।

ग्रन्थ का प्रथम अध्याय भारतीय दर्शनों में आत्मतत्त्व की भूमिका पर प्रकाश डालता है। इसमें जैनसम्मत आत्मतत्त्व की अन्य भारतीय दर्शनों की अवधारणाओं के साथ विस्तार से तुलना की गई है एवं जैन मान्यता के वैशिष्ट्य का प्रमाणपुरस्सर प्रतिपादन किया गया है। आत्मा के अस्तित्व के विमर्श में अनात्मवाद, शरीरात्मवाद, इन्द्रियात्मवाद, मानसात्मवाद, प्राणात्मवाद आदि विविध विपक्षाभिमत वादों का निरसन करते हुए आत्मा के स्वतन्त्र अस्तित्व की स्थापना का प्रयत्न किया गया है। आत्मस्वरूपविमर्शविषयक द्वितीय प्रकरण में जैनाभिमत आत्मा का स्वरूप स्पष्टतः एवं सविस्तर विवेचित हुआ है। इसमें तुलनात्मक तथा विश्लेषणात्मक दोनों प्रकार की विवेचन-पद्धतियों का उपयोग किया गया है। यह प्रकरण पूरे प्रबन्ध का हार्द है। तीसरा अध्याय आत्मा और कर्म के सम्बन्ध का दिग्दर्शन कराता है। संसारी आत्मा और कर्म का अविच्छेद्य संबंध है। कर्मबन्ध और कर्मफल का जितनी सूक्ष्मता एवं सुनियोजितता से विवेचन एवं विश्लेषण जैन कर्मशास्त्रियों ने किया है उतना अन्य किसी भी परम्परा के विचारकों ने नहीं किया। इस दृष्टि से आत्मा और कर्मविपाक अर्थात् कर्मफल से सम्बन्धित इस अध्याय का विशेष महत्त्व है। कर्म से फलित बन्ध और उसके अत्यन्ताभावरूप मोक्ष की मीमांसा अन्तिम अध्याय में की गई है।

प्रबन्ध परिश्रमपूर्वक तैयार किया गया है जिसमें अनेक महत्त्वपूर्ण संस्कृत एवं प्राकृत ग्रंथों का आधार लिया गया है। विद्वान् लेखक ने विवेचन एवं विश्लेषण को प्रामाणिक एवं सर्वांगपूर्ण बनाने में बहुत कुछ सफलता प्राप्त की है। अन्त में सन्दर्भ-ग्रन्थसूची में कुछ त्रुटियाँ रह गई हैं जिन्हें सुधारना आवश्यक है। उदाहरणार्थ आप्तमीमांसा के स्थान पर आप्तममांसा (पृ. ३०२), डाक्ट्रिन आफ द जैन्स के स्थान पर डाक्ट्रिन आफ द जैनिज्म (पृ ३०६), मिलिन्दपञ्हो के स्थान पर मलिन्दपन्हो (पृ. ३१३) आदि मुद्रित हुए हैं। सबसे अन्त में पदानुक्रमणिका का होना आवश्यक था जिसका ग्रन्थ में अभाव है। प्रारंभ में लेखक का प्राक्कथन या प्रस्तावना भी नहीं है जिससे ग्रन्थ की योजना का पता नहीं लगता।

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ७, अंक २, मार्च, १९८६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

— ३ —

साध्वी सुदर्शना श्री; आनन्दघन का रहस्यवाद; पार्श्वनाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान, वाराणसी; मूल्य- ४० रुपये।

आजकल अध्यात्मवाद के स्थान पर रहस्यवाद शब्द का प्रयोग अधिक प्रचलित होता हुआ दिखाई देता है। भारतीय रहस्यवादी अध्यात्मवादी के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं। आनन्दघन इसी प्रकार के एक आध्यात्मिक कवि हैं। प्रस्तुत प्रबन्ध में उन्हें सत्रहवीं शती के एक रहस्यवादी साधक कवि के रूप में चित्रित किया गया है। वे अध्यात्म के आलोक, समदर्शी, निःस्पृह साधक, निजानन्द में मग्न योगी, श्रेष्ठ दार्शनिक, वाक्सिद्ध पुरुष थे।

लेखिका ने प्रथम अध्याय में रहस्यवाद का सामान्य परिचय देते हुए ग्रन्थ की भूमिका तैयार की है। इसके बाद आनन्दघन के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डाला है। इसमें उनकी काव्यकृतियों का सामान्य परिचय दिया गया है। तृतीय अध्याय में आनन्दघन की विवेचन-पद्धति का विश्लेषण किया गया है। आगे के तीन प्रकरणों में आनन्दघन के रहस्यवाद के दार्शनिक आधार को प्रस्तुत करते हुए उनके साधनात्मक रहस्यवाद तथा भावात्मक रहस्यवाद का विवेचन किया गया है।

यह ग्रन्थ जिस रूप में हमारे सामने उपस्थित है उसमें दो प्रकार की त्रुटियां दृष्टिगोचर हैं : सामग्रीसम्बन्धी और सम्पादनसम्बन्धी। कहीं-कहीं भावाभिव्यक्ति इतने उत्साह में हुई है कि अर्थ का विपर्यय हो गया है। कहीं-कहीं क्रम में परिवर्तन हो गया है। शब्दों का निरर्थक प्रयोग भी यत्र-तत्र दृष्टिगोचर होता है। इसी प्रकार की सामग्रीसम्बन्धी अन्य त्रुटियां भी दिखाई देती हैं। प्रकृतिबन्ध की चर्चा के प्रसंग में अष्टकर्म की गणना मूल सूत्र के क्रम से नहीं हुई है (पृ. २२७)। आनन्द की विवेचना में आध्यात्मिक आनन्द नित्य, शाश्वत और ध्रुव कहा गया है (पृ. २४०)। यहां नित्य, शाश्वत और ध्रुव की एक ही अर्थ में निरर्थक पुनरावृत्ति की गई है। एक ही शब्द से अर्थ का बोध हो जाता है। अन्य दो शब्द व्यर्थ हैं। एक स्थान पर महानिशीथ सूत्र की एक गाथा उद्धृत की है (पृ. २५२) किन्तु सहायक ग्रन्थसूची में इस सूत्र का नामोल्लेख तक नहीं है। सम्यग्ज्ञान के विवेचन में सम्यग्ज्ञान और सम्यग्दर्शन को अन्योन्याश्रित बतलाया है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

(पृ. २५६) जो दोषपूर्ण है। सम्यग्ज्ञान सम्यग्दर्शनाश्रित है, सम्यग्दर्शन सम्यग्ज्ञानाश्रित नहीं। ज्ञान का सम्यक्त्व दर्शन के सम्यक्त्व पर निर्भर है, दर्शन का सम्यक्त्व ज्ञान के सम्यक्त्व पर निर्भर नहीं है। सामग्रीसम्बन्धी त्रुटियों के ये कुछ उदाहरण हैं।

सम्पादनसम्बन्धी दोषों की तो भरमार है। संस्कृत-प्राकृत के उद्धरण बहुत कम स्थानों पर यथावस्थित रूप में हैं। कहीं पर अनावश्यक रूप से शब्दों को काट दिया गया है, कहीं पर उन्हें निरर्थक जोड़ दिया गया है, कहीं पर विभक्तियाँ गायब हैं, तो कहीं पर शब्द ही अशुद्ध हैं। सहायक ग्रन्थसूची तो इतनी अशुद्ध एवं अपूर्ण है कि सम्पादकीय प्रमाद को उजागर कर देती है। कहीं-कहीं तो ग्रन्थों के नाम लिखकर यों ही छोड़ दिये गये हैं। इन सब त्रुटियों अथवा दोषों को देखकर ऐसी प्रतीति होती है कि ग्रन्थ का सम्पादन नाम का हुआ है, वास्तविक नहीं। ग्रन्थ के प्रारंभ में न लेखिका का प्राक्कथन है, न अन्त में पदानुक्रमणिका।

दर्शन विभाग — मोहनलाल मेहता
पूना विश्वविद्यालय, पुणे– ७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आजीवन सदस्य (संस्थाएँ)

११. प्राचार्य,
स्पायसर मेमोरियल कॉलेज
पुणे– ४११००७

१२. मन्त्री,
महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा
पुणे– ४११०३०

१३. पुस्तकालयाध्यक्ष,
ज्ञानदीप विद्यापीठ ग्रन्थालय
पुणे– ४११०१४

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

८५. डॉ. रामभाऊ राठोड
दर्शन विभाग
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे– ४११००७

८६. सुश्री ऋतंभरा वत्स
द्वारा, श्री. एम्. सी. शर्मा
७२६/२, हनुमानपुरी
रामलीला रोड
मुझफ्फरनगर– २५१००२
(उ. प्र.)

८७. डॉ. अशोक कामत
प्रोफेसर, नामदेव अध्यासन
पुणे विश्वविद्यालय,
पुणे– ४११००७

८८. डॉ. विमलेन्दु नारायण सिन्हा
ब्लॉक Q, Flat No. 133
Vikas Puri,
Police Lines Rd.
Gaya– 823001 (Bihar)

८९. डॉ. इन्द्रदेव नारायण सिन्हा
LF–1, १०/५९, राजेन्द्र नगर
पटना– ८००००६ (बिहार)

९०. डॉ. सचीन्द्र कुमार सिंह
13, Teachers' Hostel I
बिहार विश्वविद्यालय परिसर
मुझफ्फरपुर (बिहार)

९१. श्री परमेश्वर दयाल
द्वारा, प्रपन्न मंगलम् प्रन्यास
१६, पश्चिमी नवाब गंज
मुझफ्फरनगर– २५१००२
(उ. प्र.)

९२. डॉ. रेवती रमण पाण्डेय
५, नन्द नगर
आई. टी. आई. रोड
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी– २२१००५
(उ. प्र.)

९३. श्री. धर्मसिंग पाटील
दर्शन विभाग
प्रताप महाविद्यालय
अमलनेर, जि. जलगाँव

९४. श्रीमती कमलकुमारी
द्वारा, डॉ. सञ्जीवन प्रसाद
सौगतपार
करुणाबाग, सोहसराय
जि. नालन्दा (बिहार)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यतः ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अतः विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११ ०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883 / 79

नरेश प्रसाद तिवारी	चार्वाक दर्शन में विवाह की अवधारणा	१०९
प्रेम मिश्र	राधाकृष्णन् : कुछ विसंगतियाँ	१२६
हरिशंकर प्रसाद	बौद्ध दर्शन में कारणता	१३६
रेवती रमण पाण्डेय	समग्र पूर्णता	१५०
राजकुमारी जैन	सामन्य-विशेषात्मक अर्थ-ज्ञान का विषय	१५५
राजमल बोरा	देवताओं के नाम : कुछ पहलू	१६४
प्रेमलता शर्मा	सांख्य दर्शन में अविवेक की अवधारणा	१७३
ब्रह्ममित्र अवस्थी	श्रीमद् भगवद्गीता में सांख्य-योग-पदार्थ	१८१
ब्रजनारायण शर्मा	वैदिक और श्रमण परम्पराओं का प्रथम आयाम : प्राणातिपातविरमण-अहिंसा की उपादेयता	१९३
	प्रतिक्रिया	२०२
	ग्रंथ-समीक्षाएँ	२०७

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding: MKS-MoE-Grant-2

परामर्श

(हिन्दी)

खण्ड ७ अंक ३

जून, १९८६ / वैशाख-ज्येष्ठ, २०४२

संपादक

[illegible] बारलिंगे राजेन्द्र प्रसाद आनन्दप्रकाश दीक्षित

पुणे विश्वविद्यालय प्रकाशन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

※ पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग एवं प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र, अमलनेर के संयुक्त तत्त्वावधान में प्रकाशित चिन्तनपरक त्रैमासिक पत्रिका
※ नूतनमालिका (भूतपूर्व 'तत्त्वज्ञान-मंदिर' हिन्दी)

संपादक : सुरेन्द्र बारलिंगे ※ राजेन्द्र प्रसाद ※ आनन्दप्रकाश दीक्षित

सलाहकार संपादक मंडल :

धर्मेंद्र गोयल ※ रमाकान्त सिनारी ※ विजयकुमार भारद्वाज ※ शारदा जैन संगमलाल पांडे ※ आर्. बालसुब्रमणियन् ※ अशोक रा. केळकर ※ के. जे. शहा ※ नारायणशास्त्री द्राविड ※ के. सच्चिदानंद मूर्ति ※ जी. सी. नायक ※ ग. ना. जोशी ※ मोहनलाल मेहता ※ जे. फाईस ※ सुमन गुप्ता ※ रा. स्व. भटनागर

कार्यकारी संपादक : मो. प्र. मराठे ※ चन्द्रकान्त बांदिवडेकर ※ सु. ए. भेलके

प्रकाशनार्थ लेख-सामग्री एवं अन्य प्रकार के पत्र-व्यवहार के लिए संपर्क करें : कार्यकारी संपादक, परामर्श (हिंदी) : दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, गणेशखिंड, पुणे ४११ ००७ (महाराष्ट्र)

सदस्यता शुल्क नकद या चेक द्वारा इस पते पर भेजा जाए :
संपादक, परामर्श (हिंदी), दर्शन विभाग, पुणे विश्वविद्यालय, पुणे-४११००७
अंक न मिलने की सूचना अंक के प्रकाशित होने पर, एक महीने भर के भीतर कार्यालय में मिल जाए तो अंक बचे होने पर पुनः भेज दिया जाएगा।

वार्षिक सदस्यता शुल्क

(१)	संस्थाओं के लिए	रु. २०-००
(२)	व्यक्तियों के लिए	रु. १४-००
(३)	छात्रों के लिए	रु. १०-००
	एक प्रति	रु. ०५-००

आजीवन सदस्यता शुल्क : संस्थाओं के लिए रु. १०००-००
व्यक्तियों के लिए रु. २००-००

※ राशि चेक से भेजनी हो तो पांच रुपये अधिक जोड़ दें।
आजीवन सदस्यता शुल्क एक रकम में या दो समान किश्तों में दिया जा सकता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

साहित्य-रचना और समाज

प्रत्येक साहित्यिक कृति किसी कर्ता की होती है और प्रत्येक रचना अपनी एक अलग पहिचान रखते हुए भी अपने रचनाकार के सम्बन्ध से पहचानी जाती है। इसीलिए साहित्य में व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति की बात कही जाती है। और बहुत बार साहित्य को समझने के लिए साहित्यकार के व्यक्तित्व का विश्लेषण भी किया जाता है; लेकिन ऐसा कोई भी विश्लेषण तब तक संगत नहीं हो सकता जब तक रचनाकार के व्यक्तित्व के गठन में समाज की भूमिका का आकलन नहीं कर लिया जाता।

कई बार साहित्यकार के युग के अध्ययन को अपना विषय बनाकर भी अध्येता रचनाकार के समय के इतिहास से संबंधित स्थूल तथ्यों का विवरण देकर ही संतोष कर लेता है तो कई बार वह रचनाकार द्वारा गृहीत परम्पराओं पर इतना जोर देता है मानों साहित्य-कर्म की सार्थकता परम्पराओं को ढ़ोने में ही निहित हो अथवा किसी युग का साहित्य या साहित्य की कोई धारा परम्परा-विकास से ही धन्य होती हो। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने भक्तिकालीन साहित्य को युगीन तथ्यों से निर्धारित कर जितना एकांगी कार्य किया उससे कम एकांगी कार्य आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने युगीन तथ्यों की भूमिका को परम्परा की चेतना से दबाकर नहीं किया। यद्यपि आचार्य शुक्ल ने उन परम्पराओं की भी एकदम अवहेलना नहीं की है जिन पर अत्यधिक बल देकर आचार्य द्विवेदी ने यह दिखलाया है कि आदिकालीन और मध्यकालीन साहित्य पुरानी परम्पराओं से ही जुड़ा था; फिर भी शुक्लजी ने पुरानी परम्पराओं का उल्लेख इतने फुटकल रूप में किया है कि साहित्य के विकास में युग और परम्पराओं की अन्तःक्रिया का कहीं पता नहीं चलता। यदि शुक्लजी और द्विवेदीजी दोनों की अध्ययन-दृष्टियों को समन्वित कर मध्यकालीन हिन्दी साहित्य को परम्परा और युग की अंतःक्रिया के प्रकाश में समझने का प्रयत्न किया जाए तो भी साहित्य-रचना के सामाजिक संदर्भ को समझने का हमारा प्रयत्न अधूरा ही रहेगा।

साहित्य में समाज की अभिव्यक्ति हर हालत में संश्लिष्ट रूप में होती है। यह संश्लिष्टता कुछ इस तरह की होती है कि बहुत बार रचना में जो बात

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यक्तिगत दिखलाई देती है वह मूलतः सामाजिक होती है और जो बात स्पष्टतः सामाजिक प्रतीत होती है उसमें रचनाकार के व्यक्तित्व की विलक्षणता निहित रहती है। तुलसीदास ने अपने विषय में जो थोड़ी-सी बातें स्फुट रूप में कहीं हैं, वे व्यक्तिगत होते हुए भी मूलतः सामाजिक हैं। 'मातु-पिता जग जाय तज्यो बिधि हू न लिखी कछु भाल भलाई' और 'बारें ते ललात बिललात द्वार-द्वार दीन.....जानत हो चार फल चार ही चनक को' जैसी व्यक्तिपरक उक्तियाँ उन सामाजिक स्थितियों की देन हैं जिनमें जन्म लेकर तुलसीदास ने होश सँभाला था। यदि मूल नक्षत्र में जन्म होने के कारण तुलसीदास को उनके माँ-बाप ने त्यागा था तो यह उक्ति एक अंधविश्वासग्रस्त समाज की जड़ता को आलोकित करती है; यदि गरीबी के कारण माँ-बाप संतान का बोझ नहीं उठा पाए तो यह स्थिति उस समय की जनता की आर्थिक दुरवस्था की ओर हमारा ध्यान ले जाती है। दूसरी ओर हिन्दी भक्ति-काव्य बहुत पहले से प्रवाहित भक्तिगीतों की परम्परा के साथ अपभ्रंश के चरित काव्यों की परम्परा में विकसित होते हुए भी तत्कालीन मुस्लिम शासन की प्रतिक्रिया के रूप में रामराज्य के स्वप्न और जीवन के प्रति एक नया उत्साह लेकर आया था, लेकिन सभी कवियों में मात्रा और स्वरूप दोनों प्रकार से उसकी अभिव्यक्ति अलग-अलग हुई है। इसलिए साहित्य-रचना के सामाजिक आधार के विषय में सीधे-सपाट ढंग से बात नहीं की जा सकती।

किसी भी रचनाकार की लेखनी से ढलने वाले शब्द सीधे एक व्यक्ति की देन होते हैं, एक व्यक्ति-मानस को व्यक्त करते हैं। उनमें उस रचनाकार का व्यक्तित्व झलकता है जिसकी लेखनी से वे कागज पर उतरते हैं या जिसके मुख से निकलकर वे श्रोताओं के कानों में पड़ते हैं। लेकिन जिस व्यक्ति का मानस उन शब्दों में व्यक्त होता है, उसे अपना व्यक्तित्व ही समाज से मिलता है। समाज से व्यक्तित्व मिलने का अर्थ यह नहीं है कि समाज के पास व्यक्तित्व तैयार रहते हैं और व्यक्ति उनमें से किसी एक को चुन लेता है।

चयन का अवसर किसी व्यक्ति को नहीं मिलता। अन्य लोगों की तरह साहित्यकार को भी अपने माता-पिता चुनने का सुयोग नहीं मिलता। जिन माता-पिता के संयोग से वह गर्भ में आता है उनसे वह ऐसे पैत्रिक गुणों का दाय ग्रहण करने को विवश होता है जिनका उसकी इच्छा-अनिच्छा से कोई सम्बन्ध नहीं होता। माता-पिता के रक्त के साथ ही एक समाज भी उसकी शिराओं में जाने-अनजाने प्रवाहित होने लगता है, क्योंकि उसने अपने माँ-बाप से से जो कुछ अपने जन्म-संयोग से पाया है उसमें जितना-कुछ व्यक्तिगत है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उतना ही समाज से निर्धारित अंश भी है। इस प्रकार वह अपने जन्म से ही कुछ ऐसे संस्कार लेकर आता है जो उस समाज की देन होते हैं, जिसके ग्रहण में उसकी अपनी मर्जी का कोई हाथ नहीं रहता।

व्यक्ति की इच्छा माँ-बाप के चुनाव में ही नहीं, उस परिवेश के चुनाव में भी नहीं चलती जिसमें माता-पिता से प्राप्त बीज विकसित होते हैं। वह जब और जहाँ जन्म लेता है, जिस स्थान पर जिस समय में जीने का अवसर पाता है, उसका निर्णय व्यक्ति नहीं करता। किन स्त्री-पुरुषों के सहवास से किस युग और किस देश में उत्पन्न होकर वह व्यक्तित्व ग्रहण करे, यह बात उसके हाथ में नहीं होती। माँ के गर्भ में आने के साथ ही और ऐसे कितने ही संयोग उपस्थित हो जाते हैं जो व्यक्ति की अपनी इच्छा के बिना उसे एक समाज देता है।

स्पष्ट है कि इस स्तर पर व्यक्ति को– चाहे वह साहित्यकार हो या कुछ और– समाज 'दिया हुआ' होता है। इस 'दिये हुए' समाज में उसके आनुवंशिक गुण प्रतिफलित होते हैं, लेकिन इस अर्थ में जिसे समाज कहते हैं, वह वास्तव में एक ऐसा परिवेश होता है जिसमें व्यक्ति अनेक स्तरों पर जीता है और जिसकी भूमिका उसके व्यक्तित्व-निर्माण में कई तरह की होती है। चूँकि साहित्य-रचना भी व्यक्ति का आचरण ही है, इसलिए उसमें भी समाज का योगदान अनेक स्तरों पर और अनेक प्रकार का होता है।

जन्म के साथ ही व्यक्ति को एक परिवार मिलता है। यही पहली सामाजिक संस्था है जहाँ व्यक्ति अपने से भिन्न लोगों के साथ संबंध और व्यवस्था का अनुभव करता है। स्वतंत्रता और उस पर अंकुश का अनुभव पहले– पहल परिवार में ही होता है। प्रिय और शुभ के द्वन्द्व का अनुभव भी सबसे पहले वहीं होता है। प्रेम और घृणा का मिश्रण तथा राग-द्वेष के सम्बन्ध भी परिवार से ही शुरू होते हैं। जीवन-मूल्यों, रुचियों, अभिवृत्तियों और व्यवहार-पद्धतियों का निर्माण भी प्रधानतः परिवार में होता है। भाषा भी व्यक्ति को प्रथमतः परिवार से मिलती है। परिणामतः जो व्यक्ति आगे चलकर साहित्य-रचना करता है उसके व्यक्तित्व में रुचि, कौशल और भाषिक चेतना की भूमिका परिवार ही बाँध देता है।

शिक्षा-दीक्षा का संबंध भी थोड़े-बहुत अंशों में परिवार से है। अन्य लोगों की तुलना में साहित्यकार के संबंध में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है। साहित्यकार अपने परिवार से जितना प्रभावित होता है उतना ही अपनी शिक्षा-दीक्षा से भी। यों तो यह निर्णय परिवार ही करता है कि बालक को कैसी शिक्षा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दी जाए, लेकिन शिक्षा के मामले में कई बार बाहर के प्रभाव अधिक प्रबल सिद्ध होते हैं। यदि किसी साहित्यकार के परिवारिक वातावरण और शिक्षा में अनुकूलता रहती है तो एक खास दिशा में उसके झुकाव को बल मिलता है। जयशंकर 'प्रसाद' और प्रेमचंद का जन्म लगभग एक ही समय पास-पास के स्थानों पर हुआ था, किन्तु उनके परिवार भिन्न-भिन्न प्रकार के थे। जयशंकर 'प्रसाद' एक सम्पन्न, व्यवस्था-प्रिय और परम्परा-प्रेमी परिवार में उत्पन्न हुए थे तो प्रेमचंद निर्धन, अव्यवस्थित, और नए प्रभावों के लिए ग्रहणशील परिवार में। जयशंकर 'प्रसाद' की शिक्षा में संस्कृत की प्रधानता थी, यद्यपि अंग्रेजी का योग भी उसमें था; जबकि प्रेमचंद की शिक्षा नए अंग्रेज़ी ढ़ंग की थी। इसका परिणाम यह हुआ कि 'प्रसाद' के साहित्य में आभिजात्य, पुरातन के प्रति ललक और व्यक्तिमूलकता है जबकि प्रेमचंद के साहित्य में समकालीनता, समष्टिपरकता और जनसामान्य के प्रति एक सफान है। यही बात दोनों की सर्जनात्मक भाषा में भी देखी जा सकती है। 'प्रसाद' की भाषा में संस्कृत की तत्सम शब्दावली के आतंक के साथ संवृत वाक्य-रचना की प्रधानता है, तो प्रेमचंद की भाषा में बोल-चाल की शब्दावली और खुली हुई वाक्य-रचना है। सबसे रोचक बात यह है कि राष्ट्रीय भावना की अभिव्यक्ति भी दोनों के उनके अपने-अपने परिवारलब्ध संस्कारों से प्रभावित है। राष्ट्रीय भावना दोनों के साहित्य में है : एक की रचनाओं में वह राष्ट्र के अतीत की गौरवपूर्ण अनुभूति के रूप में है, तो दूसरे की रचनाओं में राष्ट्र और समाज की वर्तमान समस्याओं का सामना करने के रूप में।

'प्रसाद' और प्रेमचंद के साहित्य में पारिवारिक पृष्ठभूमि की भिन्नता से उत्पन्न अन्तर को वर्गगत अन्तर भी कहा जा सकता है। यह कहने में किसी को शायद ही कोई कठिनाई होगी कि जयशंकर 'प्रसाद' बुर्जुआ लेखक थे जबकि प्रेमचंद निम्नमध्यमवर्ग से आए थे। गजानन माधव मुक्तिबोध ने लेखक के वर्गीय आधार को बहुत महत्त्वपूर्ण मानते हुए यह बतलाया है कि केवल एक व्यक्ति के कृतित्व में ही नहीं, बल्कि पूरे के पूरे युग के साहित्य में उस वर्ग की मनोवृत्ति की निर्णायक भूमिका रहती है जिसके हाथ में उस युग का सर्जनात्मक नेतृत्व होता है। कई बार एक ही युग की विभिन्न साहित्यिक धाराओं में जब अलग-अलग वर्ग के रचनाकार सक्रिय होते हैं तो एक ही बड़ी धारा की उपधाराओं में बहुत फासला दिखलाई देने लगता है। उदाहरण के लिए, भक्तिकाव्य की निर्गुणधारा में दिखलाई देनेवाली अनघड़ता के विपरीत सगुण भक्तिकाव्य की सुघड़ता के मूल में यह अंतर बतलाया जा सकता है कि निर्गुणोपासक कवियों में से अधिकांश

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निम्न वर्ग के थे, जबकि सगुण भक्त कवि प्रायः अभिजात वर्ग के थे। लेकिन इस प्रकार का विभाजन बहुत संगत नहीं जान पड़ता। पांडित्य और शास्त्रज्ञता के नाते तुलसीदास अभिजात मान लिए जा सकते हैं, किन्तु सूरदास इस श्रेणी में नहीं रखे जा सकते। यह सही है कि कबीर के काव्य में आभिजात्य-विरोध की एक परम्परा जीवित है, जबकि तुलसीदास के काव्य में शास्त्रज्ञ पंडितों की परम्परा साँस ले रही है। इसलिए यह मानना होगा कि वर्गीय आधार के साथ उस परम्परा के योग को भी देखना होगा जिसे रचनाकार ने आगे बढ़ाया है।

लेकिन इतना भी पर्याप्त नहीं है। जैसा कि रेनेवेलेक और ऑस्टिन वॉरेन ने बतलाया है, रचनाकार बहुत बार अपनी वर्गीय रुचि से निर्दिष्ट न होकर अपने आश्रयदाता की रुचि को तुष्ट करनेवाली रचनाएँ करने लगते हैं। स्वयं रचनाकार निम्न या मध्यवर्ग का होकर भी ऐसी रचनाएँ करता है जो उच्च वर्ग को तुष्ट कर सकें। इसके विपरीत सम्पन्न वर्ग के रचनाकार सैद्धान्तिक दृष्टि से मार्क्स में विश्वास करने के कारण बड़े जोर-शोर से निम्नवर्ग की ओर से बोलते सुने जा सकते हैं। साहित्य के वर्गीय आधार की धारणा का खंडन इस तथ्य से भी होता है कि अनेक बार भद्र वर्ग की नफासत ऐसे कवियों की रचनाओं में प्रचुर मात्रा में मिलती है जो स्वयं भद्र वर्ग के न होकर मध्यमवर्ग के होते हैं। उदाहरण के लिए शमशेर का नाम लिया जा सकता है। 'बाम, बाम, बाम दिशा, समय साम्यवादी' जैसी कविताएँ रचने के बावजूद शमशेर की सर्जनात्मक अभिरुचि इतनी नफीस है कि उनकी रचनाओं में निम्नमध्यवर्ग की गंध मिलना कठिन हो जाता है।

शमशेर का काव्य साहित्य-रचना के सामाजिक आधार की संश्लिष्टता का एक सशक्त उदाहरण है। उसे सामने रखकर यह कहा जा सकता है कि घोषित मतवाद और वर्गीय पृष्ठभूमि के साथ शिक्षा भी रचना-रुचि और सर्जनात्मक प्रवृत्ति को निर्दिष्ट करती है। शमशेर के काव्य स्वरूप-निर्धारण में उनके पाश्चात्य साहित्य के अध्ययन का महत्त्वपूर्ण हाथ रहा है। इसी प्रकार भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने हिन्दी साहित्य को जो नई भूमि प्रदान की उसके पीछे उनके वर्गीय संस्कार न होकर साहित्य के सामाजिक प्रयोजन की चेतना और पश्चिमी साहित्य से उनका सम्पर्क था। भारतेन्दु के हाथों हिन्दी साहित्य में जिन नए-नए साहित्य रूपों का उदय हुआ और परम्परागत साहित्य रूपों में जो नया मोड़ आया उसके पीछे पश्चिमी साहित्य से प्राप्त जानकारी अवश्य थी।

साहित्य-रचना को वर्गीय आकार पर देखने में भारत में विशेष रूप से कठिनाई होती है। आर्थिक दृष्टि से कलाकार एक वर्ग का हो सकता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है जबकि सामाजिक ऊँच-नीच की दृष्टि से दूसरे वर्ग का। आज ऐसा न हो, लेकिन लम्बे समय तक यहाँ ऐसा रहा है। निराला का काव्य इसका एक जीवन्त उदाहरण है। उनके काव्य का एक छोर आभिजात्य से जुड़ा है तो दूसरा आभिजात्य विरोध से। 'तुलसीदास' और 'राम की शक्तिपूजा' जैसी रचनाएँ उनकी आभिजात्य चेतना की देन हैं तो 'गरम पकोड़ी' जैसी रचनाएँ उसके विरोध की। यह बात अन्तर्वस्तु और काव्यशिल्प दोनों में देखी जा सकती है। 'तुलसीदास' और 'रामकी शक्ति पूजा' में जिस दिव्य-ज्ञान का साक्षात्कार काव्य नायकों को होता है वह तो आभिजात्य-प्रेरित है ही, दोनों में संस्कृत की तत्सम शब्दावली का घटाटोप भी उसी की देन है। 'गर्म पकोड़ी' में विषय-वस्तु की तुच्छता और भाषा का खुरदुरापन आभिजात्य-विरोधी प्रवृत्ति के सूचक हैं। पहले प्रकार की रचनाओं में अपनी श्रेष्ठता की अनुभूति व्यक्त हुई है तो दूसरे प्रकार की रचनाओं में उससे नीचे उतरकर तुच्छता के ग्रहण की ओर कवि का झुकाव मिलता है।

साहित्य के वर्गीय आधार का प्रश्न नए और पुराने दोनों प्रकार के साहित्य के संदर्भ में उठाया जाता रहा है; लेकिन साहित्य रचना के समाजशास्त्र से सम्बन्धित कुछ मुद्दे ऐसे भी हैं जिनका प्रचलन आज नहीं रहा है और जो आज के संदर्भ में उठाए भी नहीं जाते हैं। उनकी चर्चा अब इतिहास का विषय हो गई है। एक समय भाषा और साहित्य, दोनों के अध्ययन में संजातीय आधार का बोलबाला था। आज से पचास-साठ वर्ष पहले पश्चिमी पंडित भारत को समझने के लिए यहाँ के जन-समुदाय का विश्लेषण करते हुए उन नृवंशों की चर्चा कर चुके थे जिनके वंशज आज के भारत में रहते हैं। यहाँ की भाषाओं के वर्गीकरण से लेकर यहाँ के साहित्य के सांस्कृतिक स्त्रोतों की खोज तक यह विचार-दृष्टि सक्रिय रही थी। जयशंकर 'प्रसाद' ने अपने सांस्कृतिक निबंधों में तथा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने मध्यकालीन हिन्दी साहित्य की प्रवृत्तियों के अनुशीलन में इस अभिगम को ग्रहण किया है।

मध्यकालीन हिन्दी साहित्य को संजातीय आधार के साथ धर्म-साधनाओं के आलोक में देखने का प्रयत्न भी समाजशास्त्रीय रुचि के आलोचकों ने किया है। हिन्दी में इस कोटि के आलोचकों में अग्रणी हजारी प्रसाद द्विवेदी रहे हैं। मध्यकालीन धर्म-साधना के प्रकाश में तत्कालीन हिन्दी साहित्य का अध्ययन इस दृष्टि से और भी उल्लेखनीय है कि उसमें विभिन्न स्रोतों के संगम की खोज की गई है। उदाहरण के लिए, द्विवेदीजी के अनुसार, कबीर जिस मुस्लिम परिवार में पले थे वह कुछ ही समय पहले धर्मान्तरित 'जुगी' जाति का परिवार था जिसका

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्यवसाय कपड़े बुनना था। 'जुगी' या जोगी नागपंथी थे। (आज भी अनेक नाथपंथी जोगी मिलते हैं)। यह परिवार कुछ समय पहले तक उन संस्कारों से युक्त था जो उसे लुप्त होते हुए बौद्ध धर्म से मिले थे। बौद्ध धर्म के अवशेष किस प्रकार नाथपंथ से होते हुए भक्ति काव्य तक पहुँचे और इस यात्रा में उसे किस तरह इस्लामी संस्पर्श मिला यह जानकारी हमारे मध्यकालीन साहित्य के समाज-शास्त्रीय अध्ययन का अभिन्न अंग है। विषय-वस्तु की दृष्टि से ही नहीं, मध्यकालीन साहित्य का रूपात्मक आधार भी, एक सीमा तक, इस यात्रा से प्रभावित हुआ था। मध्यकालीन पद-परम्परा हो या योग-साधना, कबीर और जायसी से लेकर मीराँबाई, सूर और तुलसी तक के अध्ययन के लिए यह जानकारी आवश्यक है।

साहित्य-रचना से समाज का सम्बध कला आन्दोलनों के उत्थान पतन की दृष्टि से भी विचारणीय है। कला-आंदोलन संगठित और संयोगज, दोनों प्रकार के हो सकते हैं। आधुनिक हिन्दी काव्य में 'प्रयोगवाद' संयोग आंदोलन ही था। तारसप्तक के सातों कवि अपनी-अपनी तरह से राहों के अन्वेषी थे; उनमें साफे की कोई चीज़ थी तो केवल यह कि उन सब की कविताएँ एक ही संग्रह में में प्रकाशित हो रही थी; फिर भी प्रयोग का एक वाद बन गया। इसके लिए आलोचकों का प्रमाद उत्तरदायी नहीं है। अपनी-अपनी तरह से ही सही राहों का अन्वेषण तो वे सब कर ही रहे थे। यह चीज़ उन्हें आपस में बाँधती थी। वे अनजाने ही एक काव्यांदोलन के भागीदार बन गए थे। इसके विपरीत 'प्रगतिवाद' विचारधारा विशेष की कोख से जनमा था। इस कारण वह एक सुसंगठित काव्यांदोलन था। इस प्रकार के आंदोलनों की अपनी एक योजना होती है और उसे क्रियान्वित करने के लिए एक तंत्र भी होता है। संगठित काव्यांदोलनों की देन को समझने के लिए उस आंदोलन की संरचना का विश्लेषण आवश्यक हो जाता है जबकि संयोगज आंदोलनों के पीछे निहित उन सामाजिक अनिवार्यताओं को समझना होता है जो अलग-अलग रचनाकारों को प्रेरित कर उन्हें एक साथ बँध जाने को विवश कर देती हैं।

प्रथमत: और अन्तत: साहित्य एक भाषिक संरचना होने के कारण भाषा के सम्बन्ध से भी साहित्य के सामाजिक आधार का विचार करना आवश्यक है। यह अकारण नहीं है कि भारतीय साहित्य में संस्कृत की तत्सम शब्दावली का प्रयोग एक लम्बे समय तक निलम्बित रहने के बाद भक्तिकाल में पुन: प्रतिष्ठा पा गया और छायावाद में उसकी महिमा शिखर पर पहुँच जाने के बाद फिर कम हो गई। भक्तिकाव्य और छायावाद दोनों हिन्दी साहित्य में पुनर्जागरण से संबंधित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection, Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

थे। भक्ति-आंदोलन आध्यात्मिक आंदोलन होने के साथ जन-आंदोलन भी था, उसमें पांडित्य और जनोन्मुखता का सम्मिश्रण होने के कारण भक्तिकाव्य में लोक-भाषा ने संस्कृत तत्सम शब्दावली को अंगीकार किया। दूसरी ओर छायावादी आंदोलन राष्ट्रीय गौरव की आत्मानुभूति से जुड़ा हुआ था। इसलिए उसकी शब्दावली संस्कृत की गरिमा से इस सीमा तक आक्रान्त हो उठी कि वह काव्य उच्चशिक्षा प्राप्त थोड़े-से काव्य-रसिकों के लिए ही सम्प्रेषणीय रह गयी। स्वतंत्रता प्राप्त होने के बाद जब धर्मनिरपेक्षता के साथ जनतन्त्रीय भावना प्रबल हुई तो साहित्य की भाषा के भी तेवर बदले। यह भाषिक परिवर्तन 'समाजवाद' के जोर के साथ आभिजात्य-चेतना के क्षीण होने से भी जुड़ा था। लेकिन इस प्रकार के परिवर्तनों के लिए कला या काव्य के अपने इतिहास की घटनाएँ भी उत्तरदायी होती है। छायावादी काव्य में तत्सम शब्दावली के बाहुल्य ने सम्प्रेषण को दुरूह बना दिया था और प्रयोगवाद सम्प्रेषण के विषय में -- काव्य में व्यक्त अनुभव को यथासम्भव यथावत् सम्प्रेषित करने के लिए— विशेष रूप से सजग था। इस कारण कला की अपनी आवश्यकता ने भी भाषा को जन-प्रचलन के निकट ले आने में उल्लेखनीय भूमिका निभाई।

इसलिए साहित्य-रचना के सामाजिक आधार पर ऐकांतिक दृष्टि से विचार करना उचित नहीं है। उसे अन्य प्रभावों और कारकों के योग में रखकर ही ठीक से समझा जा सकता है।

५६, गोल्फ कोर्स
जोधपुर- ३४२ ००१
(राजस्थान)

— जगदीश शर्मा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

गणित के क्षेत्र में ज्ञान की संभावना

प्रमा के स्वरूप, साधन तथा इसकी कसौटी आदि सम्बन्धी प्रश्न प्राच्य तथा पाश्चात्य सभी दर्शनों में चिरन्तन काल से उठते रहे हैं। बहुत से दार्शनिक न केवल परमतत्त्व के ज्ञान की संभावना को अस्वीकार करते हैं अपितु वे प्रपंचात्मक ज्ञान की भी संभावना को अस्वीकार करते हैं। ह्यूम ने माना था कि समस्त ज्ञान का मूल स्त्रोत अनुभव है और अनुभव के द्वारा कभी भी हमें असंदिग्ध ज्ञान नहीं मिल सकता। अतः न जड़तत्त्व, न चेतन तत्त्व और न कार्य–कारण की ही स्थापना अनुभव से हो सकती है। अर्थात् इन तत्त्वों का ज्ञान प्राप्त करना संभव नहीं है। परन्तु ह्यूम ने यह संशयवाद केवल भौतिक जगत् के सन्दर्भ में ही स्वीकार किया है। गणित आदि के क्षेत्र में असंदिग्ध ज्ञान की प्राप्ति इस लिए संभव है कि यह यथार्थ जगत् से सम्बन्धित नहीं है, बल्कि यह प्रत्ययों तथा उनके सम्बन्धों से सम्बन्धित है।[१]

प्रस्तुत निबन्ध में यह दर्शाने का प्रयास किया गया है कि गणित में भी यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं है। व्यवहार में ज्ञान शब्द के कई अर्थ होते हैं। सामान्यतया हमें 'ज्ञान' शब्द से तथ्यों का ज्ञान एवं सैद्धान्तिक व्याख्याएँ लेते हैं। कभी-कभी हम ज्ञान का अर्थ क्रियात्मक ज्ञान से लेते हैं। जैसे सायकिल चलाने का ज्ञान, तैरने का ज्ञान इत्यादि। इसी प्रकार हम ज्ञान का अर्थ कभी-कभी परिचयात्मक ज्ञान से लेते हैं। इस प्रकार के ज्ञान में उपरोक्त दोनों अवयव शामिल होते हैं। उदाहरण हेतु, राम श्याम को जानता है। अर्थात् राम को श्याम के बारे में एक परिचयात्मक ज्ञान है।[२]

उपरोक्त सभी प्रकार के ज्ञानों में से प्रथम प्रकार के ज्ञान से ही दर्शनशास्त्र मुख्यतः सम्बन्धित है। सूचनात्मक या तथ्यात्मक ज्ञान प्रतिज्ञप्तियों में व्यक्त होता है। इस प्रकार के ज्ञान की परम्परागत परिभाषा इस प्रकार है– प्रमाणित सत्य विश्वास। किसी प्रतिज्ञप्ति को ज्ञान में परिणत होने के लिए तीन शर्तों का पालन करना होगा– क) इसे सत्य होना चाहिए, ख) इसकी सत्यता में विश्वास होना चाहिए, तथा ग) इसमें विश्वास के लिए उचित प्रमाण होना चाहिए।[३]

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ७, अंक ३, जून, १९८६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ज्ञान को प्रमाणित सत्य विश्वास के रूप में परिभाषित करने से यह स्पष्ट है कि वस्तुपरक विज्ञानों में ज्ञान की कोई संभावना नहीं है, क्योंकि सभी वास्तविक सत्य संशोधनीय है और संशोधनीय सत्य के आधार पर प्रमा की प्राप्ति संभव नहीं है।[४]

प्रश्न यह है कि अगर वस्तुपरक विज्ञानों में प्रमा-प्राप्ति संभव नहीं है तो क्या ज्ञान के किसी अन्य क्षेत्र में यह संभव है? ह्यूम की तरह ऐसा सोचा जा सकता है कि शायद गणित में यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति संभव है क्योंकि गणितीय सत्य अनिवार्य प्रतीत होते हैं।

आकारिक सत्य अनिवार्य होते हैं। अतः प्रश्न उठता है कि जो केवल अनिवार्य सत्यों से सम्बन्धित हैं ऐसे विषयों से क्या प्रमा की प्राप्ति संभव है? आधुनिक रूप में तर्कशास्त्र आकारिक सत्यों का अध्ययन करता है। तर्कशास्त्र से सम्बन्धित होने के कारण गणित भी पूर्णतः आकारिक सत्यों से सम्बन्धित हो जाता है। अतः क्या गणित में प्रमा की प्राप्ति संभव है?

गणित में ज्ञान की संभावना पर विचार करने से पहले हमें गणित के स्वरूप पर विचार करना आवश्यक है, क्योंकि उसी आधार पर उसमें ज्ञान की संभावना सिद्ध हो सकेगी। गणित के स्वरूप या आधार सम्बधी तीन प्रमुख विचार-धारायें हैं जिन्हें क्रमशः तर्कान्तर्भूतगणितवाद, अन्तःप्रज्ञावाद तथा आकार-वाद कहते हैं। प्रथम विचार-धारा के अनुसार गणित को पूर्णतया तर्कशास्त्र में रूपान्तरित किया जा सकता है। दूसरी विचार-धारा गणित को संख्याओं की अन्तःप्रज्ञा पर आधारित मानती है। तीसरी विचार-धारा गणित को एक स्वयंसिद्ध सत्यों पर आधारित प्रणाली मानती है।[५] इन तीनों विचार-धाराओं में सबसे सशक्त तर्कान्तर्भूत-गणितवाद है। अतः इसकी चर्चा यहाँ विस्तार से की जाएगी।

फ्रेग, पियानो, रसेल आदि ने सम्पूर्ण गणित को तर्कशास्त्र में रूपान्तरित करने का प्रयास किया है। (रूपान्तरण की प्रक्रिया का विस्तार यहाँ स्थानाभाव से संभव नहीं है)। इन विद्वानों के अनुसार सम्पूर्ण गणित की प्रतिज्ञप्तियाँ तार्किक प्रतिज्ञप्तियों में रूपान्तरित हो सकती है और ये सभी तार्किक प्रतिज्ञप्तियाँ पुनरुक्तियाँ होती हैं। चूंकी पुनरुक्तियाँ अनिवार्य सत्य होती हैं इसलिए गणित भी अनिवार्य सत्य होना चाहिए। अतः गणित-शास्त्र में प्रमा-प्राप्ति संभव है।

इस सन्दर्भ में तर्कान्तर्भूतवाद की आलोचना प्रमुखतः दो आधारों पर की जाती है – या तो गणित पूर्णतः तर्कशास्त्र में परिणत नहीं हो सकता या विश्लेषी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और संश्लेषी प्रतिज्ञप्तियों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

पहली आलोचना तर्कान्तर्भूतवाद की स्वयं-सिद्धियों यथा एक्सियम ऑफ इन्फिनिटि, एक्सियम ऑफ चाइस तथा रिड्यूसिबिलिटी से सम्बन्धित है। ये स्वयंसिद्धियां इस तत्त्वमीमांसीय मान्यता पर आधारित हैं कि जगत् में अनन्त वस्तुएं हैं। और यह मान्यता तर्कशास्त्र के क्षेत्र से बाहर की मान्यता है। साथ ही इस मान्यता की सत्यता असंदिग्ध नहीं है। [६]

पुनः कार्ल हेम्पेल आदि विद्वानों के अनुसार गणितशास्त्र की सभी शाखाएं तर्कशास्त्र में परिणत नहीं हो सकती। उदाहरण हेतु-ज्यामिती, टोपोलॉजी, एब्सट्रैक्ट ऑलजिब्रा आदि को लिया जा सकता है। [७] इसी प्रकार उपरोक्त सम्प्रदाय की विचारधारा के अनुसार गणित के कई महत्त्वपूर्ण तत्त्वों तथा अनन्त, रियल नम्बर, कण्टिनुअम आदि की सही व्याख्या नहीं हो पाती। कई बार ऐसा भी कहा जाता है कि रसेल द्वारा प्राकृत संख्याओं की तार्किक पदों में दी गई परिभाषा चक्रिम दोष से युक्त है।

दूसरे प्रकार की आलोचना का मूल विश्लेषी और संश्लेषी प्रतिज्ञप्तियों के मौलिक अन्तर को नकारने में है। किसी भी प्रतिज्ञप्ति को विश्लेषी मानना सन्दर्भ पर निर्भर करता है। कोई भी प्रतिज्ञप्ति निरपेक्ष रूप से संश्लेषी या विश्लेषी नहीं हो सकती। किसी प्रतिज्ञप्ति की सत्यता और असत्यता केवल उनके आकार या विषय-वस्तु पर निर्भर नहीं करती है, अपितु यह प्रतिज्ञप्ति की सिद्धान्त में होनेवाली भूमिका पर भी निर्भर करती है। अतः किसी सिद्धान्त और सन्दर्भ के सापेक्ष ही किसी प्रतिज्ञप्ति को संश्लेषी या विश्लेषी माना जाना चाहिए। जो प्रतिज्ञप्तियां किसी सन्दर्भ में अचर होती हैं (तथा बाकि अनुभव उनकी सत्यता या असत्यता पर निर्भर नहीं करते) उन्हें हम विश्लेषी प्रतिज्ञप्ति कह सकते हैं। अधिकांशतः तार्किक एवं गाणितिक प्रतिज्ञप्तियों को अचर माना जाता है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं है कि तर्क या गणित की प्रतिज्ञप्तियों को सदैव अचर माना जाय। वास्तव में तार्किक या गाणितिक प्रतिज्ञप्तियों में भी संशोधन एवं प्रतिवर्तन संभव है। यथा क्वाण्टम यान्त्रिकी में मध्याभाव नियम का उल्लंघन आदि। अतः संश्लेषी तथा विश्लेषी प्रतिज्ञप्तियों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है।

उपरोक्त विवेचन से स्पष्ट है कि गणित को तर्कशास्त्र में परिणत कर गणितीय सत्यों को तार्किक सत्यों अर्थात् विश्लेषी सत्यों में परिणत कर सकते हैं। पर क्या इससे हम गणित में ज्ञान की संभावना स्वीकार कर सकते हैं?

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

वास्तव में गणित तर्कशास्त्र में परिणत हो कर भी ज्ञान की संभावना से रहित है। ऊपर की आलोचनाओं से यह स्पष्ट है कि गणित का तर्कशास्त्र में तथाकथित रूपान्तरण भी कुछ तत्त्व-मीमांसीय मान्यताओं पर आधारित है और जिनकी सत्यता असंदिग्ध नहीं है। अतः गणित के क्षेत्र में भी वस्तुपरक असंदिग्ध ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती।

इसी प्रकार अगर हिलवर्ट के आकारवाद को भी स्वीकार किया जाय तो भी हमें इस तंत्र की स्वयंसिद्धियों तथा उनकी तत्त्वमीमांसीय पूर्वकल्पनाओं की सत्यता पर पूर्ण भरोसा नहीं हो सकता। इसी प्रकार का तर्क अन्तःप्रज्ञावाद के सन्दर्भ में भी विकसित किया जा सकता है।

निष्कर्ष–

अगर ज्ञान अनुभव या वास्तविक जगत् में संभव नहीं है, जैसा कि ह्यूम आदि ने स्वीकार किया है, तो प्रत्ययों या वैचारिक जगत् में भी सत्यज्ञान की प्राप्ति संभव नहीं है। ह्यूम ने गणित के अन्तर्गत निश्चयात्मक ज्ञान या प्रमा की प्राप्ति का कारण यह माना है कि इसका विषय प्रत्यय है, वास्तविक वस्तुएँ नहीं। वास्तव में यथार्थ ज्ञान या प्रमा न तो भौतिक जगत् के सन्दर्भ में और न ही प्रत्ययों या वैचारिक जगत् के सन्दर्भ में संभव है। सवत्र सापेक्ष ज्ञान ही संभव है, नित्य ज्ञान नहीं। फिर भी गणित आदि के क्षेत्रों में सापेक्षनित्य ज्ञान संभव है। अतः अगर हम ज्ञान की परम्परागत परिभाषा को स्वीकार करते हैं तो प्रमा या नित्य ज्ञान की प्राप्ति कहीं भी संभव नहीं है।

दर्शन विभाग
कुरुक्षेत्र विश्वविद्यालय
कुरुक्षेत्र (हरियाणा)

–विनोद शंकर

टिप्पणियाँ

१. Thilly, Frank; *A History of Phiiosophy* p. 373 Central Book Depot, Allahabad, 1976.

२. Hospers John; *An Introduction to Philosophidal Analysis*, p. 143 Allied Publishers Pvt. Ltd., 1971.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३. *Ibid* pp. 144-147

४. एडमण्ड गेटीर आदि विद्वानों ने ज्ञान की उपरोक्त परिभाषा के आधार पर यह सिद्ध किया है कि इससे किसी भी प्रकार का ज्ञान संभव नहीं है।

५. Black Max, *The Nature of Mathematics* (pp. 7, 8, 9) Routledge and Kegan Paul, London, 1958

६. Luchins A. S. and Luchins E. H.; *Logical Foundations of Mathematics for Behavioural Scientists* (p 120) Holt, Rinehart and Winston, New York. 1985

७. Hempel C G., "On the Nature of Mathematical Truth" in *Readings in the Philosophy of Science* Edited by Feigl H and Brodbeck M, (p. 161) Appleton Centure Crafts Educationl Division, Meredith Corporation, New York 1953.

८. Luchins and Luchins *Logical Foundation of Mathematics for Behavioral Scientists* p. 123

९. Lambert K and Brittan G. G; *An Introduction to the Philosophy of Science*, p. 22 Prentice Hall Cliff N. J, 1970.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पद्धतिशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र

यह एक सर्वस्वीकृत तथ्य है कि मानवीय ज्ञान की वृद्धि एवं विकास में पद्धतिशास्त्र को, एक सशक्त साधन के रूप में, महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। अत: ज्ञान की सभी शाखाओं में इसकी महत्ता स्वीकार की गई है। गणित हो अथवा मनोविज्ञान, समाजशास्त्र हो अथवा भौतिक शास्त्र सभी अपनी विशिष्ट पद्धतियों की सहायता से अभीष्ट ज्ञान-प्राप्ति का प्रयास करते हैं। जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है पद्धतिशास्त्र वह शास्त्र है जिसमें विभिन्न पद्धतियों का अध्ययन किया जाता है। इसके अन्तर्गत हम उन समस्त प्रक्रियाओं (Procedures) तथा प्रविधियों (टेक्निक्स) का अध्ययन करते हैं, जिनके द्वारा पूर्व-प्राप्त ज्ञान की प्रामाणिकता एवं सत्यता, तथा नवीन ज्ञान की प्राप्ति संभव होती है। यही कारण है कि बेसिक प्रॉब्लेमस ऑफ फिलासफी पुस्तक के संपादक-द्वय लिखते हैं कि पद्धतिशास्त्र का संबंध उन प्रक्रियाओं एवं प्रविधियों से है, जिनका आविष्कार हमने इसलिए किया है कि अपने ज्ञान का विस्तार करने में हमें सहायता मिले, अर्थात् जो हम पहले से ही जानते हैं, उसके "स्पष्टीकरण" एवं "पुष्टीकरण" में तथा साथ ही जो अभी भी अज्ञात है उसका "अन्वेषण" करने में हमें सहायता प्राप्त हो सके। हमने अपने अनुभवों से यह जाना है कि अपनी ज्ञान-पिपासा की तृप्ति के लिए किसी-न-किसी पद्धति को अपनाना परमावश्यक है जिससे वस्तुनिष्ठ मापदंडों के आधार पर हम अपने विश्वासों को पुष्ट कर सके, और इस तरह उन्हें व्यक्तिनिष्ठता से मुक्त कर "ज्ञान" की कोटि में रख सकें। वस्तुत: "सुनिश्चितता" एवं सार्वभौमिक स्वीकृति (Demonstrability) के लिए प्रत्येक शास्त्र एवं विज्ञान में पद्धति अपेक्षित है। पद्धति इसलिए अपेक्षित है कि हम अपने अन्वेषण के अंत में संदेहवाद पर न पहुँचे, और सुनिश्चित ज्ञान प्राप्त कर सकें।

चूँकि मानवीय ज्ञान बहुआयामी है, फलस्वरूप पद्धतियाँ भी अनेक व विभिन्न हैं। पद्धतिशास्त्र का उद्देश्य यह जानना एवं बतलाना है कि ये पद्धतियाँ कौन-

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कौन सी हैं, उन्हें क्यों स्वीकार किया जाता है, वे परस्पर किस प्रकार सम्बद्ध हैं, और उन्हें लागू किस प्रकार किया जाता है, आदि। यहाँ यह प्रश्न उठाया जा सकता है कि किसी भी प्रकार का क्यों न हो, मानवीय ज्ञान आखिर मानवीय ज्ञान ही है, अतः क्या एक ही पद्धति मानवीय ज्ञान के समस्त क्षेत्रों में लागू नहीं की जा सकती ? इस प्रश्न का उत्तर खोजने का प्रयास काफी समय पूर्व अरस्तू ने किया था। अपनी पुस्तक डी ऑनीमा में उसने यह जानने का प्रयत्न किया कि क्या कोई एक विधि ज्ञान के समस्त क्षेत्रों में वैज्ञानिक परिणामों या सत्यों को उपलब्ध करवा सकती है; किन्तु अपनी खोज के अंत में वह निषेधात्मक उत्तर पर पहुँचा। आधुनिक युग में देकार्त ने गणितात्मक पद्धति को दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में लागू किया। वह कितना सफल रहा, यह हमारे समक्ष है। अरस्तू का निषेधात्मक उत्तर ही मुझे स्वीकार्य है; क्योंकि इस तथ्य को स्वीकार करने में किसी भी चिंतनशील व्यक्ति को आपत्ति नहीं हो सकती कि मनोविज्ञान के क्षेत्र में जो पद्धतियाँ प्रचलित हैं, वे गणित या अर्थशास्त्र में प्रचलित पद्धतियों से नितान्त भिन्न स्वरूपवाली हैं। ज्ञातव्य है कि पद्धतियों की विभिन्नता न केवल एक तथ्यात्मक सत्य है, अपितु यह वैभिन्न्य अपेक्षित भी है। इस वैभिन्न्य का आधार यह है कि ज्ञान की प्रत्येक शाखा की विषय-वस्तु तथा उद्देश्य अन्य शाखाओं के उद्देश्य एवं विषयवस्तु से भिन्न हैं। उदाहरणार्थ, भौतिकशास्त्र का उद्देश्य भौतिक जगत् की घटनाओं एवं पदार्थों का अध्ययन एवं व्याख्या है, जबकि समाजशास्त्र का लक्ष्य समाज तथा सामाजिक जीवन के विभिन्न आयामों का विश्लेषण एवं व्याख्या है। ऐसी स्थिति में, यह अपेक्षा करना कि कोई एक ही पद्धति भौतिक शास्त्र तथा समाजशास्त्र, दोनों में समान रूप से अपनाई जा सकती है, तथा समान रूप से फलदायी सिद्ध होगी, बुद्धि-सम्मत नहीं है। प्रायः यह देखा गया है कि जो पद्धति किसी एक क्षेत्र में अत्यधिक सफल रही है वही अन्य क्षेत्र में या तो उतनी सफल सिद्ध नहीं हुई अथवा अनेक बार असफल सिद्ध हुई है। इस कारण हमें यह मानना होगा कि जो पद्धतियाँ हमारे समक्ष हैं, उनका विकास दार्शनिकों, वैज्ञानिकों व कला-मर्मज्ञों आदि ने अपने-अपने विशिष्ट उद्देश्यों अथवा साध्यों को दृष्टि में रखते हुये किया है।

पद्धतिशास्त्र के इतिहास पर दृष्टिपात करने से भी यही तथ्य सामने आता है कि एक ही पद्धति समस्त शास्त्रों अथवा ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में नहीं अपनाई जा सकती। पुनर्जागरण-काल के उत्तरार्द्ध में जो पद्धतियाँ सामने आईं, उन्हें स्थूल रूप से दो कोटियों में रखा जा सकता है। प्रथम, कला का पद्धतिशास्त्र, तथा द्वितीय, विज्ञान का पद्धतिशास्त्र। प्रथम कोटि का जनक सुकरात था, जिसके

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

पद्धतिशास्त्रीय सिद्धांत हमें प्लेटो के प्रारंभिक संवादों में स्पष्टतः प्राप्त होते हैं। द्वितीय कोटि के पद्धति-शास्त्र की आधारशिला सुप्रसिद्ध दार्शनिक अरस्तू ने रखी जो वैज्ञानिक प्रवृत्ति का दार्शनिक था। शनैः शनैः पद्धतिशास्त्र के उपर्युक्त दो प्रकारों के अतिरिक्त एक तीसरा प्रकार सामने आया। यह था दर्शनशास्त्र। इस तरह हमारे समक्ष तीन परस्पर असम्बद्ध पद्धतिशास्त्र प्रस्तुत हुये।

इस शोध-लेख में मैंने पाश्चात्य दार्शनिक पद्धतिशास्त्र की कुछ समस्याओं का, संक्षेप में, उल्लेख किया है। अन्य शास्त्र एवं विज्ञान के समान दर्शन शास्त्र में भी पद्धतियों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। सुप्रसिद्ध चिंतक कॉलिंगवुड इस सीमा तक पद्धति को महत्त्व देते हैं कि उनके मतानुसार दर्शन क्या है, इस प्रश्न का उत्तर दार्शनिक पद्धति का विवरण प्रस्तुत करके दिया जा सकता है। मॉण्टेग एक अन्य तरीके से पद्धतिशास्त्र का महत्त्व दर्शाते हैं। उनके मतानुसार पद्धतिशास्त्र दर्शनशास्त्र का एक प्रमुख भाग है, तथा ज्ञानमीमांसा एवं तर्कशास्त्र इस प्रमुख भाग के दो उपविभाग है। यद्यपि मॉण्टेग ने पद्धतिशास्त्रीय अन्वेषण (inquiry) को तत्त्वमीमांसीय अन्वेषण से पृथक् रखने व करने का प्रयास किया था, तथापि वे तत्त्वमीमांसा एवं पद्धतिशास्त्र के मध्य आश्रितता एवं स्वतंत्रता का मिश्रित संबंध मानते हैं। उनके मतानुसार सत्य की प्राप्ति के लिये हम किस कसौटी का प्रयोग करेंगे, यह काफी हद तक इस बात पर निर्भर करता है कि हमारी खोज के विषय–सत्, तत्त्व या सत्ता–का स्वरूप क्या है? मॉण्टेग पद्धतिशास्त्र तथा ज्ञान-मीमांसा के पारस्परिक संबंधों को भी मानते एवं दर्शाते हैं। उनका कहना है कि सत्य की व्याख्या के तरीके, निश्चित रूप से कुछ अंश में, "ज्ञाता" तथा ज्ञेय के स्वरूप के आधारपर निश्चित किये जाते हैं, जबकि ज्ञाता और ज्ञेय ज्ञानमीमांसा के विषय हैं। इतना ही नहीं वे पद्धति के सिद्धान्तों अथवा पद्धतिशास्त्र तथा मूल्यों के सिद्धान्तों (Theories) अथवा मूल्यमीमांसा के मध्य भी स्वतंत्रता एवं आश्रितता का मिश्रित संबंध स्वीकार करते हैं। अर्थात् वे मानते हैं कि विशिष्ट पद्धति का विशष्ट मूल्यों से ही संबंध संभव है। इसी प्रकार विशेष मूल्यों की स्थापना एक विशेष पद्धति की माँग करती है।

समकालीन तार्किक वास्तववादी ए. जे. एयर भी दर्शन के क्षेत्र में पद्धति के महत्त्व को प्रतिपादित करते हुए अपनी पुस्तक द प्रॉब्लेम्स ऑफ नॉलेज में कहते हैं कि विषय–वस्तु की अपेक्षा, उसकी विधियों के द्वारा दर्शनशास्त्र का कलाओं एवं विज्ञानों से भेद किया जाना चाहिए।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दार्शनिक पद्धति के संबंध में कुछ बातें ज्ञातव्य हैं। सर्वप्रथम यह कि इसका संबंध "चिंतन-प्रक्रिया" से है, कार्य-प्रणाली से नहीं; अतः इसे कार्य की विधि (Way of Doing) नहीं, चिंतन-विधि (Way of Thinking) समझना चाहिए। इस दृष्टि से मार्क्सवादी चिंतकों द्वारा दी गई परिभाषा को दार्शनिक पद्धति की परिभाषा को नहीं माना जा सकता है; क्योंकि मार्क्सवादी चिंतक विधि या पद्धति को यथार्थ सत्ता (Reality) अर्थात् दृश्यमान जगत् के अध्ययन, अन्वेषण एवं उपागम की प्रक्रिया अथवा कार्य-विधि के रूप में प्रस्तुत करते हैं।

द्वितीय, दार्शनिक पद्धति अन्वेषण अथवा खोज की पद्धति होती है, जो चिंतन की पद्धति के रूप में सत्य-ज्ञान की प्राप्ति की पद्धति कहलाती है। सुकरात और प्लेटो ने इसे "जानने अर्थात् ज्ञान प्राप्त करने की विधि" के रूप में लिया। इस तरह दार्शनिक पद्धति का उद्देश्य सत्य की प्राप्ति है जैसाकि अनेक पाश्चात्य एवं भारतीय दार्शनिक घोषित करते हैं।

स्मरणीय है कि ज्ञान की अन्य शाखाओं के समान दर्शनशास्त्र में भी दो प्रकार की विधियाँ हैं। दूसरे शब्दों में इन्हें मननात्मक या चिंतनात्मक (Contemplative) विधि तथा निदर्शनात्मक अथवा Demonstrative विधि कह सकते हैं। इस विभेद का ज्ञान मध्ययुगीन चिंतकों को भी था। इन्हें हम क्रमशः "ज्ञान-प्राप्ति की विधि" तथा "प्राप्त ज्ञान के शिक्षण या प्रस्तुतीकरण की विधि" कह सकते हैं। जब हम दार्शनिक विधि कहते हैं, तो हमारा अभिप्राय प्रथम प्रकार की विधियों से ही रहता है।

दर्शन शास्त्र के क्षेत्र में समय-समय पर होने वाले परिवर्तन एवं क्रांतियों का कारण तत्त्वमीमांसात्मक प्रबोध उतना नहीं है, जितना पद्धति के क्षेत्र में होने वाले अभिनव परिवर्तन। ख्याति-प्राप्त दार्शनिकों-सुकरात, अरस्तू, देकार्त, कांट, एयर, सार्त्र हुसर्ल आदि- ने दार्शनिक विचारधारा को समय-समय पर जो दिशा दी है, वह उनके द्वारा प्रस्तुत विशिष्ट पद्धतियों के कारण ही संभव हो सका है। फिर भी यह देखकर आश्चर्य-मिश्रित दुःख होता है कि दार्शनिक पद्धतिशास्त्र का स्वरूप आज तक पूर्ण निर्धारित नहीं किया जा सका है। वस्तुतः जब तक हम दार्शनिक चिंतन की विभिन्न विधियों को प्रचालन में नहीं देख लेते, तब तक किसी विशेष दार्शनिक पद्धति का चयन करना अत्यंत दुष्कर कार्य है। ऐसे भी चिंतक हैं जो यह मानते हैं कि दार्शनिक पद्धतिशास्त्र में रुचि लेना दर्शन शास्त्र की दृष्टि से हानिप्रद एवं आत्मघातक है। वे यह मानते है कि दार्शनिक अन्वेषण किसी-न-किसी पद्धति को सन्निहित रखता है; किन्तु इस पद्धति के स्वरूप को जानना दार्शनिक अन्वेषक के लिये आवश्यक नहीं है। अपने कथन की पुष्टि के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

लिए ये चिंतक "कनखजूरे" की कहानी उद्धृत करते हैं, जो अपने चलने की विधि का पता लगाने में इतना अधिक व्यस्त हुआ कि चलने की क्षमता ही खो बैठा। मेरी दृष्टि में उपर्युक्त दृष्टिकोण संगत नहीं है; क्योंकि दर्शन शास्त्र विमर्शात्मक (Reflective) विज्ञान है। अतः इसे अपनी पद्धतियों के स्वरूप एवं पद्धतिशास्त्र पर अवश्य ही मनन करना चाहिए। दार्शनिकों को यह निश्चित करना चाहिए कि किसी विशेष दार्शनिक समस्या के और अधिक स्पष्टीकरण के लिये कौन-सी पद्धति उपयुक्त है, तथा कौनसी महत्त्वपूर्ण दार्शनिक समस्या के समाधान में किस पद्धति का सर्वाधिक योगदान हो सकता है।

यह कहा जा सकता है कि दर्शनशास्त्र का मौलिक उद्देश्य जो कुछ भी जानने योग्य है, उसका सुव्यवस्थित ज्ञान प्राप्त करना है। पर मुख्य प्रश्न यह है कि क्या इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिये कोई एक दार्शनिक पद्धति हम अपना सकते हैं? हमें इस प्रश्न का निषेधात्मक उत्तर ही प्राप्त होगा। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में आज तक पद्धति के संबंध में मतैक्य नहीं हो सका है, और न ही भविष्य में मतैक्य की संभावना दिखाई दे रही है। इतना ही नहीं, पद्धति संबंधी मतैक्य निष्पक्ष दार्शनिक अन्वेषण तथा दार्शनिक विचारों के विकास की दृष्टि से घातक ही सिद्ध होगा। इसका प्रमुख कारण यह है कि स्वरूपतः दर्शनशास्त्र अन्य शास्त्रों एवं विज्ञानों से नितान्त भिन्न हैं। जो लोग दर्शनशास्त्र से अंतिम एवं सुनिश्चित उत्तरों की अपेक्षा रखते हैं, वे इसके इतिहास का सिंहावलोकन करने पर निराश हो जाते है। पर यहाँ हमें यह ध्यान रखना चाहिए कि दार्शनिकों द्वारा दिये गये उत्तरों की अपेक्षा उनके द्वारा उठाये गए प्रश्न अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। यह स्वीकार्य है कि हमारी अपेक्षा व आशा के अनुकूल दर्शनशास्त्र अनेक प्रश्नों के उत्तर नहीं दे सकता; किन्तु कम-से-कम वह ऐसे प्रश्न पूंछने की क्षमता तो रखता है जो अन्य किसी शास्त्र या विज्ञान द्वारा नहीं पूंछे जाते। न केवल इतना, अपितु कई बार दार्शनिक सृजनात्मक कल्पना एवं चिंतन की सहायता से ऐसे बुद्धिमत्तापूर्ण अनुमान प्रस्तुत करता है जो बाद में अन्य विज्ञानों द्वारा प्रामाणिक सिद्ध होते है। उदाहरणार्थ : डेमोक्रीटस् की अणु की कल्पना।

दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पद्धतिशास्त्रीय समस्या इस प्रश्न का उत्तर खोजना है कि क्या दर्शनशास्त्र की अपनी कोई एक पद्धति है? पाश्चात्य दार्शनिक परंपरा पर दृष्टिपात करने पर इस प्रश्न का विधेयात्मक उत्तर देने वाले अनेक दार्शनिक मिलते हैं। उदाहरणार्थ, प्लेटो के मतानुसार दर्शनशास्त्र एक विशेष प्रकार की पद्धति का प्रयोग करता है, जिसे "डायलेक्टिक" अथवा "द्वन्द्वात्मक तर्क पद्धति" कहते हैं। हेगल भी ऐसा ही मानता है। द्रष्टव्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है कि प्लेटो एवं हेगल, दोनों ही इस पद्धति को "डायलेक्टिक" संबंधित करते हैं, तथापि उसके स्वरूप के संबंध में उनका मतवैभिन्य बहुत स्पष्ट है। "एक पद्धति" के समर्थकों में हम उन मध्य युगीन चिंतकों को पाते हैं जो समवेत स्वर में "आप्त प्रमाण पद्धति" (Authoritative Method) को दार्शनिक पद्धति के रूप में संस्तुत करते हैं। आधुनिक युग के बेकन महोदय को हम दार्शनिक चिंतन की विधि के रूप में "आगमनात्मक विधि" का समर्थन करते पाते है, जबकि आधुनिक पाश्चात्य दर्शन के जनक देकार्त की दृष्टि में सैद्धांतिक ज्ञान की प्राप्ति अथवा स्वयंसिद्ध सत्य की खोज की केवल एक विधि है और वह है गणितात्मक विधि। बुद्धिवादी स्पिनोज़ा यह विश्वास करता है कि दार्शनिकों को रेखागणितज्ञों की पद्धति का अनुकरण करना चाहिए। प्रायः सभी बुद्धिवादी 'तार्किक-गणितात्मक" (Logico-Mathematical) पद्धति को ही एकमात्र दार्शनिक पद्धति मानते हैं। लॉक, बर्कले, ह्यूम आदि अनुभववादी दार्शनिक सैद्धांतिक दृष्टि से प्रयोगात्मक या अनुभवात्मक विधियों को महत्त्व देते हैं, यद्यपि दार्शनिक चिंतन की पद्धति के रूप में वे प्रायः मनोवैज्ञानिक विश्लेषण की पद्धति को अपनाते हैं। कांट समीक्षात्मक पद्धति (Critical Method) का समर्थक है, जबकि बर्गसाँ के मतानुसार दर्शनशास्त्र में "अन्त:प्रज्ञात्मक पद्धति" (Intuitive Method) प्रयुक्त की जानी चाहिए। भाषावादी चिंतकों में भी मतभेद है। तार्किक वास्तववादियों के मतानुसार "भाषा का तार्किक विश्लेषण" एकमात्र दार्शनिक पद्धति है, जबकि सामान्य भाषा के चिंतक "दैनिक भाषा के भाषाशास्त्रीय विश्लेषण" को दार्शनिक पद्धति के रूप में मान्यता देते हैं। हुसर्ल एवं उसके अनुयायी "फिनोमिनोलॉजीकीय विधि" को ही एकमात्र उपयुक्त पद्धति घोषित करते है। मॅक्टागार्ट "प्रागनुभविक पद्धति" का सुझाव देता है, तो ए. एन. वाईटहेड वैज्ञानिक सामान्यीकरण की साधारण विधि को ही दर्शन की उपयुक्त पद्धति मानते हैं। वस्तुतः वाईटहेड दार्शनिक पद्धति का तादात्म्य वैज्ञानिक पद्धति से करते हैं। प्रायः यह देखा गया है कि वैज्ञानिक अभिरुचि वाले दार्शनिक यह मानते हैं कि विज्ञान दार्शनिक अन्वेषण के लिए एक अत्यधिक उपयोगी पद्धति प्रदान करता है। इन दार्शनिकों से मैं सहमत नहीं हूँ क्योंकि आर. जी. कॉलिंगवुड के समान मेरा भी यही मत है कि विज्ञान– चाहे वह विशुद्ध विज्ञान हो अथवा प्राकृतिक विज्ञान– की विधियाँ दर्शनशास्त्र में अनुपयुक्त हैं।

सामान्यतः दार्शनिकों में यह प्रवृत्ति परिलक्षित होती है कि वे अपने द्वारा आविष्कृत तथा प्रयुक्त पद्धति को ही दर्शनशास्त्र की एकमात्र पद्धति मानते हैं। उनमें से प्रत्येक यह दावा करता है कि उसकी पद्धति का प्रयोग करने पर दार्शनिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

समस्याओं को हल किया जा सकता है, तथा दार्शनिक चिंतन को तार्किक व अन्य दोषों से सर्वथा मुक्त रखा जा सकता है। इस तरह अपने द्वारा अनुमोदित पद्धति की सहायता से दार्शनिक चिंतन की एक सुनिश्चित योजना प्रस्तुत कर ये दार्शनिक किसी वाद (ism) या प्रणाली (System) के संस्थापक बन जाते हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से देखें तो पाते हैं कि दर्शन के क्षेत्र में प्रत्येक नवीन आंदोलन या विचार-धारा एक नवीन विधि के साथ प्रारंभ होता है, तथा इस नवीन पद्धति का तब तक उपयोग किया जाता है जबतक कि दूसरा महान् दार्शनिक किसी नवीन विधि के साथ दर्शन-जगत् में प्रविष्ट नहीं हो जाता। दृष्टांत के रूप में हम हेगल को ले सकते हैं, जो अपनी अद्वितीय "डायलैक्टिक" विधि के साथ आया था। उसके आगमन के पश्चात् सभी प्रकार के चिंतकों--नीतिशास्त्री, राजनैतिक चिंतक, धार्मिक चिंतक, दार्शनिक--द्वारा उसकी पद्धति को अपनाया गया; किन्तु ज्यों ही तार्किक वास्तववादियों ने अपनी नवीन पद्धति के साथ दर्शन के रंगमंच में प्रवेश किया, हेगल की डायलेक्टिक पद्धति ने विदा ले ली। विशेष पद्धतियों की वकालत करनेवाले दार्शनिक अपने दावे की पुष्टि के लिये "प्रागनुभविक प्रामाणिकता" तथा "अतीन्द्रिय अनिवार्यता" जैसी युक्तियों का सहारा लेते हैं। वे सभी इस बात पर विश्वास करते हैं कि दार्शनिक पद्धति की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह है कि उसे अन्य विरोधी पद्धतियों को दर्शन के क्षेत्र से बाहर निकाल देना चाहिये। इतना होने के पश्चात् भी यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि आज तक कोई भी दार्शनिक सुनिश्चित एवं प्रामाणिक ज्ञान की प्राप्ति हेतु कोई सर्वमान्य विश्वसनीय दार्शनिक पद्धति आविष्कृत नहीं कर पाया है। दार्शनिकों का यह दावा कि उनकी अपनी पद्धति "परिपूर्ण" एवं "सर्वसमावेशी" है, वस्तुतः सिद्ध नहीं हो सका है।

दार्शनिक पद्धति के वास्तविक स्वरूप के संबंध में इतना मत वैभिन्य है कि दर्शनशास्त्र को किसी विशेष पद्धति के संदर्भ में अथवा सहायता से पारिभाषित करने का तात्पर्य दार्शनिक विवाद में किसी एक पक्ष का साथ देना है। यदि हम दर्शनशास्त्र में आगे बढ़ने के सही तरीके की खोज के इन दावों पर गौर करें, तो हम पायेंगे कि इन दावों की पुष्टि उन दार्शनिकों के अभ्यास या व्यवहार (Practice) द्वारा भी नहीं होती, जो ऐसे दावे करते हैं। उदाहरणार्थ प्रयोगात्मक पद्धति को महत्त्व देनेवाले ह्यूम द्वारा प्रयुक्त युक्तियाँ स्वरूपतः प्रयोगात्मक नहीं हैं। इसी तरह विट्गेंस्टाइन् के "ट्रैक्टॅटस्" का अधिकांश भाग निरर्थक (Nonsense) के अनावरण से सम्बद्ध नहीं है। बात केवल इतनी नहीं है, कुछ उदाहरण ऐसे भी हैं, जहाँ पद्धति पर ही संदेह होने लगता है। प्रमाणस्वरूप हम हेगल की द्वन्द्वात्मक तर्कपद्धति तथा हुर्सल की "ब्रेकेटिंग" की पद्धति को ले सकते है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सर्वाधिक चौंकानेवाला तथ्य यह है कि एक ही दार्शनिक पद्धति को मानने वाला दृष्टिकोण सदैव कुछ ऐसे दार्शनिक सिद्धांतों पर आधारित रहता है, जो स्वयं उस पद्धति के द्वारा अर्जित नहीं किये जाते। उदाहरणार्थ, विश्लेषण के पूर्व ही विश्लेषणवादी "परम सरल" (ultimate Simples) तथा "जटिल" के भेद को मानकर आगे बढ़ते हैं। इसी तरह फेनॉमेनॉलॉजी में "प्रदत्त" (Given) तथा उसकी व्याख्या का भेद पूर्वमान्य है, जबकि फनॉमेनॉलॉजि की पद्धति का एक नियम अन्वेषण का "पूर्वमान्यतारहित" होना है।

उपर्युक्त कठिनाइयों के कारण कुछ चिंतकों का यह अभिमत है कि दर्शनशास्त्र में वस्तुतः कोई सर्वोच्च या सर्वमान्य पद्धति नहीं हो सकती। दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में अनेक पद्धतियों की स्वीकार्यता के समर्थक ये चिंतक यह मानते हैं कि ज्ञान की प्राप्ति या उपलब्धि के लिये कोई भी एक दार्शनिक पद्धति निरुपाधिक रूप से सक्षम नहीं हो सकती। हाँ, इतना अवश्य है कि कुछ दार्शनिक पद्धतियों को अन्य पद्धतियों से श्रेष्ठ माना जा सकता है। बहुपद्धति समर्थक ये दार्शनिक अपने मत की पुष्टि के लिये अनेक तर्क तथा आधार प्रस्तुत करते हैं। उदाहरण के लिये हम मूर को ले सकते हैं जो अव्यक्त रूप से यह सुझाव देता है कि दर्शनशास्त्र का निश्चित विषय-वस्तु एवं सीमाओं को परिभाषित करने का न कोई उपयोग है और न ही कोई आशा। और जब दर्शन की विषय-वस्तु को ही परिभाषित नहीं किया जा सकता, तब उसकी समस्याओं के समाधान के लिये किसी सर्वसम्मत दार्शनिक पद्धति की खोज निष्फल प्रयास है। अन्य चिंतक भी यह मानते हैं कि दर्शनशास्त्र की एक सर्वमान्य परिभाषा के अभाव में किसी भी पद्धति को अंतिम या एकमात्र पद्धति नहीं माना जा सकता। इन चिंतकों का कहना है कि परिकल्पना को छोड़ कर यदि अन्य कोई भी पद्धति स्वीकार की जायगी तो वह पूर्वाग्रहयुक्त एवं प्रकल्पनात्मक सिद्ध होगी, क्योंकि वह दर्शनशास्त्र को एक विशेष परिभाषा को सर्वसम्मत मानकर चलेगी, जबकि ऐसी कोई सर्वसम्मत परिभाषा संभव नहीं है। दूसरा ओर, परिकल्पना भी अपने आप में दार्शनिक पद्धति नहीं हो सकती। ये चिंतक स्पष्टतः स्वीकार करते हैं कि एक सार्वभौमिक दार्शनिक पद्धति की स्थापना हमारी मानवीय शक्ति से परे है। अधिक-से-अधिक केवल इतना पूछा जा सकता है कि सार्वभौम न सही, पर क्या अन्य कोई उपयोगी एवं सशक्त पद्धति दर्शनशास्त्र में संभव है? वस्तुस्थिति यह है कि यदि हम दर्शनशास्त्र में कुछ भी स्थिर (Static) मानते हैं, चाहे वह पद्धति ही क्यों न हो, तो दार्शनिक ज्ञान पूर्वनिर्धारित हो जायेगा और इसका अर्थ उसी गलती की पुनरावृत्ति करना होगा जो कांट जैसे महान् दार्शनिक ने की थी तथा जिसे "प्रागनुभविकतावाद" कहा जाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

दर्शनशास्त्र का इतिहास यह बताता है कि एक सार्वभौमिक पद्धति का दावा व्याख्या संबंधी ऐसी समस्याओं को जन्म देता है जो उन समस्याओं से भी जटिल है, जिन्हें यह हल किया करता है।

कुछ ऐसे भी नरमदलीय दार्शनिक हैं जो यह मानते हैं कि दार्शनिक अन्वेषण समीक्षा तथा सृजन में अन्य क्षेत्रों की विधियों का समावेश किया जाना चाहिए; यद्यपि अन्य क्षेत्रों की विधियों का प्रयोग इस तरह किया जाना चाहिए कि वह दर्शनशास्त्र के सर्वसमावेशी (Comprehensive) कार्य को साधक सिद्ध हो।

यह प्रश्न पूछा जा सकता है कि आखिर दार्शनिक एक सर्वमान्य दार्शनिक पद्धति के विषय में सहमत क्यों नहीं हो सकते ? इस प्रश्न के उत्तर में दार्शनिक भी यह प्रश्न पूछ सकता है कि दार्शनिक पद्धतिशास्त्र के क्षेत्र में इस प्रकार की सहमति वांछनीय या आवश्यक क्यों मानी जानी चाहिए ? इस तरह हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कोई भी एक पद्धति एकमात्र दार्शनिक पद्धति होने का गौरव प्राप्त नहीं कर सकती। इतना अवश्य है कि चूंकि दर्शनशास्त्र मूल्यात्मक (Evaluative) चिंतन है, अतः दर्शनशास्त्र का यह कर्तव्य है कि वह विभिन्न दार्शनिक पद्धतियों का मूल्यांकन करे।

दर्शनशास्त्र विभाग
रानी दुर्गावती विश्वविद्यालय,
जबलपूर (म. प्र.)

—छाया राय

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कालिदास और अश्वघोष–सौन्दर्य-दृष्टि

भारतीय चिन्तन 'स्व-भाव' से बँधकर पलता है– वह क्षेत्र चाहे व्यवहार का हो या शास्त्र का अथवा काव्य का। व्यक्ति की चिन्तन-क्षमता तो उससे बंधी रहकर गतिशील होती ही है– सर्जनात्मक (अतिबौद्धिक) क्षमता भी उसी से परिचालित होती है। यही कारण है कि यहाँ के साहित्य-चिन्तन में 'स्व-भाव' या 'रस' को इतनी मूर्द्धन्य प्रतिष्ठा मिली। 'स्वभाव' में प्रतिष्ठित सर्जनात्मक क्षमता 'स्वभाव' की ओर ही तो जाएगी– आन्तरात्मिक यात्रा 'सौन्दर्यमय' होगी। इस प्रकार भारतीय चिन्तना सौन्दर्य का विचार 'रस' के सन्दर्भ में करती है। काव्य में 'रस' भाव का ही परिणत रूप है– पर उस 'भाव' का जो देश-काल तथा व्यक्ति के सम्बन्ध से मुक्त हो चुका है– साधारणीकरण की प्रक्रिया से गुजर चुका हो। जो आनन्द दे– वही सुन्दर। यों सौन्दर्य ऐन्द्रिय, मानस और आध्यात्मिक– तीनों स्तरों पर कौंधता है– पर उसी को जो 'स्व-भाव' में प्रतिष्ठित हो– ऊर्ध्व भूमि से देखता हो। कालिदास और अश्वघोष– दोनों ही अध्यात्म-भूमि में तृप्ति की बात करते हैं। अश्वघोष यद्यपि मानते हैं–

"इत्येषा व्युपशान्तये न रतये" [1]

काव्य की रचना का मूल उद्देश्य तृष्णा-शामन है– न कि रति, फिर भी कल्याणमित्र आनन्द श्रावक नन्द को वाचिक देशना करते हुए कहता है—

रिरेसा यदि ते तस्मादध्यात्मे धीयतां मनः।
प्रशान्ता चानवद्या च प्रनास्त्यध्यात्मसमा रतिः॥ १८।६३॥ [2]

अर्थात् रति या आनन्द प्राप्त करना ही हो– रमण की इच्छा चरितार्थ करनी हो– तो अध्यात्म में मन लगाओ। अध्यात्मरति के समान प्रशान्त और अनवद्य रति दूसरी कोई नहीं है। जो आनन्दमय है, वही सुन्दर भी है– शेष

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अनध्यात्म विषय आनन्दमय नहीं है– फलतः सुन्दर भी नहीं है– फलतः त्याज्य है– ग्राह्य नहीं है। सुन्दरी के प्रति आकर्षण दुःख-पर्यवसायी है– फलतः वह असुन्दर और त्याज्य है। नन्द की इस विरक्ति को तीव्र करने के लिए स्वर्ग की अप्सराएँ दिखाई जाती हैं और अन्ततः वह विषय की ओर से पूर्णतः अपनी रिरेसा का क्षय कर डालता है।

कालिदास की स्थिति अश्वघोष से भिन्न है। कालिदास उन पदार्थवादियों से भिन्न हैं, जो सौन्दर्य को वस्तुनिष्ठ मानते हैं और उन आत्मवादियों से भी भिन्न हैं, जो केवल आत्मगत सौन्दर्य स्वीकार करते हैं और आत्मेतर में उसका विरोध करते हैं– फलतः उसे त्याज्य मानते हैं। कालिदास की दृष्टि अश्वघोष से भिन्न है– वह शिव और पार्वती– दोनों को संपृक्त और आराध्य मानते हैं– वह दोनों के अविरोध या सामंजस्य में सौन्दर्य देखते हैं– उनके यहाँ पुरुष और प्रकृति दोनों ग्राह्य हैं– तत्त्वतः कोई त्याज्य है ही नहीं। जिस भूमि से सौन्दर्य को देखने का प्रस्ताव वह करते हैं– वह समाधिलभ्य है। पार्वती उस रूप-गत ऐन्द्रिय स्तर के सौन्दर्य को त्याज्य और निंद्य मानती हैं, जो शिव-विरोधी है। फलतः वह सौन्दर्य 'सौन्दर्य' है ही नहीं। शिव के मानस को शिव-विरोधी काम उत्तेजित करता है और उस उत्तेजित भाव से आँजे हुए नेत्र पार्वती के रूप की ओर आकृष्ट होते हैं– रागातिरेक पैदा होता है और सौन्दर्य गोचर होता है, पर दूसरे ही क्षण इसको त्याज्यता का बोध हो जाता है। काम ध्वस्त हो जाता है और तन्मूलक अग्राह्य सौन्दर्य भी। शिव ही नहीं, पार्वती भी उस रूप-गत सौन्दर्य की हृदय से निन्दा करती है– ऐसी चारुता किस काम की– जो शिव-विरोधी या अशिवकर हो। पर यह निम्न भूमि से देखा गया पक्ष है– ऊर्ध्वभूमि से– समाधि-गम्य भूमि से देखे जाने पर वही ग्राह्य हो जाता है– शिव अविरोधी होता है। वास्तव में अश्वघोष त्यागमार्गी हैं और कालिदास ग्रहणमार्गी। उनका ग्रहण सर्वग्राही है– पर नीचे से नहीं, ऊपर से। वह त्याज्यता के आगन्तुक निमित्त को ध्वस्त कर उसमें निहित तात्त्विक ग्राह्यता को उभार देते हैं। यह सत्कविवादी हैं। शिव और पार्वती– दोनों को ऊर्ध्व स्तर से देखे गए रूप-गत सौन्दर्य के लिए कालिदास कहलवाते हैं—

'यदुच्यते पार्वति, पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारि तद्वचः।'[3]

हे पार्वती, यह बात बिल्कुल सही है कि उच्च स्तर से देखने पर रूप-गत सौन्दर्य पाप-वृत्ति पैदा नहीं करता, इसी विश्वास से पार्वती भी आत्मगत रूप को, रूप-गत चारुता को, प्रिय शिव के लिए ग्राह्य बनाने का संकल्प लेती है और

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तपश्चर्या से उसे चरितार्थ करती है। इसी सौन्दर्य से 'तथाविध प्रेम पतिश्चता-दृशः' [४]– मिलता है। सौन्दर्य से प्रेम और प्रेम से सौन्दय रहता है। सामान्य व्यवहार में भी हम इस तत्त्व का परिचय पाते रहते हैं। एक कवि कहता है–

भावेर अंजन माखिजे दिके पालटि आँख।
नेहारि जगत् एइ असीम सुन्दर॥ [५]

अर्थात् हृदय में यदि प्रेम हो, शक्ति को उत्तेजित कर अशक्ति में परिणत कर देने वाला निम्नस्तरीय काम नहीं– और आँखें उसी राग या प्रेम से रंजित हों, तो सर्वत्र सौन्दर्य ही दिखाई देता है। प्रेम ही सौन्दर्य प्रकट करता है और सौन्दर्य ही प्रेम भी पैदा करता है। जिसे जो प्यार करे, उसके लिए वह सुन्दर। वस्तुतः दोनों में परस्पर व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध है– कौन पहले हो और कौन बाद में– यह कहना कठिन है। तपश्चर्या से शक्ति या प्रकृति– आत्मा का काउण्टरपार्ट– शक्तिमान् या पुरुष में और शक्तिमान् या पुरुष शक्ति या प्रकृति में तथाविध प्रेम पैदा कर सकता है। यदि पार्वती इस प्रेम के लिए—

'समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः' [६]

होती है– तो शिव भी—

'केनापि कामेन तपश्चचार' [७]

इस प्रकार दोनों के ऊर्ध्वभूमि में प्रतिष्ठित होने पर जो सौन्दर्य ऐन्द्रिय, मानस और आत्म स्तर पर अनुभूत होता है– वही सौन्दर्य कालिदास की दृष्टि में सौन्दर्य है। वह सौन्दर्य रूप में कालिदास को अभिमत नहीं है, जिसे आश्रम में प्रमादी दुष्यन्त उन्मादी शकुन्तला को देखता है। वैभव के शिखर पर आसीन राजा तो प्रायः उन्मादी होते ही हैं– आश्रम में प्रविष्ट होने वाला मदमत्त गज इसी का प्रतीक है, पर तपोवन में रहने वाली शकुन्तला भी उन्मादिनी होगी– तो कालिदास का दुर्वासा कभी बर्दाश्त नहीं कर सकता। कालिदास का दुर्वासा 'प्रत्यभिज्ञा' का रहस्य जानता है– फलतः शकुन्तला की सखियों द्वारा उस मार्ग का संकेत करता है, सौन्दर्य के साक्षात्कार का मार्ग वहाँ है। [८]

कालिदास इस तथ्य को भी मानते हैं– उनकी सौन्दर्य दृष्टि में यह निहित है कि प्रेम और सौन्दर्य में परस्पर व्यंग्य-व्यंजक भाव सम्बन्ध है– देखें—

रम्याणि वीक्ष्य मधुरांश्च निशम्य शब्दान्
पर्युत्सुकी भवतियत्सुखितोऽपि जन्तुः।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

तच्चेतसा स्मरति नूनमबोधपूर्वं
भावास्थिराणि जननान्तर सौहृदानि ॥ ९

सुन्दर वस्तु को देखकर अथवा मधुर शब्द सुनकर जो कभी-कभी सुखित व्यक्ति भी अनमना हो उठता है– तो निश्चय ही चाहे विषय का ठीक बोध न हो– पर वासना-रूप में स्थिर चिर राग की स्मृति किसी और गहरी चेतना के स्तर पर जग ही जाती है। वैसे अभिनवगुप्त का कहना है कि यह स्मृति तार्किकों की स्मृति नहीं है– अपितु प्रतिमान रूपा है– यह एक प्रकार का साक्षात्कार ही है। जो भी हो– यहाँ इतना कहना है कि सुन्दर और राग में व्यंग्य-व्यंजक-भाव सम्बन्ध है। एक के देखने से जिस दूसरे की स्मृति हो आती है– निश्चय ही दोनों में सम्बन्ध है। नित्य सम्बद्ध वस्तुओं में ही एक के देखने से दूसरे की स्मृति हो आती है। तत्त्वतः सुन्दर को देखकर राग का स्मरण हो आना किसी पूर्वानुभव की सत्ता सिद्ध करता है। द्रष्टा प्रेमी है और योग्य सुन्दर आस्वाद है सौन्दर्य का। एक तरफ धर्मी और धर्मों का अभेद और दूसरी ओर भोक्ता ही भोग्य– कुल मिलाकर—

'भोक्तैव भोगरूपेण सदा सर्वत्र संस्थितः।' १०

रस-स्फूर्ति के समय इसका पृथग्भाव होता भी कहाँ है? वहाँ अखण्ड चेतना स्वयं ही स्वयं का आस्वाद लेती रहती है।

इस सन्दर्भ में एक बात और– कालिदास त्यागमार्गी नहीं है– उनके यहाँ कुछ भी असुन्दर नहीं है– पर द्रष्टा भी तो हो। जिस द्रष्टा के चित्र में मल या चांचल्य है, तब ग्राह्य सौन्दर्य कैसे दृष्टिगोचर होगा? जो सौन्दर्य दिखाई पड़ेगा– वह ऊर्ध्वभूमि से न देखे जाने के कारण त्याज्य ही ठहरेगा। काम-बाण प्रयुक्त चित्र चांचल्य से व्यापारशील हर के नेत्र के समक्ष दृश्य रूप गान सौन्दर्य इसीलिए त्याज्य हुआ। अभिप्राय यह कि उस चित्तगत मल का भी निमित्त था काम-अधोभूमि। सच्चे सौन्दर्य से द्रष्टा को इस अधोभूमि को समाप्त करना होगा। इसीलिए कालिदास कामदहन कराता है। रस-सिद्ध कवि वही है, जो सबको प्यार करे, प्यार इसलिए कि उसे सभी सुन्दर दिखाई पड़ता है। अश्वघोष की दृष्टि से भिन्न कालिदास की दृष्टि में जगत् सौन्दर्य सार है क्योंकि वह ऊर्ध्वभूमि या अचंचल भूमि पर बैठकर देख रहा है।[११]

अन्ततः देखना यह है कि यह ऊर्ध्वभूमि क्या है? वास्तव में सौन्दर्य का ग्रहण सहृदय करता है और सहृदय वह है, जिसमें सहृदयता हो। सहृदयता

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अभिनवगुप्त के शब्दों में – 'वीर्य विक्षोभमात्मा' है।[१२] बौद्ध सिद्ध मानते हैं कि परमार्थतः बोधिचित्त ही सांवृत्तिक शुक्र है– उसी का शोधित रूप बोधिचित्त है। परमार्थ-स्तरीय स्पंदात्मा शक्ति ही देह के स्तर पर शुक्र है– जिसको तीन स्थितियाँ सम्भव हैं– निःस्पंद, सस्पंद और उत्तेजित। शक्ति मध्य ही है– ध्रुवान्त कोटियाँ नहीं।[१३] कुछ लोग सुन्दर से सर्वथा प्रभावित ही नहीं होते– उन्हीं के लिए आचार्यों ने 'काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः' कहा है।[१४] तीसरे वे होते हैं, जो 'सुन्दर' को देखकर उत्तेजित हो जाते हैं– शुक्र उत्तेजन की स्थिति में आ जाता है– यह स्थिति 'शक्ति' की स्थिति ही नहीं है– वहाँ वही शक्ति 'अशक्ति' या कमजोरी बन जाती है– फिर बलहीन व्यक्ति अपात्र हो जाता है– 'अहृदय' हो जाता है– वह 'सहृदय' है ही नहीं– वहाँ सहृदयता का वीर्यविक्षोभ नहीं है– स्पंदन नहीं है– अपितु उत्तेजन है। यही 'उत्तेजन' निम्नभूमि है और 'स्पंदन' ऊर्ध्वभूमि।[१५] अतीन्द्रिय या अ-व्यक्तिगत स्तर पर सौन्दर्य-भोग की यही समुन्नत या ऊर्ध्वभूमि है। कुंतक ने वस्तुमात्र या जगत् को स्पंद-स्वभाव फलतः सुन्दर माना है– अतः ग्राह्य तो स्पंदात्मा है– गृहीता भी स्पंदात्मा– तभी तो संवाद है– सौन्दर्य भाग है।[१६] कालिदास की दृष्टि इसी भूमि पर प्रतिष्ठित दृष्टि है।

देवास रोड, उज्जैन (म. प्र)

– राममूर्ति त्रिपाठी

टिप्पणियाँ

१. सौंदरानन्द, सम्पादक– चिन्ताहरण चक्रवर्ती, कलकत्ता, सम्वत् १९३९, पृष्ठ १२६ (१८।६३)

२. वही– (११।३४), पृ. ७१।

३. कालिदास ग्रन्थावली, सम्पादक– रेवाप्रसाद द्विवेदी, १९७६, पृष्ठ ७१।

४. वही– पृष्ठ ६९।

५. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग–२, पृष्ठ ३१२, कविराज पण्डित गोपीनाथ, पटना, राष्ट्रभाषा परिषद्, सन् १९६४।

६. कुमारसम्भव, कालिदास ग्रन्थावली, पृष्ठ ६९।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

७. वही

८. किन्त्वभिज्ञातामरणदर्शनेन..... । कालिदास ग्रन्थावली, पृष्ठ ४७९ ।

९ कालिदास ग्रन्थावली– पृष्ठ ४९७ ।

१०. भरत नाटयशास्त्र– अभिनव भारती,

११. भारतीय सस्कृति और साधना, भाग–२, पृष्ठ ३१२ ।

१२. परात्रिंशिका– अभिनवगुप्त, पृष्ठ ४९, काश्मीर संस्कृत ग्रन्थावली, १९१८।

१३. भारतीय संस्कृति और साधना, भाग–१, पृष्ठ ५३३ ।

१४. साहित्य दर्पण, पृष्ठ ७३, कलकत्ता संस्करण, १८७६ शक ।

१५. अहृदयांश्च तदैव नैर्मल्याद्यपि यत्र प्रतीत गीतवाद्यगणिकादयो न व्यसनितार्थं पर्यवस्यन्ति — अभिनव भारती, भाग–१, पृष्ठ २८७ ।

१६. वक्रोक्ति जीवित – " भाषानाम् वर्ण्यमानवृत्तीनां स्वरूपं परिस्पंद, पृष्ठ २९६, चौखम्बा, १९६७ ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सोरेन किर्केगार्ड का मानव व्यक्ति–एक विवेचन

दर्शनशास्त्र के क्षेत्र में "मानव", "व्यक्ति" तथा "पुरुष" जैसे शब्दों का प्रयोग कर "मनुष्य" की व्याख्या का भरपूर प्रयास किया गया है। किन्तु अस्तित्ववादी विचारधारा में इसे और सुनिश्चित रूप देने के क्रम में "मानव व्यक्ति" (Human Person) शब्द का प्रयोग किया जाता है। जैसा कि स्पष्ट है "मानव व्यक्ति" शब्द दो शब्दों से बना हुआ है– "मानव" तथा "व्यक्ति"। यहाँ व्यक्ति शब्द का अर्थ वैयक्तिक सत्ता से है जो सप्राण आत्मा या आत्मचेतन सत्ता का बोधक है। इसी प्रकार "मानव" शब्द उस आत्मचेतन सत्ता के गुणों का बोधक है जो स्वभावरूप में उनमें निहित हैं। अतः "मानव व्यक्ति" वैयक्तिक सत्ता के सम्पूर्ण स्वभाव का संकेतक है जो मनुष्य को समग्रता में उपस्थित करने में सक्षम है। इस निबंध का उद्देश्य सोरेन किर्केगार्ड के अस्तित्ववादी दर्शन में निहित "मानव व्यक्ति" के विचारों का समीक्षात्मक रूप उपस्थित करना है।

अस्तित्ववादी विचारकों में सोरेन अबे किर्केगार्ड ही ऐसे चिन्तक हैं जिन्होंने सर्वप्रथम मानव व्यक्ति के अस्तित्व को जगत् के परिवेश में समझने का प्रयास किया है। इन्होंने मात्र सैद्धान्तिक व्याख्या करनेवाले चिन्तकों की आलोचना की है। इनके अनुसार मानव व्यक्ति मात्र तर्क-चिन्तन की विषय-वस्तु नहीं हैं, बल्कि उसका अपना आत्मपरक अस्तित्व है तथा उनकी अपनी-अपनी विभिन्नताएँ हैं। इन्हें तार्किक धारणा के रूप में न समझकर मूर्त सत्ता के रूप में समझ जाना ही वास्तविक एवं श्रेयस्कर है। इस दृष्टिकोण से सोरेन किर्केगार्ड ने यह देखा है कि अस्तित्ववान् व्यक्ति अपने को जगत् में अभिव्यक्त करता है तथा ऐसी अभिव्यक्ति के लिए वह जीता और मरता है। राबर्ट ब्रेटॉल द्वारा सम्पादित किर्केगार्डस् अन्थॉलॉजी जैसी पुस्तक की भूमिका में स्पष्टतः लिखा गया है, "अस्तित्ववादी चिन्तन एक निश्चित बिन्दु से आरम्भ होते हैं, जिसे दूसरे स्वच्छन्दता कह सकते हैं, किन्तु यह चिन्तक की दृष्टि से स्वच्छन्दता का बोधक नहीं हैं, क्योंकि यह उनके अस्तित्ववान् व्यक्ति की चरम उद्विग्नता को अभिव्यक्त करते हैं, यह वैसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सरल विचार का बोधक है जिसके लिए वे जीने एवं मरने के संकल्प कर सकते हैं।" इससे यह स्पष्ट है कि किर्केगार्ड का दर्शन जीवन की आभ्यन्तरिक आत्मपरकता से निर्देशित होता है, जिसमें परिताप तथा घोर व्यथा का भाव देखा जाता है। यह भाव नैतिक एवं धार्मिक समाधान की ओर उन्मुख होता है तथा इसके मार्ग में पीड़ित व्यक्ति भावनाओं एवं तीव्र विश्लेषण की स्थिति से गुजरता है।

किर्केगार्ड ईसाई धर्म के आडम्बरपूर्ण वातावरण से असंतुष्ट थे तथा वे ईसाई अन्धविश्वासों के प्रति विद्रोह कर चुके थे। उन्होंने यह अनुभव किया था कि ईसाई चर्च व्यक्ति के प्रति स्वतन्त्र समर्पण का विरोध किया करते थे। इस उबे हुए वातावरण के कारण ही वे मानव व्यक्ति की व्याख्या स्वतन्त्र व्यक्ति के रूप में करना चाहते थे। ऐसी पृष्ठभूमि में उन्होंने आत्मपरक एवं वस्तुपरक विचारों के बीच भेद किया था। किर्केगार्ड द्वारा विवेचित मानव व्यक्ति को ऐसी ही पृष्ठभूमि में समझा जा सकता है।

किर्केगार्ड की यह मान्यता है कि अस्तित्ववान् व्यक्ति आत्मपरक आत्मचिन्तन में ही अपने अस्तित्व की पूर्ण अभिव्यक्ति कर सकता है। जब कभी भी वस्तुपरक चिन्तन की स्थिति आती है तो वहाँ अमूर्तबोधन तथा मात्र मीमांसात्मक चिन्तन की प्रधानता हो जाती है। ऐसी स्थिति में अस्तित्ववान् व्यक्ति ही नहीं, वस्तु का अस्तित्व भी प्रत्यात्मक रूप धारण कर लेता है। किर्केगार्ड यह मानते हैं कि अस्तित्ववान् व्यक्ति सदा अपने आत्मपरक विचारों में घुलनशील रहता है, वह अपनी आभ्यन्तरिकता में निवास करता है तथा सदा भव की प्रक्रिया में रहता है। ऐसी स्थिति में वस्तुपरक चिन्तन एवं आत्मपरक चिन्तन के बीच का परिचिन्तनात्मक रूप भी स्पष्ट हो जाता है। वस्तुपरक विचारों में व्यक्ति सुलभ स्थिति में तैयार प्रतीत होता है तथा उसमें स्थैतिकता देखी जाती है। इससे भिन्न आत्मपरक चिन्तन में निवास करनेवाले अस्तित्ववान् व्यक्ति सदा नए अस्तित्व को प्रक्षेपित करने की स्थिति में रहते हैं। इन्होंने लिखा भी है कि आत्मपरक विचार समस्त वस्तुओं को गत्यात्मक रूप दे देते हैं तथा परिणाम पर उसे नहीं ले जाते; अंशतः ऐसी स्थिति उसकी अपनी स्थिति होती है जो ऐसे मार्ग का अनुसरण करता है तथा अंशतः अस्तित्ववान् व्यक्ति सतत भव की प्रक्रिया में रहता है।[१] इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि अस्तित्ववान् व्यक्ति हमेशा अस्तित्ववादी परिस्थिति की रचना करता है तथा इसे वह अपने विचारों में व्यक्त करता है। उसके विचार भव की प्रक्रिया का प्रतिनिधित्व करते हैं। इनसे अस्तित्व की असीमित विशेषताओं का भान होता है क्योंकि ऐसे अस्तित्व को स्थैतिक रूप से समझना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कठिन हो जाता है। यही वह स्थिति है जहाँ आत्मपरक व्यक्ति अस्तित्ववान् रहता है। ऐसे व्यक्ति के संवाहन के रूप सुगम एवं साक्षात् पहुँच की सीमा से परे होते हैं। किर्केगार्ड अस्तित्ववान् व्यक्ति को ही वास्तविक मानव व्यक्ति की संज्ञा देते हैं तथा इन्हें संघर्षशील या प्रयत्नशील व्यक्ति मानते हैं। ऐसे व्यक्ति सीमित लक्ष्य के लिए संघर्ष नहीं करते, वैसे लक्ष्य के लिए संघर्ष नहीं करते जो शीघ्र पूर्ण हो जाते हैं। ये तो असीम लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सतत संघर्षशील एवं प्रयत्नशील रहते हैं। अतः किर्केगार्ड के अनुसार संघर्षशील व्यक्ति ही अस्तित्ववान् व्यक्ति है। संघर्ष या प्रयत्न गत्यात्मक जीवन का प्रतीक है। प्रयत्न का अभाव या संघर्ष का अभाव स्थिति या जड़ता का बोधक है। इस दृष्टि से सतत गतिशील व्यक्ति ही अस्तित्ववान् व्यक्ति है। किर्केगार्ड यह मानते हैं कि वास्तविक मानव व्यक्ति वही है जो अनवरत प्रयत्न करता है, मुकाबला करता है, परिस्थितियों से लड़ता है तथा भाव एवं निषेध के संतुलन में निवास करता है। उनके लिए हास्य तथा कारुणिकता दोनों ही अनिवार्य होते हैं। ऐसी स्थिति अस्तित्ववान् व्यक्ति के चिन्तन में प्रतिबिम्बित होती है।[२] इस प्रकार भव की प्रक्रिया ही अपने-आप में अस्तित्व की, अस्तित्ववान् व्यक्ति की या आत्मपरक चिंतक की बोधक है।

अस्तित्ववान् व्यक्ति को अस्तित्ववान् व्यक्ति बने रहने देने की शक्ति ही अस्तित्व की विलक्षण विशेषता होती है। यही अस्तित्ववान् व्यक्ति को प्रेमपूर्ण संघर्ष के लिए बाध्य करता है। ससीम एवं असीम की एकता को अस्तित्ववादी दृष्टि से अनुभूत करने में भी यही शक्ति कार्यरत रहती है। ऐसी अनुभूति भावना की तीव्रता में अभिव्यक्त होती है। जीवन जीने का उद्देश्य भी इसका एक रूप है। किर्केगार्ड लिखते भी हैं :

"अस्तित्व, ससीम एवं असीम, अशाश्वत एवं शाश्वत से जन्मा शिशु है, और इसलिए यह सतत संघर्षशील होता है... इसी कारण से प्रेम को सतत संघर्ष कहा जाता है अथवा इसे ही दूसरे शब्दों में कहा जाता है कि चिंतनकर्ता एक अस्तित्ववान् व्यक्ति है"।[३]

किर्केगार्ड यह मानते हैं कि अस्तित्ववान् व्यक्ति हमेशा निर्णयात्मक विकल्पों का सामना करता है। वह या तो संघर्ष की अनुभूति के माध्यम से अपने अस्तित्व का भान कर सकता है, या इसे भूल सकता है। प्रथम विकल्प का चयन उसे मानव पुरुष की प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेने में सहायता पहुँचाता है। यही उसके नैतिक जीवन की भी अभिव्यक्ति होती है, किन्तु दूसरे विकल्प का चयन अर्थात्

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अपने अस्तित्व को विस्मृत कर देने के कारण उसका सम्पूर्ण व्यक्तित्व हास्यास्पद हो जाता है। किर्केगार्ड यह मानते हैं कि आधुनिक दर्शन में व्यक्ति को हास्यास्पद विकल्प की ओर ही उन्मुख किया गया है। यह स्थिति प्रत्येक मीमांसात्मक दर्शन में देखी जाती है, जहाँ मनुष्य का विवेचन मनुष्य के रूप में न कर एक वस्तु के रूप में किया जाता है। परम्परावादी प्रत्ययवाद इसका महत्त्वपूर्ण उदाहरण है। इस प्रकार किर्केगार्ड यह मानते हैं कि अस्तित्ववान् व्यक्ति का जीवन सतत संघर्ष का जीवन है। ऐसे संघर्ष से ही उसका नैतिक स्वरूप अनिवार्य रूप से निखर आता है। यही चिन्तन अस्तित्ववादी चिंतन है जो तत्त्वसीमांसीय चिंतन से पूर्णतः भिन्न है। जीवन के तत्त्वमीमांसीय दृष्टिकोण में अस्तित्ववान् व्यक्ति को "स्व" की चेतना नहीं रहती, बल्कि वह अपने को चिन्तन की अगाध राशि में डुबा देता है, उसे अपने आप का एहसास नहीं रहता। ऐसी स्थिति को किर्केगार्ड उसकी प्रवंचना की स्थिति कहते हैं। वे तत्त्व-मीमांसीय चिन्तन की परिधि में खोए हुए अस्तित्ववान् व्यक्ति "मानवता" की धारणा में विलीन हो जाता है। उसकी वास्तविकता समाप्त हो जाती है तथा वह सही अर्थ में अस्तित्ववान् नहीं रह पाता है। ऐसे विचार के प्रति अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए किर्केगार्ड यह दिखलाते हैं कि व्यक्ति का अपना अस्तित्व होता है, उसकी अपनी वास्तविकता होती है और यही कारण है कि उसे मानवता की धारणा में अन्तर्लीन नहीं किया जा सकता। यदि कोई व्यक्ति ऐसा करता है तो वह अपने को तुच्छ बना लेता है। इसे ही किर्केगार्ड "सम्भ्रम" की संज्ञा देते हैं।

किर्केगार्ड ऐसी स्थिति पर और भी व्यापक रूप से प्रकाश डालते हैं तथा बतलाते हैं कि व्यक्ति का मानवता के साथ तादात्म्य माना जाना उसे असीम की महान् परिधि में ले जाने का प्रयास किया जाना है। ऐसे प्रयास वस्तुतः व्यक्ति को महत्त्वहीन बनाने के प्रयास हैं। ऐसे प्रयास उनके "विभ्रांत मन" के बोधक हैं।[४]

किर्केगार्ड के अनुसार अस्तित्ववान् व्यक्ति का नैतिक व्यक्तित्व होता है तथा नैतिक व्यक्ति ही अपने जीवन को सफलतापूर्वक जीता है, अपने कर्मों के परिणाम की चिन्ता किए बिना अपनी क्षमता एवं योग्यता के अनुसार सर्वोच्च विकास करने में समर्थ हो पाता है। इसके कारण वह अन्य व्यक्तियों को प्रभावित कर पाता है तथा जगत् की दिशा को भी परिवर्तित करने में सफल हो पाता है।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऐसा लगता है कि इस विचार के द्वारा सोरेन किर्केगार्ड गीता एवं मार्क्स दोनों के विचारों में सामंजस्य लाने की चेष्टा करते हैं। जब कभी भी मानव व्यक्ति अपने कार्यों को गति देता है तो वह यह नहीं जानता है कि इसके क्या परिणाम होंगे ? ऐसे परिणाम उसकी शक्ति की सीमा से परे हैं। अतः कर्मफल की आशा किये बिना सम्पादित कर्म के फलस्वरूप उसके फल सुदृढ़ हो जाते हैं। ऐसे विचार की अभिव्यक्ति भगवद्गीता में भी है जहाँ "कर्मण्ये वाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन"[५] के द्वारा अनासक्त कर्मयोग की दीक्षा दी गई है। किन्तु गीता एवं किर्केगार्ड के विचार में ऐसे साम्य के साथ-साथ भेद भी है। जहाँ गीता का अनासक्त कर्मयोगी फल की कामना किये बिना कर्म करता है वहाँ किर्केगार्ड का अस्तित्ववान् व्यक्ति फल को अपनी पहुँच के परे मानता है तथा परिणाम के सुख से अज्ञानी रहना ही श्रेयस्कर समझता है।

कार्ल मार्क्स से भी किर्केगार्ड तत्सम्बन्धी भिन्नता रखते हैं। मार्क्स मानव को कर्माभिमुख मानते हुए बिना ईश्वर की सहायता के जगत् परिवर्तन की आशा रखते हैं, जबकि किर्केगार्ड जगत् परिवर्तन की अपेक्षा ईश्वराभिमुख मानव व्यक्ति से रखते हैं।

काल एवं शाश्वतता के संबंध की दृष्टि से भी किर्केगार्ड अस्तित्ववान् व्यक्ति की व्याख्या करते हैं। इनके अनुसार शाश्वतता उड़ता हुआ अश्व है। वह शक्तिशाली है तथा उसकी रफ्तार में असीम तीव्रता है। काल मरियल घोड़ा है। अस्तित्ववान् व्यक्ति चालक है। वह ऐसा चालक है जिसके अस्तित्व को तथाकथित ढीले अर्थ में अस्तित्व नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ऐसी स्थिति में उसका चालक होना अर्थहीन हो जाता हैं तथा वह वैसी बैलगाड़ी में बैठे नशा में मत्त किसान की तरह हो जाता है जिसकी बैलगाड़ी अपने ही बल पर चलती रहती है। अतः अस्तित्ववान् व्यक्ति बैलगाड़ी में बैठे नशा में उन्मत्त चालक की तरह नहीं है क्योंकि वैसी स्थिति में उसका वास्तविक अस्तित्व ही अक्षुण्ण नहीं रह पाता। वह बैलगाड़ी में बैठे नशा में उन्मत्त चालक से भिन्न है। वह तो शाश्वतता की तरह है। सदा सृजनशील है, सजग है तथा संघर्षरत है। इसी अर्थ में सोरेन किर्केगार्ड ने यह माना है कि व्यक्तियों के अस्तित्व होते हैं किन्तु अस्तित्ववान् व्यक्ति वस्तुतः सक्रिय, संघर्षशील एवं विकासशील जीवन व्यतीत करते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अस्तित्ववान् व्यक्ति जीवन में सक्रिय रूप से भाग लेता है, समस्याओं से लड़ता है तथा उनका समाधान अपनी क्षमता के अनुसार करता है। ऐसे भी व्यक्ति होते हैं जिनका अस्तित्व होता है किन्तु वे जीवन के क्रिया-कलापों में भाग नहीं लेते। उनके प्रति उनकी रुचि ही नहीं होती, वे ऐसे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्रिया-कलापों को जड़ कौतुक मानते हैं तथा उन्हें निष्क्रिय रूप से देखते रहते हैं। संक्षेप में, वे समय व्यतीत करते हैं, घंटो एवं दिनों को गिनते रहते हैं। ऐसे व्यक्ति को अस्तित्ववान् व्यक्ति की संज्ञा नहीं दी जा सकती। अस्तित्ववान् व्यक्ति अपनी चिन्ता स्वयं करते हैं, जीवन के खेलों में भाग लेते हैं, उन्हें जीतने में रुचि रखते हैं तथा अपने स्वस्थ निर्णयों द्वारा शाश्वत रूप की प्राप्ति के लिए वे अपने व्यक्तित्व का विकास करते रहते हैं। किर्केगार्ड के अनुसार व्यक्ति अपने अस्तित्व के विकास में ही अभिरुचि रखते हैं तथा अस्तित्व के विकास की इस अभिरुचि में ही उनके व्यक्तित्व की वास्तविकता प्रतिबिम्बित होती है। इस दृष्टि से अस्तित्ववान् व्यक्ति के लिए उसकी नैतिक वास्तविकता ही उसका वास्तविक स्वरूप है। इस दृष्टि से ज्ञाता एवं अस्तित्ववान् व्यक्ति के बीच भेद किया जा सकता है। संज्ञानात्मक व्यक्ति वास्तविक व्यक्ति नहीं होते क्योंकि वे सम्भाव्यता की सीमा में ही विवरण करते हैं। ऐसे व्यक्ति अमूर्तबोधन या मीमांसात्मक ज्ञान की परिधि में रहते हैं तथा प्रत्येक क्षण उनके लिए हेतु का क्षण होता है। इसका अर्थ यह है कि मात्र ज्ञान की सीमा में रहनेवाला चिन्तनशील व्यक्ति कारणिक परिधि में ही घूमता है। वह अपनी अन्तर्निहित भावनाओं को मुखरित नहीं कर पाता। फलस्वरूप उसके सम्यक् व्यक्तित्व का विकास भी नहीं हो पाता। वह सम्भावनाओं के बीच तो रहता है, किन्तु ऐसी सम्भावनायें उसके लिए संशयपूर्ण हुआ करती हैं। फल यह होता है कि उसके व्यक्तित्व का विकास निश्चयात्मक दिशा में संभव नहीं हो पाता। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि मात्र विवेक अथवा चिंतन की परिधि में रहनेवाला व्यक्ति अस्तित्ववान् व्यक्ति नहीं हो सकता, क्योंकि उसका विकास ऐसी परिस्थिति में एकांगी हुआ करता है। सम्यक् विकास की अनिवार्यता के लिए विवेक, संकल्प तथा भावना का एक समन्वय अनिवार्य है। इसी दृष्टि से किर्केगार्ड मानव अस्तित्व को अनिवार्यतः सत्य, सौन्दर्य एवं शुभ की त्रिवेणी मानते हैं। यह अस्वीकारा नहीं जा सकता है कि वास्तविक मानवीय भावों की पूर्णता शुभ, सौन्दर्य तथा सत्य के उद्घाटन में देखी जाती है। अस्तित्ववान् व्यक्ति इन तीनों का समग्र रूप है। अस्तित्व की अनुभूति, सत्य-क्रम, सौन्दर्य एवं शुभ के अपेक्षित महत्त्व को स्पष्ट करते हुए किर्केगार्ड लिखते हैं- "सत्य, शुभ एवं सौन्दर्य से उच्च नहीं होते, बल्कि सत्य, शुभ एवं सौन्दर्य अनिवार्यतः प्रत्येक मानव अस्तित्व में निवास करते हैं और इनकी एकता अस्तित्ववान् व्यक्ति के विचार में नहीं बल्कि अस्तित्व में देखी जाती है।"

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

भावना एवं संकल्प के महत्त्व को मानव व्यक्तित्व के अनिवार्य तत्त्व के रूप में स्वीकारते हुए किर्केगार्ड यह बतलाते हैं कि कल्पना तथा भाव अस्तित्ववान् व्यक्ति में निहित होते हैं, भाव की तीव्रता तथा अस्तित्ववादी आभ्यन्तरिकता भी द्वन्दात्मक रूप में अस्तित्वान् व्यक्ति में निहित होती है। मनोभाव के बिना अस्तित्व को सोचा नहीं जा सकता क्योंकि यह शाश्वतता का मार्ग प्रशस्त करता है। मानव–मनोभाव शाश्वत आनन्द के साथ सम्बन्ध स्थापित करने में अपनी चरम परिणति को प्राप्त कर लेते हैं। निरपेक्ष मनोभाव शाश्वत आनन्द की ओर उन्मुख होते हैं तथा इनके भाव अस्तित्ववान् व्यक्ति में अभिव्यक्त होते हैं। ऐसी ही स्थिति में चयन का द्वन्द्व भी व्यक्ति महसूस करता है। जितना अधिक शाश्वत आनन्द एवं कारुणिक संघर्ष के बीच सम्बन्ध होता है उतना ही अधिक व्यक्ति भूल करने के संकट की चेतना के निकट आ पाता है। अतः किर्केगार्ड के अनुसार मनोभाव की तीव्रता व्यक्ति के विकास के क्रम में शाश्वत आनन्द की ओर प्रगति करने की तीव्रता का बोधक है। ऐसी ही प्रगति में अस्तित्ववान् व्यक्ति के वास्तविक अस्तित्व की अनुभूति होती है।

किर्केगार्ड के अनुसार अस्तित्ववान् व्यक्ति जहाँ एक ओर असीम का बोधक है वहाँ दूसरी ओर अस्तित्व की असीमता की प्राप्ति भी उसका लक्ष्य है। ये मानते हैं कि अस्तित्ववान् व्यक्ति का अस्तित्व ससीम एवं असीम का संश्लेषण है। असीम सर्वोच्च शुभ का प्रतीक है तथा सर्वोच्च शुभ शाश्वत आनन्द का बोधक है। अतः प्रत्येक अस्तित्ववान् व्यक्ति सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति में ही शाश्वत आनन्द की अनुभूति करता है। ऐसे शाश्वत आनन्द अथवा सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति तभी हो सकती है जब वह अपने ससीम संतोषों को असीम आनन्द की बलिवेदी पर निछावर कर देता है। किर्केगार्ड की यह मान्यता है कि प्रत्येक व्यक्ति को अस्तित्ववान् होने के लिए अपने ससीम संतोषों को निछावर करना चाहिए ताकि वह सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति कर असीम आनन्द की प्राप्ति कर सके।

प्रत्येक व्यक्ति अनिवार्यतः मानव सत्ता का प्रतीक है। वह ससीम है तथा ससीम के द्वारा आच्छादित रहता है। वह कभी भी अमूर्त आच्छादन की आशा में नहीं रहता और न उसके लिए प्रयत्नशील ही रहता है, क्योंकि ऐसे अमूर्त वस्त्र से वह अपने आप को विनष्ट कर देता है तथा उसके ससीम वस्त्र भी विनष्ट हो जाते हैं। मानव जीवन का एक विशेष उद्देश्य होता है तथा ऐसे ही उद्देश्य की प्राप्ति में वह संघर्षशील रहता है। ज्योंहि संघर्षशील व्यक्ति ऐसे निरपेक्ष प्रयोजन की प्राप्ति में अपना जीवन जीने लगता है तो वह अपने ससीम

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के मूल को काट देता है। ऐसी स्थिति में वह ससीम में रहते हुए भी ससीम का जीवन व्यतीत नहीं करता। यह कहा जा सकता है कि उसका यह जीवन प्रवासी का जीवन है जिसे वह ससीम जगत् में जीता है। वह यहाँ यह नहीं दिखलाता कि हम इस जगत् के लिए पूर्णतः नये हैं तथा मेरी जो स्थिति है वह विदेशी की स्थिति नहीं है, बल्कि वह यह दिखलाता है कि हम ससीम जगत् में रखते हुए अपने अस्तित्व की अनुभूति के लिए प्रयत्नशील हैं। इस प्रकार किर्केगार्ड मनुष्य को जीवन के केन्द्र में रखकर उसे समझने की चेष्टा करते हैं तथा मानते हैं कि जीवन तर्क की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण है और तर्क अथवा विवेक सत्ता को उद्घाटित करने की वास्तविक कुँजी नहीं है। इस विचार से किर्केगार्ड का बुद्धिवाद के प्रति पूर्ण विरोध का आभास मिलता है। जैसाकि पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि किर्केगार्ड यह मानते हैं कि लोग बुद्धि की वस्तुपरक विधि द्वारा व्यक्ति को समझने की चेष्टा करते हैं तथा ऐसा कर वे उन्हें वास्तविक जीवन से विलग कर देते हैं। यही कारण है कि किर्केगार्ड आत्मपरक विधि को ही अस्तित्व ज्ञान की वास्तविक विधि मानते हैं तथा बतलाते हैं कि सम्वेगात्मक दृष्टि से सजग व्यक्ति तथा स्वतन्त्रतापूर्वक चयन करने वाला व्यक्ति ही वास्तविक अस्तित्ववान् व्यक्ति है तथा ऐसे ही व्यक्ति का जीवन वास्तविक जीवन है।

किर्केगार्ड यह मानते हैं कि मानव सत्ता का स्वरूप वस्तुतः बीमारी का स्वरूप है जहाँ उसे अपनी शक्तिहीनता का अनुभव होता है। वह यह महसूस करता है कि जब तक हम भौतिक जगत् की सीमा को पार कर चेतन जगत् की सीमा में प्रवेश नहीं करते तब तक ऐसी स्थिति को भी पार नहीं कर सकते। यह चेतना अप्रिय चेतना है किन्तु ऐसी अप्रिय चेतना को पार करने या इससे परे जाने के शुद्ध प्रयास में ही अस्तित्व की अनुभूति निहित है। ऐसी ही अनुभवातीत अवस्था को किर्केगार्ड ईश्वर-ज्ञान की अवस्था कहते हैं तथा मानते हैं कि ईश्वरत्व की प्राप्ति के संघर्ष में ही अस्तित्व को प्रामाणिकता निहित है।

किर्केगार्ड व्यक्ति के उद्देश्य पर भी विचार करते हैं तथा बतलाते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति का उद्देश्य जगत् में निवास करते हुए सतत अपने को जगत् में अभिव्यक्त करना है। जब वह अपने उद्देश्य की प्राप्ति की प्रक्रिया में संलग्न हो जाता है तो उसके विशेष अस्तित्व विश्वजनीन अस्तित्व के महत्त्वपूर्ण अंग हो जाते हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति 'विशेष' की तरह है जो 'सामान्य' में अमूर्तबोधन के द्वारा निहित है। इसका यह अर्थ है कि व्यक्ति जब अस्तित्व की अनुभूति के पथ पर अग्रेसर होता है तो उसके निर्णय, चयन एवं स्वतंत्रता के अनिवार्य अंग बन जाते हैं। ऐसी स्थिति में हेगेल जैसे चिंतकों के द्वारा समर्थित

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

निरपेक्ष सत्ता या सामान्य के विचार की भिन्नता किर्केगार्ड के सामान्य व्यक्ति के साथ देखी जा सकती है। मनुष्य एक संगठित परिस्थिति में अपने को पाता है, जहाँ वह अपने को चयन द्वारा समग्र व्यक्तियों के बीच सन्निहित कर लेता है। चयन की क्रिया को वह टाल नहीं सकता। उसे अपनी समस्याओं का समाधान करना ही है, भले वह उनका समाधान अच्छे ढंग से करे या अपनी गलती द्वारा समस्या से समाधान के क्रम में अपने अस्तित्व को अप्रामाणिक बना ले।

किर्केगार्ड व्यक्ति के दो आयामों की चर्चा करते हैं। प्रथम को वे "नैतिक तथा नैतिक-धार्मिक व्यक्ति" की संज्ञा देते है तथा दूसरे को वे "तात्कालिक व्यक्ति" कहते हैं। प्रथम को ही वे अस्तित्ववान् व्यक्ति की संज्ञा देते है। इनके अनुसार ऐसे व्यक्ति के अन्दर धर्मभाव छिपे हुए हैं तथा इनमें आभ्यन्तरिकता देखी जाती है। वे अपने दुःख से दुःखी होते हुए भी अपने दुःख में ही अन्य व्यक्ति के दुःखों का भाव मानते हैं। विनम्रता के साथ वे सदा दूसरे व्यक्तियों को अपनी उपेक्षा योग्य मानते है। उनका यह विश्वास होता है कि अन्य व्यक्तियों के साथ मेरा संबंध ईश्वर प्रदत्त है। ऐसे भाव के अभ्युदय का कारण आभ्यंतर में छिपे धर्म-भाव ही हैं। इसी धर्मभाव के कारण वह अपने को दूसरे व्यक्तियों की अपेक्षा महत्त्वपूर्ण मानता है। तात्कालिक व्यक्ति सदा सौभाग्य की प्राप्ति के लिए अभाग्य से बचने की चेष्टा करता है किन्तु इसमें उसे सफलता नहीं मिलती। वह सदा दूसरों की अपेक्षा अपने को अधिक योग्य मानता है किन्तु उसकी यह आशावादिता समाप्त हो जाती है जब वह दूसरों की अपेक्षा अपने को योग्य नहीं पाता है।

इसी प्रकार वे विभिन्न व्यक्तियों के बीच द्वन्द्वात्मक संबंध की व्याख्या करने के क्रम में तीन प्रकार के व्यक्तियों का भी प्रसंग निर्देश करते हैं। उन्हें वे सामान्य या विश्वजनीन व्यक्ति–विशेष तथा अति विलक्षण व्यक्ति अथवा विशिष्ट व्यक्ति कहते है। उनके अनुसार व्यक्ति–विशेष वह है जो परम्परा का अनुकरण सामान्य रूप से करता है। ऐसे व्यक्ति विश्वजनीन व्यक्ति में परिणत हो जाते हैं, जब वे अपने अस्तित्व की विश्वजनीनता का जीवन व्यतीत करते हैं। यहाँ परम्परा उनके वैसे आधार का काम करती है जो अपने आप के सामंजस्य में समृद्ध होनेवाले निकायों के बोधक होते हैं। वह व्यक्ति अपने जीवन को आदर्श एवं स्थापित क्रम में प्रतिबिम्बित करता है। वह स्वतन्त्र होता है तथा गुणात्मक महत्त्व को भी अपने साथ लिए रहता है। जब व्यक्ति गहन रूप से अपने को परंपरा पर प्रतिबिम्बित करता है तथा परम्परा और मौलिक परम्परागत मान्यताओं को जीत लेता है तथा उत्तरदायित्वपूर्ण रूप से संकटों को वहन करता है तो वह विलक्षण व्यक्ति की कोटि में आ जाता है। ऐसे व्यक्ति नए मापदण्डों को स्थापित करते

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हैं तथा पुरानी परम्पराओं को अपने ढंग से नए रूप में उपस्थित करते ह। किर्केगार्ड यह मानते हैं कि ऐसे विलक्षण व्यक्ति ही शीघ्र ईश्वर की प्रतिष्ठा प्राप्त कर लेते हैं ।

किर्केगार्ड यह मानते हैं कि सामान्य व्यक्ति विलक्षण व्यक्ति बनने के लिए सदा संघर्षरत रहता है तथा ऐसे ही संघर्ष में उसका अस्तित्व अभिव्यक्त होता है। इतना ही नहीं, सामान्य व्यक्ति का भी इस दृष्टि से कम महत्त्व नहीं है। मानवीय दृष्टिकोण से वह वास्तविक विलक्षण व्यक्ति की अपेक्षा महान् होता है।[६]

एक अन्य दृष्टिकोण से किर्केगार्ड मानव के दो प्रकार मानते हैं तथा उनके बीच भेद करते हैं। वे हैं – आध्यात्मिक मानव तथा सामान्य मानव। सामान्य मानव को वे "अस मॅन" अथवा "हम लोग" कहते हैं। इनके अनुसार आध्यात्मिक मानव हम लोगों से भिन्न होते हैं क्योंकि उनका दोहरा व्यक्तित्व होता है। जिस प्रकार नींव में पड़े दीवार एवम् कंगूरे के दीवार के बीच भेद है, उसी प्रकार का भेद आध्यात्मिक व्यक्ति एवं हमलोगों के बीच भी है। आध्यात्मिक व्यक्ति नींव की दीवार की तरह है जो कंगूरे की दीवार को अपने ऊपर टिकाए हुए है। जिस प्रकार कंगूरे के दीवार के भार को नींव की दीवार सहन करती है, उसी तरह हमलोगों के आघात को भी आध्यात्मिक व्यक्ति सहन करता रहता है। ऐसे आघात से वह अप्रसन्न नहीं होता, बल्कि हमारी सहायता के लिए तत्पर रहता है। इसी अर्थ में आध्यात्मिक व्यक्ति को दोहरे व्यक्तित्व वाला व्यक्ति कहा गया है। सहनशील व्यक्ति के गुण भी आध्यात्मिक व्यक्ति को हमलोगों से भिन्न कर पाते हैं। अत्यन्त उष्णता की प्रतिकूल स्थिति में भी वे अपने साहस एवं शक्ति को नहीं खोते और न दूसरों की सहायता की ही अपेक्षा रखते हैं। किन्तु 'हमलोग' दूसरों की सहायता की अपेक्षा रखते हैं तथा तनिक भी कठिन परिस्थिति में नैराश्य की स्थिति में आ जाते हैं। अत: किर्केगार्ड आध्यात्मिक मानव को जीवन्त ईश्वर की संज्ञा देते हैं। उस तरह के व्यक्ति पृथ्वी पर बार-बार जन्म नहीं लेते। इससे भिन्न हम लोग ईश्वर से प्यार तो करते हैं और दूसरों का प्यार भी पाते हैं, किन्तु हम में सहनशीलता की मात्रा उतनी अधिक नहीं होती जितनी कि आध्यात्मिक मानव में देखी जाती है। आध्यात्मिक मानव दूसरों के कल्याण, दुष्टों के दमन तथा धर्म-स्थापना में अपना योगदान देते हैं। इस दृष्टि से किर्केगार्ड के आध्यात्मिक मानव की तुलना गीता के परम पुरुष कृष्ण से की जा सकती है। गीता में वर्णित भी है –

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम् ।
धर्मसंस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ।। [७]

किर्केगार्ड के अनुसार व्यक्ति सभी प्रकार के धर्मों का सच्चा प्रतिनिधित्व करता है तथा वह आध्यात्मिक जागरण का भी प्रतिनिधि होता है। इसका अर्थ यह नहीं है कि व्यक्ति के पतन नहीं होते। उत्थान एवं पतन उनके जीवन का क्रम होता है। इस दृष्टि से वे तीन प्रकार के व्यक्तियों की चर्चा करते हैं। प्रथम कोटि में वैसे व्यक्ति आते हैं जिनमें आध्यात्मिकता का पूर्ण अभाव होता है। ऐसे व्यक्तियों के जीवन इस प्रकार रिक्त होते हैं कि दण्ड का भी प्रभाव उन पर नहीं पड़ता है। दूसरे प्रकार के व्यक्ति ईश्वर के प्रति अपना विद्रोह प्रकट करते हैं तथा अपने जीवन को अपकीर्ति एवं लोकनिंदा का जीवन बना डालते हैं। ऐसे व्यक्ति दया के पात्र होते हैं। तीसरे प्रकार के व्यक्ति ईश्वर के क्रिया-कलापों को अपने क्रियाकलापों के साथ तादात्म्य मानते हैं तथा प्रेमपूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं। ऐसे ही व्यक्ति शाश्वत जीवन के भी भागी होते हैं।

सोरेन किर्केगार्ड मानव जीवन की विभिन्न अवस्थाओं की भी चर्चा करते हैं तथा इनमें वे सौन्दर्य-बोध की अवस्था, नैतिकता की अवस्था तथा धार्मिकता की अवस्था की चर्चा करते हैं। इनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को यह स्वतन्त्रता प्राप्त है कि वह इन तीन अवस्थाओं में से किसी भी अवस्था में निवास करे। सौन्दर्य की अवस्था जीवन भोगने की अवस्था है। नैतिक अवस्था स्वतन्त्रता, चयन एवं निर्णय की अवस्था है। चूँकि ऐसी अवस्था बौद्धिक विचारों के साथ तादात्म्य नहीं रखती, अतः स्वतन्त्रता एवं चयन का महत्त्व ऐसी अवस्था में देखा जाता है। थॉमटे ने अपनी पुस्तक किर्केगार्डस् फिलॉसफी ऑफ रिलीजन (पृष्ठ ४४) में इसी तथ्य को ध्यान में रखते हुए लिखा है, "चयन करना नैतिक अवस्था की कठोर अभिव्यक्ति है।" धार्मिक अवस्था में व्यक्ति का उच्च जीवन निखर पाता है जहाँ वह शाश्वत के साथ ईश्वर के वैयक्तिक साक्षात् के द्वारा सम्बन्ध स्थापित कर पाता है। किर्केगार्ड यह मानते हैं कि सौन्दर्य-बोध की अवस्था की अपेक्षा नैतिक अवस्था तथा नैतिक अवस्था की अपेक्षा धार्मिक अवस्था अधिक श्रेष्ठ है। व्यक्ति को यह छूट है कि जीवन की एक अवस्था को पार कर दूसरी अवस्था में निवास करे तथा अन्तिम अवस्था की प्राप्ति कर ईश्वरत्व को प्राप्त करने में समर्थ हो सके। इस दृष्टि से किर्केगार्ड यह मानते हैं कि ईश्वर ही वह सत्ता है जिससे मनुष्य को भयभीत होना चाहिए और यदि मनुष्यों के बीच उसे भयभीत होना चाहिए तो उसे अपने से ही।[८]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऐसे विचार का उद्घोष कर किर्केगार्ड मानव के वर्तमान एवं भविष्य दोनों का सफल चित्र उपस्थित करने में समर्थ हो पाते है। इसका अर्थ यह भी है किर्केगार्ड एक सफल चिंतक की तरह अस्तित्व की अतल गहराई में झांककर मानव व्यक्ति के अस्तित्व का उद्घाटन कर देते हैं।

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट है कि किर्केगार्ड का मानव व्यक्ति जगत् में निवास करनेवाला व्यक्ति है जिसे स्वतन्त्रता प्राप्त है, चयन की शक्ति है तथा जो अपना निर्णय स्वयं ले सकता है। ऐसे व्यक्ति को वे अस्तित्ववान् की संज्ञा देते हैं तथा मानते हैं कि अस्तित्ववान् व्यक्ति अपने आत्मपरक अनुभूति द्वारा अपनी आभ्यन्तरिकता को जानने में सफल हो पाता है, उसे अपनी अभिरुचि द्वारा अपने भाग्य का निर्धारण करने की महत्त्वपूर्ण भूमिका अदा करनी पड़ती है। वह सदा अपने को भव की स्थिति में पाता है। अपने व्यक्तित्व का निर्माण वह अपने प्रयासों द्वारा करता है। इसी अर्थ में किर्केगार्ड ने कहा है कि कोई व्यक्ति ईसाई होता नहीं है बल्कि ईसाई बनता है।

इस प्रकार अस्तित्ववान् व्यक्ति अपने भव की तीव्रता में निवास करता है। उसके विचार भी तीव्र होते हैं। वह सदा प्रगति की ओर उन्मुख होता है। वस्तुतः ससीम में वह असीम की प्रतिकृति हुआ करता है। जिस मनोभाव से उसके अस्तित्व का उदय होता है उसे किर्केगार्ड "स्वतन्त्रता का मनोभाव" कहते हैं। अतः अस्तित्ववान् व्यक्ति भव की तीव्रता से पूर्ण होता है। ऐसे भाव की तीव्रता प्रगति की ओर उन्मुख होती है तथा शाश्वतता की ओर बढ़ने में ही इनकी पूर्णता देखी जाती है। शाश्वतता की ओर बढ़ने में ही वह ईश्वर के साथ अपना तादात्म्य स्थापित कर पाता है। इसे किर्केगार्ड "निरपेक्ष अन्य" की संज्ञा देते हैं। निरपेक्ष अन्य ही किर्केगार्ड के दर्शन में ईश्वर का प्रतीक है जिसके साथ अस्तित्ववान् व्यक्ति असीम प्रेम का संबंध स्थापित करना चाहता है। अस्तित्ववान् व्यक्ति मूर्त सत्ता का परिचायक है जो जगत् में निवास करता है तथा जगत् की सीमा को पार कर असीम के साथ, ईश्वर के साथ या निरपेक्ष अन्य के साथ अपना सम्बन्ध स्थापित कर पाता है। यहीं उसके अस्तित्व की पूर्णता या प्रामाणिकता देखी जा सकती है। अतः किर्केगार्ड का अस्तित्ववान् व्यक्ति जगत् में रहते हुए भी अपनी स्वतन्त्रता चयन, एवं उत्तरदायित्वपूर्ण निर्णय द्वारा आत्मपरक हो पाता है। ऐसी ही आत्मपरकता में उसे मनोभाव की तीव्रता तथा मनोभाव की तीव्रता के द्वारा अस्तित्व की अनुभूति हो पाती है जिसे किर्केगार्ड ईश्वरानुभूति की भी संज्ञा देते हैं।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

किर्केगार्ड ईश्वरवादी दार्शनिक हैं तथा इनकी अस्तित्ववादी मान्यतायें मानव व्यक्ति तथा ईश्वर के अक्ष पर आधारित हैं। ऐसी स्थिति में इनके मानव व्यक्ति के विचार को बिना ईश्वर के विचार को स्पष्ट किये वास्तविक रूप में समझा नहीं जा सकता। इनके ईश्वर संबंधी विचार एकतत्त्ववादी तथा प्रत्ययवादी विचारों से पूर्णतः भिन्नता रखते हैं। ये दोनों ही विचार शुद्ध चिन्तन की मान्यताओं पर आधारित हैं। फलस्वरूप इनमें वास्तववाद का पुट नहीं आ पाता। ये प्रागानुभविक सत्ता के आदर्श को स्वीकार करते हैं जिनके कारण मूर्त अस्तित्व की व्याख्या नहीं हो पाती। इतना ही नहीं मानव व्यक्ति भी ऐसे ईश्वर की धारणा में अपना अस्तित्व खो देते हैं। इन तथ्यों के कारण ही वे ईश्वर की अस्तित्ववादी व्याख्या प्रस्तुत करते हैं।

इनके अनुसार ईश्वर शाश्वत अस्तित्व का बोधक है, जबकि मानव व्यक्ति का अस्तित्व ससीम अस्तित्व का परिचायक है। ससीम मानव व्यक्ति असीम अस्तित्व की अनुभूति के क्रम में सदा भव की स्थिति में रहता है। ईश्वर या शाश्वत अस्तित्व ऐसे ससीम अस्तित्वों की अपेक्षा सर्वोच्च प्रामाणिकता का बोधक होता है। यह अस्तित्व घृणा एवं प्रेम की परिसीमाओं से परे होते हैं। सत्य तो यह है कि सर्वशक्तिमान् ईश्वर की यह स्थिति शाश्वत प्रेम की स्थिति है जिसकी प्राप्ति कोई भी व्यक्ति आभ्यन्तरिक अथवा आत्मपरक स्थिति में अनुभूत कर पाता है। अतः किर्केगार्ड ईश्वर का निवास ऐसी ही अनुभूति में मानते हैं। यदि ईश्वर की ऐसी स्थिति को स्वीकार कर लिया जाय तो यह स्वीकार किया जा सकता है कि ईश्वर सर्वव्यापी है तथा प्रत्येक व्यक्ति ईश्वर को सर्वत्र देख सकता है।[10] इस प्रकार किर्केगार्ड ईश्वर और प्रेम को एक ही मानते हैं तथा बतलाते है कि जब व्यक्ति का जीवन प्रेम का जीवन होता है तो वह अव्यक्त रूप से आनन्द की अनुभूति कर पाता है तथा जब उसके जीवन में प्रेम का अभाव होता है तब वह प्रेम की प्राप्ति के लिए बेचैन रहता है। ऐसा प्रेमपूर्ण जीवन ईश्वरीय जीवन का प्रतीक है जिसे विश्वास का जीवन कहा जा सकता है।

किर्केगार्ड यह मानते हैं कि ईश्वर का प्रेम दो रूपों में अभिव्यक्त होता है- प्रथम रूप में वह मनुष्य को प्रेम करता है तथा दूसरे रूप में वह प्रेम किये जाने की आकांक्षा रखता है। किसी भी मनुष्य के लिए ईश्वरीय प्रेम ही जीवन का सर्वोच्च आदर्श है। ये ईश्वर को सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् एवं वैयक्तिक मानते है। यह अनन्त रूप से इस प्रकार व्यापक होता है कि व्यक्ति उसे प्राप्त करने के लिए लालायित रहता है। ईश्वर की सर्वशक्तिमत्ता मानव व्यक्ति की स्वतन्त्रता में निहित है। जब व्यक्ति अपने को स्वतन्त्र मानता है तो उसे शक्ति का भी एहसास होता है तथा जब उसे सर्वशक्तिमत्ता की अनुभूति होती है तब वह सर्वशुभ

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की भी अनुभूति करता है। अतः किर्केगार्ड ईश्वर के गुणों को मानवीय गुणों से जोड़कर अस्तित्ववादी मापदण्डों का सृजन करते है। वैसे जो व्यक्ति स्वतन्त्रता की अनुभूति नहीं करते तथा वैसे जो व्यक्ति स्वतन्त्रता की अनुभूति करते है दोनों के बीच भेद है। प्रथम प्रकार के व्यक्ति ससीम व्यक्ति हैं जबकि दूसरे ससीम एवं आध्यात्मिक व्यक्ति के बोधक है। ऐसे आध्यात्मिक व्यक्ति के संबंध में यह कहा जा सकता है कि उन्होंने ईश्वर को प्राप्ति कर ली है तथा अपने अस्तित्व को प्रामाणिक कर लिया है। इस दृष्टि से किर्केगार्ड के आध्यात्मिक व्यक्ति का गीता के स्थितप्रज्ञ से साम्य माना जा सकता है।

चूंकि ईश्वर की सर्वोच्च सत्ता है, वही पूर्ण सत्ता है एवं पवित्र सत्ता है, इसलिये मनुष्य के जीवन का आदर्श भी वही है तथा उसके आराध्य एवं प्रेम का विषय भी वही है। किर्केगार्ड ने लिखा है, "ईश्वर हमारे हृदय से भी महान् है। उसकी महानता क्षमा में निहित है, दया दिखाने में निहित है, तथा इस महानता में वह स्वयं हृदय से भी महान् है।"[११]

इस प्रकार सोरेन किर्केगार्ड ईश्वर के विचार को प्रेम एवं स्वतत्रता के विचार से तादात्म्य मान कर मानव व्यक्तित्व को प्रमाणिकता या अस्तित्व की आत्मपरक अनुभूति में ही ईश्वर को निहित कर देते हैं तथा मानते हैं कि ईश्वरत्व की प्राप्ति ही मानव अस्तित्व की अनुभूति का साध्य है। जब भी व्यक्ति अपने अस्तित्व की प्रामाणिकता की अनुभूति कर पाता है, उसे ईश्वरीय गुणों की भी अनुभूति होती है। अतः किर्केगार्ड के मानव व्यक्ति के विचार का अक्ष ईश्वर है, जिसकी ओर मानव व्यक्ति सदा उन्मुख रहता है। ईश्वरत्व की प्राप्ति ही उसका साध्य है तथा अस्तित्व की अनुभूति ऐसे साध्य के साधन का कार्य करती है। अस्तित्व को प्रामाणिकता में ही उसकी वास्तविकता निहित है। ऐसे मानव व्यक्ति ही वास्तविक मानव के प्रतिरूप हैं। समग्र मानव के ऐसे ही मानव से जगत् परिवर्तन की भी अपेक्षा बनी रहती है तथा सत्, चित् एवं आनन्दमय परिवेश के सृजन को आशा की जा सकती है। यद्यपि ऐसी स्थिति की सम्भाव्यता विरले ही सम्भव है, किन्तु इनकी अनुभूति में ही वास्तविक मानव व्यक्ति की अस्तित्वानुभूति निहित है।

दर्शन विभाग
लंगट सिंह महाविद्यालय (बिहार विश्वविद्यालय)
मुजफ्फरपुर (बिहार)

—कमला कुमारी

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. किर्केगार्ड, सोरेन : कन्क्लूडिंग अन्साइन्टिफिक पोस्टस्क्रिप्ट, पृष्ठ ६७–६८, डी. एफ. स्वेनसन द्वारा सम्पादित, प्रिन्सटन यूनिवरसिटी प्रेस; १९६०.

२. वहीं, पृष्ठ ८४–८५

३. वहीं, पृष्ठ ८५.

४.वहीं, पृष्ठ ११३.

५. राधाकृष्णन्. एस्. (अनुवादक) : भगवद्गीता, II पृष्ठ ४७, सरस्वती विहार, नयी दिल्ली, १९७८.

६. किर्केगार्ड, सोरेन : ऑन ऑथॉरिटी ॲण्ड रिव्हीलेशन, पृष्ठ ३६, वाल्टर लॉरे द्वारा सम्पादित, प्रिन्सटन यूनिवरसिटी प्रेस १९५५

७. राधाकृष्णन्, एस्. : भगवद्गीता पृष्ठ ८, सरस्वती विहार, नयी दिल्ली १९७८.

८. किर्केगार्ड, सोरेन : वर्क्स ऑफ लव, पृष्ठ ३२, हावार्ड और एडना हॉग द्वारा सम्पादित.

९. वह्ल, जीन : ए शॉर्ट हिस्ट्री ऑफ एक्जिस्टेन्शियलिज्म, पृष्ठ ४, फिलॉसफिकल लिबर्टी, न्यूयार्क १९४९.

१०. किर्केगार्ड, सोरेन : कन्क्लूडिंग अन्साइन्टिफिक पोस्टस्क्रिप्ट, डी. एफ. स्वेनसन द्वारा सम्पादित प्रिन्सटन यूनिवरसिटी प्रेस, १९६०

११. किर्केगार्ड, सोरेन : क्रिश्चियन डिसकोर्सेज पृष्ठ २९८, वाल्टर लॉरे द्वारा सम्पादित, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी, १९६१

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

धार्मिक भाषा की सार्थकता

वर्तमान शताब्दी में भाषा-विश्लेषण संबंधी विचारधारा पाश्चात्य दर्शन की एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इस विचारधारा के समर्थकों ने दार्शनिक ज्ञान के विभिन्न क्षेत्रों में प्रयुक्त भाषा के अर्थ को ठीक-ठीक समझने तथा उसे भली-भाँति स्पष्ट करने का भरपूर प्रयास किया है। इनकी मान्यता है कि जिस भाषा के माध्यम से हम अपने सिद्धान्तों, विश्वासों तथा विचारों को अभिव्यक्त करते हैं उसे ठीक समझे बिना हम उन सिद्धान्तों और विचारों की सार्थकता के विषय में निश्चयपूर्वक कुछ भी नहीं कह सकते। इसलिए ज्ञानमीमांसा, तत्त्वमीमांसा नीतिशास्त्र, धर्मशास्त्र, तर्कशास्त्र आदि दर्शन की सभी विधाओं में प्रयुक्त होने वाली भाषा का विश्लेषण करके उनकी सार्थकता सिद्ध करना इन दार्शनिकों का एकमात्र अभीष्ट है।

प्रस्तुत निबंध में हमारा संबंध मात्र धर्मशास्त्र में प्रयुक्त भाषा की सार्थकता से है। धर्मशास्त्र की भाषा 'धार्मिक वाक्यों' या 'धार्मिक कथनों' से बनी हुई होती है। जिन वाक्यों या कथनों के माध्यम से धार्मिक व्यक्ति अपनी अखंड आस्था को अभिव्यक्त करता है या दूसरों तक पहुँचाता है, उन्हें ही धार्मिक वाक्य या धार्मिक कथन कहा जाता है। "ईश्वर सर्वज्ञ है", "ईश्वर सर्वशक्तिमान् है", "ईश्वर दयालु है", "ईश्वर जगत् का रचियता, पालक और संहारक है" आदि वाक्य धार्मिक कथनों के उदाहरण हैं। सभी प्रकार के धर्मग्रन्थों में इस तरह के अनेक धार्मिक कथन उपलब्ध हैं। जो धर्म ईश्वर की सत्ता में विश्वास नहीं करते उनके अनुयायी भी किसी न किसी महापुरुष के उपासक होते हैं। उदाहरणार्थ जैन और बौद्ध धर्म के अनुयायी भी क्रमशः महावीर और बौद्ध की उपासना करते हैं। इन धर्मों में उपास्य महापुरुष से संबंधित कथन ही धार्मिक कथन कहे जाते हैं।

अब प्रश्न उठता है कि क्या "धार्मिक वाक्य" या "धार्मिक कथन" सार्थक कथन माने जा सकते हैं, क्योंकि इन कथनों की सार्थकता सिद्ध होने पर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ही धार्मिक भाषा की सार्थकता सिद्ध की जा सकती है, अन्यथा धार्मिक भाषा निरर्थक और अनुपयोगी ही मानी जाएगी।

विश्लेषणपरक चिन्तकों द्वारा जिन सिद्धान्तों के सहारे धार्मिक वाक्यों की सार्थकता सिद्ध करने का प्रयास किया गया है उनमें दो मुख्य सिद्धान्त है— १) संज्ञानात्मक सिद्धान्त और २) असंज्ञानात्मक सिद्धान्त। संज्ञानात्मक सिद्धान्त के अन्तर्गत संज्ञानात्मक प्रकथन प्रयुक्त किये जाते हैं जिनसे किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, उनके गुण और क्रियाओं की सूचना मिलती है। जैसे– "यह पुस्तक लाल है", "घोड़ा सड़क पर दौड़ रहा है", इत्यादि संज्ञानात्मक वाक्य हैं क्योंकि इन वाक्यों के द्वारा हमें पुस्तक के गुण तथा घोड़े की क्रिया के संबंध में सूचना मिल रही है। इन प्रकथनों को अनुभव के आधार पर सत्य या असत्य ठहराया जा सकता है। संज्ञानात्मक वाक्यों को वर्णनात्मक वाक्य भी कहा जाता है क्योंकि ये वाक्य किसी घटना या वस्तु का वर्णन करते हैं। इसके विपरीत असंज्ञानात्मक सिद्धान्त के अन्तर्गत असंज्ञानात्मक प्रकथन का प्रयोग किया जाता है। ऐसे प्रकथनों से हमें किसी भी घटना या वस्तु के विषय में किसी प्रकार की सूचना नहीं मिलती है। इसलिए इन प्रकथनों को अनुभव के आधार पर सत्य या असत्य नहीं ठहराया जा सकता है। असंज्ञानात्मक प्रकथनों के अन्तर्गत आज्ञासूचक, संवेगपरक या संवेगक प्रकथन गिने जा सकते हैं। जैसे– "हे ईश्वर! मेरे पापों को क्षमा कर"। "हे परमेश्वर! मेरे उपर कृपा कर आदि।" ऐसे प्रकथनों की जाँच की कोई स्पष्ट आनुभविक विधि अभी तक ज्ञात नहीं है। इसलिए इन्हें सत्य या असत्य नहीं ठहराया जा सकता है।

अब प्रश्न उठता है कि "धार्मिक वाक्यों" या "धार्मिक कथनों" को संज्ञानात्मक माना जाए या असंज्ञानात्मक। इस बात को लेकर विश्लेषणपरक चिन्तक दो दल में बँट जाते हैं। जो चिन्तक धार्मिक कथनों के संबंध में संज्ञानात्मक सिद्धान्त का समर्थन करते हैं उनमें आई. एम. क्रॉम्बी, जॉन हिक्, ईयान टी. रामसे, बेसिल मिचेल आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। ये सभी दार्शनिक धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक और तथ्यों को बोध कराने वाले कथन मानते हैं। इनके अनुसार धार्मिक कथनों द्वारा हमें ईश्वर, आत्मा आदि के विषय में कुछ तथ्यों का ज्ञान प्राप्त होता है जिसे सत्य या मिथ्या प्रमाणित किया जा सकता है। उदाहरण के लिए "ईश्वर का अस्तित्व है", "ईश्वर सर्वज्ञ है", "ईश्वर हमारी प्रार्थना सुनता है" आदि धार्मिक कथन हमें ईश्वर के विषय में कुछ तथ्यों का बोध कराते हैं जिनकी सत्यता के संबंध में सार्थक विवाद अथवा मतभेद हो सकता है। इस दृष्टि से उपरोक्त ईश्वर विषयक धार्मिक कथन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संज्ञानात्मक अर्थात् तथ्यों का ज्ञान प्रदान करने वाले कथन कहे जा सकते हैं, इसलिए ये कथन सार्थक हैं। यहाँ मैं सिर्फ आई. एम. कॉम्बी और जॉन हिक् के मतों पर संक्षेप में विचार करूँगा क्योंकि सबल रूप से इन्हीं दोनों दार्शनिकों द्वारा धार्मिक कथन संज्ञानात्मक माने गये हैं।

आई. एम. क्रॉम्बी के अनुसार ईश्वर संबंधी विश्वास को अभिव्यक्त करने वाले कथन ही धार्मिक कथन हैं।[१] वे मानते हैं कि "ईश्वर का अस्तित्व है", ईश्वर विश्व का रचियता है, आदि धार्मिक कथन ईसाई धर्म के लिए आधारभूत कथन हैं। ईसाई धर्म के अतिरिक्त अन्य धर्मों के अनुयायी अपने जीवन में धार्मिक दृष्टि से जो कुछ करते हैं और कहते हैं उसके मूल में इन आधारभूत कथनों की सत्यता की स्वीकृति निहित रहती है। इसीलिए क्रॉम्बी का मुख्य उद्देश्य इन्हीं कथनों का अर्थ स्पष्ट करते हुए इन्हें तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक सिद्ध करना है। वे मानते हैं कि ईश्वर संबंधी कथन सत्याप्य– मिथ्याप्य हो सकते हैं। इसलिए इन्हें संज्ञानात्मक कथन की कोटि में रखा जा सकता है। ईश्वर संबंधी कथन को सत्याप्य बताते हुए वे कहते हैं कि ईश्वर विचार का नहीं वरन् भक्ति का विषय है और भक्ति की आँखों से ईश्वर विश्वासी को दिखाई देता है और धार्मिक अनुष्ठान के द्वारा ईश्वर की अनुभूति भक्त को स्पष्ट, निश्चित और दृढ़ मालूम पड़ती है। अपने इस अनुभूति के अनुरूप भक्त समझता है कि ईश्वर के संबंध में प्रयुक्त अमुक शब्द अनुचित होते हुए भी उपयुक्त है और अन्य शब्द अनुपयुक्त है। यह बात धार्मिक अनुभूति की है जिसे अनुभवात्मक कसौटी के द्वारा सिद्ध नहीं किया जा सकता है। हाँ, केवल धार्मिक परम्परा के अन्तर्गत रहकर ही इसका रसास्वादन किया जा सकता है। किन्तु ऐसी स्थिति में संज्ञात्मकता का अर्थ ही संकुचित हो जाता है, क्योंकि यह पूछने पर कि क्या ऐसी धार्मिक अनुभूति वैचारिक होती है या भावपूर्ण या रहस्यानुभव या अचेतन रूप से भावपूर्ण, क्रॉम्बी इसका कोई स्पष्ट उत्तर नहीं दे पाते हैं। वे मात्र इतना ही कहते है कि– "धार्मिक अनुष्ठान के आधार पर मानव मन ईश्वर के प्रति अनुक्रियाशील हो जाता है और इस अनुक्रियाशीलता के फलस्वरूप हमारे प्रत्यय भी लचीले होकर ईश्वर के स्वरूप को कुछ अधिकृत प्रतिमाओं तथा दृष्टान्तों के द्वारा व्यक्त करने में समर्थ हो जाते हैं।"[२] किन्तु हम कितना भी अधिक ईश्वर के प्रति क्यों न अनुक्रियाशील हो जाएँ, हम अनुक्रियाशीलता को न तो सार्वजनिक और न सामान्य बना सकते हैं। ऐसी दशा में यह कहना कि "प्रेमी ईश्वर एक तथ्य है", सही नहीं मालूम पड़ता है। तो "ईश्वर तथ्य है" इसका क्या अर्थ हो सकता है? अधिक से अधिक यही कि ईश्वर विश्वास-वचन है जैसा मिचेल

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

मानते हैं। परन्तु विश्वास-वचन आस्था-वचन हो सकता है किन्तु आस्था-वचन को संज्ञानात्मक वचन स्वीकार नहीं किया जा सकता है। अतः सामान्य रूप से क्रॉम्बी ईश्वर संबंधी कथन को सत्यापित नहीं कर पाते हैं।

क्रॉम्बी धार्मिक परम्परा के अतिरिक्त ईश्वर संबंधी कथन की संज्ञानात्मकता उसकी मिथ्यापनीयता से सिद्ध करना चाहते हैं। वे कहते हैं कि ईश्वर संबंधी कथन विश्व में व्याप्त दुःख-पूर्ण घटनाओं के द्वारा मिथ्यापित होते हैं जिससे ईश्वर की सत्यापनीयता सिद्ध होती है। किन्तु यहाँ भी वे एक शर्त जोड़ देते हैं। उनका कहना है कि ईश्वर संबंधी कथन निर्णायक रूप से मिथ्यापित नहीं किये जा सकते।[3] अब यदि निर्णायक रूप से ईश्वर का प्रेम तथा उसका शुभत्व खंडित नहीं है तो इस खंडन अथवा मिथ्यापन का क्या अर्थ हो सकता है? स्पष्ट शब्दों में इसका यही अर्थ लगाया जा सकता है कि ईश्वर संबंधी कथन का कभी भी मिथ्यापन नहीं हो सकता है, अर्थात् ईश्वर संबंधी कथन को संज्ञानात्मक नहीं स्वीकार किया जा सकता। इस प्रकार हम देखते हैं कि क्रॉम्बी ईश्वर संबंधी कथन को सत्यापित– मिथ्यापित सिद्ध नहीं कर पाते हैं। फलतः उनका ईश्वर संबंधी कथन, जिसे वे धार्मिक कथन का आधार मानते हैं, संज्ञानात्मक कथन सिद्ध नहीं हो पाता है।

कॉम्बी की तरह जॉन हिक् भी यह मानते हैं कि "ईश्वर का अस्तित्व है" यह एक आधारभूत धार्मिक कथन है। वे यह भी मानते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व हमारे अपने अस्तित्व से पूर्णतः पृथक्, स्वतंत्र, यथार्थ, निरपेक्ष और वस्तुगत है। इसी कारण ईश्वर विषयक धार्मिक कथन तथ्यात्मक हैं – अर्थात् वे हमें ईश्वर संबंधी किन्हीं तथ्यों का बोध कराते हैं। जब हम यह कहते हैं कि "ईश्वर है और वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सर्वव्यापक तथा दयालु है" तो हम अपने इस कथन के द्वारा ईश्वर और उसके गुणों का तथ्यात्मक वर्णन करते हैं जो हमारी भावनाओं तथा अभिवृत्तियों पर निर्भर नहीं हैं। इस प्रकार असंज्ञानात्मक सिद्धान्त को अस्वीकार करते हुए हिक् ईश्वर विषयक धार्मिक कथनों को संज्ञानात्मक अथवा तथ्यबोधक स्वीकार करते हैं। अपनी इसी मान्यता की पुष्टि के लिए हिक् ने मरणोत्तर सत्यापन के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है।[4] वे यह स्वीकार करते हैं कि हम इस जीवन में अपने अनुभव द्वारा उपर्युक्त ईश्वर विषयक आधारभूत कथनों को सत्यापित नहीं कर सकते, क्योंकि इन्द्रियातीत होने के कारण ईश्वर हमारे लिए अनुभवगम्य नहीं है। ऐसी स्थिति में उनके अनुसार केवल मरणोत्तर अनुभव द्वारा ही इस कथन का सत्यापन संभव है। वे इस सिद्धान्त की सत्यता एवं प्रामाणिकता के संबंध में पूर्णतः आश्वस्त हैं। उनका कथन है कि इस सिद्धान्त

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के अतिरिक्त अन्य किसी सिद्धान्त द्वारा तर्कसंगत रूप से ईश्वर विषयक कथनों की तथ्यात्मकता को प्रमाणित नहीं किया जा सकता।[५] वे यह मानते हैं कि मृत्यूत्तर सत्यापन को असममित ही कहा जा सकता है क्योंकि यदि अनुजीवन संभव है तो ईश्वर संबंधी कथन का सत्यापन हो सकता है। परन्तु यदि अनुजीवन ही संभव नहीं हो तो सिद्धान्ततः मृत्यूत्तर जीवन को मिथ्यापित नहीं किया जा सकता है, अर्थात् मृत्यूत्तर जीवन का सत्यापन संभव है, किन्तु मिथ्यापन नहीं। अब प्रश्न उठता है कि क्या इस प्रकार के संदेह-युक्त मृत्यूत्तर जीवन की अनुभूति के आधार पर ईश्वर संबंधी कथन को तथ्यात्मक कथन कहा जा सकता है? इसका कोई संतोषप्रद उत्तर हिक् के पास नहीं है। इस संबंध में उनका कहना है कि केवल उन्हीं व्यक्तियों को मृत्यूत्तर जीवन में ईश्वर का दीदार कहा जा सकता है जो ईश्वर-निष्ठा के फलस्वरूप ईश्वर के प्रति उद्‌बुद्ध हो चुके हैं और फिर जिन्होंने इस पार्थिव जीवन में आस्था के द्वारा ईश्वर के निकट पहुँचते-पहुँचते अनायास ही ईश्वर की उपस्थिति का आस्वादन किया है। स्पष्ट है कि मृत्यूत्तर जीवन की बात हिक् के अनुसार आस्था का विषय है, नकि वैज्ञानिक तथा साधारण अनुभूति का।[६] परन्तु "आस्था" पर आधारित प्रकथन को असंज्ञानात्मक प्रकथन ही कहना चाहिए। अतः ईश्वर संबंधी कथन को हिक् ने आस्थामय प्रकथन मानकर इसकी संज्ञानात्मकता को पुष्ट करने के बदले इसे असंज्ञात्मकता में बदल दिया है। फलतः क्रॉम्बी की तरह हिक् भी ईश्वर संबंधी कथन को संज्ञानात्मक कथन सिद्ध नहीं कर पाये हैं। वस्तुतः धार्मिक भाषा की संज्ञानात्मकता को इन दोनों दार्शनिकों ने संकुचित अर्थ में लिया है, जिसे वे धार्मिक परम्परा या धार्मिक संदर्भ कहते हैं। किन्तु उनका यह विचार उचित एवं युक्तिसंगत नहीं है। इसका कारण यह है कि कथनों की तथ्यात्मकता की सार्थक कसौटी के रूप में सत्यापन का सार्वजनीन होना अनिवार्य है – अर्थात् हमारे लिए यह स्वीकार करना आवश्यक है कि सामान्य परिस्थितियों में सभी सामान्य व्यक्ति कम-से-कम सिद्धान्ततः अपने अनुभव द्वारा किसी कथन को सत्यापित कर सकते हैं। इस संबंध में किसी व्यक्ति-विशेष अथवा समुदाय द्वारा किए गए सत्यापन के दावे को पर्याप्त और प्रामाणिक मानना उचित नहीं है, जैसा कि हिक् मानते हैं। स्पष्ट है कि हिक् का मरणोत्तर सत्यापन का सिद्धान्त संकीर्ण होने के कारण धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक अथवा संज्ञानात्मक सिद्ध नहीं कर पाया है।

यही कारण है कि कुछ अन्य दार्शनिक धार्मिक कथनों के स्वरूप के संबंध में उपर्युक्त संज्ञानात्मकता को स्वीकार नहीं करते। ऐसे दार्शनिकों में ए. जे. एयर, ऑटनी फ्लू, आर. बी. ब्रेथ्‌बेट, आरः एम्. हेयर, आर्. डब्लू. हेप्बर्न आदि

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं। इन दार्शनिकों का मत है कि धार्मिक कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नहीं है, क्योंकि इनके द्वारा हमें किसी प्रकार के तथ्यों का ज्ञान प्राप्त नहीं होता। इसका अर्थ है कि धार्मिक कथनों को सत्य अथवा मिथ्या प्रमाणित नहीं किया जा सकता। इसलिए इनकी सत्यता के विषय में सार्थक विवाद भी संभव नहीं है। अपनी इसी मान्यता के कारण इन दार्शनिकों ने धार्मिक कथनों को असंज्ञानात्मक कथन माना है। यहाँ हम इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक ए. जे एयर और ऍण्टनी फ्ल्यू के मत पर ही संक्षेप में विचार करेंगे। ऐसा इसलिए कि एयर ने सत्यापनीयता सिद्धान्त और फ्लू ने मिथ्यापनीयता सिद्धान्त को कसौटी मानकर धार्मिक कथनों की सार्थकता की जांच की है।

एयर के सत्यापनीयता सिद्धान्त के अनुसार केवल वे ही कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक हो सकते हैं जो प्रत्यक्षतः अथवा परोक्षतः हमारे अनुभव से संबंधित हैं और इसी कारण जो, कम-से-कम सिद्धान्ततः, अनुभव द्वारा सत्यापनीय हैं।[७] अपने इसी सिद्धान्त के आधार पर ईश्वर, आत्मा आदि अनुभवातीत सत्ताओं से सम्बद्ध धार्मिक कथनों की सार्थकता की परीक्षा करने के पश्चात् एयर इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि ये कथन तथ्यबोधक अथवा तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नहीं है, क्योंकि इनका हमारे अनुभव से कोई संबंध नहीं है और फलतः इन्हें अनुभव द्वारा सिद्धान्ततः भी कभी सत्यापित नहीं किया जा सकता। व्याकरण की दृष्टि से अनुभवात्मक कथनों के समान होने के कारण ये कथन हमें तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक प्रतीत होते हैं, किन्तु वास्तव में इन्हें तथ्यबोधक समझना हमारा भ्रम है। इन धार्मिक कथनों में प्रयुक्त "ईश्वर" "आत्मा" आदि शब्द वस्तुतः तत्त्वमीमांसीय शब्द हैं जो तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक है। अतः इन कथनों द्वारा हमें किसी प्रकार का तथ्यात्मक ज्ञान प्राप्त नहीं होता। इसलिए ईश्वर संबंधी धार्मिक कथन सार्थक कथन नहीं हैं।

एयर के उपर्युक्त कथन में बल है कारण हमारे लिए केवल वही शब्द या कथन बोधगम्य हो सकता है जिसका प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप से मानवीय अनुभव के साथ किसी प्रकार का संबंध संभव हो। जो कुछ मनुष्य के अनुभव तथा उसकी तर्क-बुद्धि से परे है उसे न तो वह समझ सकता है और न उसके विषय में वह कुछ कह सकता है। यही कारण है कि अनुभवातीत सत्ताओं के अर्थ में "ईश्वर" "आत्मा" आदि शब्द हमारे लिए अबोधगम्य और तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक हो जाते हैं। किन्तु ईश्वरवादी मानवीय-भाषा संबंधी इस आधारभूत तथ्य की उपेक्षा करता है। वह अनुभवातीत सत्ताओं के अर्थ में "ईश्वर" "आत्मा" आदि शब्द का प्रयोग करते हुए भी इन्हें तथ्यबोधक शब्द मानता है,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

क्योंकि उनके अनुसार ये शब्द हमें इन विशेष सत्ताओं का बोध कराते हैं। वह यह भी मानता है कि ये अनुभवातीत सत्ताएँ वास्तविक तथा वस्तुगत हैं—अर्थात् इनका अस्तित्व हमारी इच्छाओं, भावनाओं और अभिवृत्तियों पर निर्भर न होकर उनसे पूर्णतः स्वतंत्र है। धार्मिक व्यक्ति की यह मान्यता है कि मानव जाति ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण ब्रह्मांड के नष्ट हो जाने पर भी "ईश्वर" और "आत्मा" का अस्तित्व बना रहेगा, क्योंकि ये अजर-अमर, नित्य एवं शाश्वत हैं। अपनी इसी आस्था के आधार पर धार्मिक व्यक्ति "ईश्वर" और "आत्मा" को तथ्यबोधक अथवा तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक शब्द मानता है। परन्तु हमारे पास उसकी इस मान्यता को स्वीकार करने का कोई पर्याप्त कारण अथवा आधार नहीं है। क्योंकि जब ईश्वरवादी से यह प्रश्न किया जाता है कि "ईश्वर" "आत्मा" आदि शब्दों का अर्थ क्या है तो वह इस प्रश्न का कोई संतोषप्रद उत्तर नहीं दे पाता। वह केवल यही कहता है कि अनुभवातीत सत्ताओं का बोध कराने के कारण ये शब्द सामान्य अनुभवात्मक शब्दों से मूलतः भिन्न हैं। अतः हम इन शब्दों का अर्थ समझने तथा इनकी सार्थकता की परीक्षा करने के लिए उन अनुभवाश्रित विधियों का प्रयोग नहीं कर सकते जिनका प्रयोग हम सीमित अनुभवात्मक शब्दों का अर्थ समझने और उनकी सार्थकता की परीक्षा करने के लिए करते हैं। किन्तु यह पूछने पर कि वह कौन सी विधि है जिसको अपना कर हम "ईश्वर" "आत्मा" आदि शब्दों की तथ्यात्मक सार्थकता की परीक्षा कर सकते हैं, ईश्वरवादियों के पास कोई उत्तर नहीं है। ऐसी स्थिति में सत्यापनीयता के सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए हम यही कह सकते हैं कि ये शब्द और इसी प्रकार के अन्य शब्द जिसे धार्मिक व्यक्ति धार्मिक भाषा में प्रयुक्त करते हैं तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नहीं है।

सत्यापनीयता सिद्धान्त के अतिरिक्त एक अन्य सिद्धान्त के आधार पर भी कुछ समकालीन दार्शनिकों ने धार्मिक कथनों की तथ्यात्मक सार्थकता का निषेध किया है। इसे "मिथ्यापनीयता का सिद्धान्त" कहा जाता है, क्योंकि यह किसी कथन के मिथ्याकरण की संभावना के आधार पर उसकी तथ्यात्मक सार्थकता का निर्णय करता है। इस सिद्धान्त के प्रमुख समर्थक ऍण्टनी फ्लू हैं। फ्लू मिथ्यापनीयता सिद्धान्त को तथ्यात्मक कथनों की सार्थकता की कसौटी के रूप में स्वीकार करने के कारण धार्मिक कथनों को तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक मानते हैं। स्पष्ट है कि धार्मिक कथनों की सार्थकता के विषय में वे एयर के विचारों से मूलतः सहमत हैं। धार्मिक कथनों की सार्थकता के विषय में फ्लू के मत को प्रस्तुत करने से पूर्व मिथ्यापनीयता सिद्धान्त के स्वरूप को स्पष्ट कर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

होना आवश्यक है। मिथ्यापनीयता सिद्धान्त के अनुसार केवल वही कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक हो सकते हैं जिन्हें कुछ तथ्यों द्वारा कम-से-कम सिद्धान्ततः मिथ्या प्रमाणित करना संभव हो। फ्लू के अनुसार किसी तथ्यात्मक कथन को मिथ्या प्रमाणित करनेवाले विपरीत तथ्यों का यह निषेध उस कथन के अर्थ में अनिवार्यतः निहित रहता है और यह उसके अर्थ का अनिवार्य अंश होता है। इसी कारण यदि कोई वक्ता किसी भी तथ्य को अपने कथन का निषेध करनें अथवा उसे मिथ्या प्रमाणित करने वाले तथ्य के रूप में स्वीकार नहीं करता तो उसका कथन तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नहीं हो पाता। फ्लू के अनुसार यदि कोई कथन किसी तथ्य का निषेध नहीं करता तो वह किसी तथ्य को अभिव्यक्त भी नहीं करता और इसलिए वह वास्तव में तथ्यात्मक कथन नहीं है।"[९]

अपनी उपर्युक्त मान्यता के आधार पर फ्लू धार्मिक कथनों की परीक्षा करते हैं और इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि वे कथन तथ्यात्मक दृष्टि से निरर्थक हैं। उनके अनुसार कोई भी धार्मिक व्यक्ति किसी भी प्रतिकूल परिस्थिति में ईश्वर के प्रति अपनी आस्था के विरुद्ध किसी प्रकार के प्रमाण को स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं होता। विश्व में अनगिनत प्राणियों को अकारण घोर दुःख सहन करते हुए देखकर भी धर्मपरायण व्यक्ति यह मानता है कि ईश्वर सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा अत्यंत दयालु है। उसका दृढ विश्वास है कि कोई भी तथ्य उसकी इस मान्यता को कभी मिथ्या प्रमाणित नहीं कर सकता। इस प्रकार ईश्वर विषयक सभी आधारभूत मान्यताओं के प्रति धर्मपरायण व्यक्ति की एक खास प्रतिबद्धता होती है। इसी प्रतिबद्धता का उल्लेख करते हुए फ्लू कहते हैं कि "जो व्यक्ति धर्मपरायण नहीं है उन्हें प्रायः ऐसा प्रतीत होता है कि ऐसी कोई घटना अथवा घटनाओं की शृंखला नहीं है जिसके घटित होने को सुशिक्षित धर्मपरायण व्यक्ति इस बात को स्वीकार करने का पर्याप्त कारण मान सकें कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं है अथवा ईश्वर हमें वास्तव में प्यार नहीं करता।"[१०] इसका अर्थ यही है कि धर्मपरायण व्यक्ति अपने ईश्वर विषयक कथनों को पूर्णतः अमिथ्यापनीय मानते हैं। ऐसी स्थिति में फ्लू के मतानुसार ऐसे अमिथ्यापनीय कथन तथ्यबोधक अथवा तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नहीं हो सकते, क्योंकि किसी तथ्य का निषेध न करने के कारण ये कथन किसी तथ्य का वर्णन भी नहीं करते।

एयर के समान फ्लू के उपर्युक्त कथन में भी बल दीखता है, क्योंकि इनकी चुनौती का संतोषप्रद उत्तर देने के लिए "धर्मपरायण व्यक्ति को यह स्वीकार करना पड़ेगा कि ईश्वर विषयक धार्मिक कथन मिथ्यापनीय है – अर्थात्

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कुछ तथ्यों द्वारा उनका निषेध करना संभव है।" परन्तु जैसा कि मिचेल ने कहा है, ईश्वर के प्रति अपनी अखंड आस्था और प्रतिबद्धता के कारण धार्मिक व्यक्ति इन कथनों को वास्तव में कभी भी मिथ्यापनीय नहीं मान सकता। यदि वह इन धार्मिक कथनों को मिथ्यापनीय मान लेता है तो उसके धर्म का मूल आधार ईश्वर ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि तब उसके लिए यह स्वीकार करना अनिवार्य होगा कि कुछ तथ्य इन कथनों का निषेध करते हैं; जिसके फलस्वरूप हम सार्थकता पूर्वक यह कह सकते हैं कि ईश्वर का अस्तित्व नहीं हैं, वह सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् तथा दयालु नहीं है और वह हम सब से प्रेम नहीं करता है। स्पष्ट है कि कोई भी धर्मपरायण व्यक्ति अपने ईश्वर संबंधी आस्था के विरुद्ध इस घातक स्थिति को स्वीकार नहीं कर सकता। यही कारण है कि वह ईश्वर विषयक आधारभूत धार्मिक कथनों को अमिथ्यापनीय ही मानता है। परन्तु कठिनाई यह है कि वह इन कथनों को अमिथ्यापनीय मानने के साथ-साथ इन्हें तथ्य-बोधक अथवा संज्ञानात्मक भी मानता है। उसकी इसी मान्यता को अस्वीकार करते हुए फ्ल्यू ने कहा है कि यदि ये कथन मिथ्यापनीय हैं तो ये संज्ञानात्मक अथवा तथ्यात्मक दृष्टि से सार्थक नहीं हो सकते। धर्मपरायण व्यक्ति के लिए यही फ्ल्यू की गंभीर चुनौती है जिसका संतोषप्रद उत्तर वह नहीं दे पाता है।

अब प्रश्न है कि क्या धार्मिक कथनों को असंज्ञानात्मक कथन मानकर धार्मिक भाषा की सार्थकता का निषेध स्वीकार कर लिया जाए? नहीं। ऐसा करना सर्वथा अनुचित होगा। कारण धार्मिक संदर्भ में या धार्मिक जीवन पद्धति के अन्तर्गत रहकर धार्मिक भाषा की सार्थकता सिद्ध की जा सकती है। इस बात की ओर समकालीन युग के अतिप्रतिभाशाली दार्शनिक लुडविग विट्गेन्स्टाइन् ने स्पष्ट रूप से संकेत किया है। उनके अनुसार सत्यापनीयता-मिथ्यापनीयता की कसौटी धार्मिक प्रकथनों की अर्थपूर्णता निर्धारित करने के लिए काम में नहीं लायी जा सकती है। इसका कारण यह है कि धार्मिक प्रकथनों की अर्थपूर्णता तथ्यात्मक प्रकथनों की अर्थपूर्णता से सर्वथा भिन्न है। विट्गेन्स्टाइन् इस बात से सहमत हैं कि सत् की सूचना प्राप्त करने के लिए भाषा ही एक मात्र अनिवार्य साधन है। किन्तु वैसी सत् की सीमा विश्व तक ही है जिसकी अर्थपूर्णता की कसौटी सत्यापनीयता– मिथ्यापनीयता मानी जाती है। वे मानते हैं कि मानवीय भाषा की सीमा के बाहर रहस्यमय महान् (ईश्वर) की सत्ता है जिसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता क्योंकि उस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रहस्यमय महान् तक पहुँचने पर भाषा मूक हो जाती है। रहस्यमय परिलक्षित होता है, पर इसे चर्चित नहीं किया जा सकता है।[११] यह पूछने पर कि रहस्यमय महान् (ईश्वर) की सत्ता है जिसके विषय में कुछ कहा नहीं जा सकता क्योंकि उस रहस्यमय महान् तक पहुँचने पर भाषा क्यों मूक हो जाती है, ऐसा कहा जाता है कि अतीन्द्रिय और परमरहस्यमय महान् को चर्चित करके हम अपरिमित को परिमित बना देते हैं जो सर्वथा अनुचित है। यही कारण है कि रहस्यमय परिमित और तुच्छ हो जाने की आशंका से विट्गेन्स्टाइन् ने बताया है कि रहस्यमय महान् हमारी भाषा की परिधि को बाँध देता है और इसलिए उसे मूक रह जाना ही ठीक है। विट्गेन्स्टाइन् का यह मत इमानुएल कांट के मत से मिलता-जुलता है क्योंकि कांट भी मानते हैं कि हमारी विचार-कोटि प्रातिभासिक जगत् के लिए उपयुक्त है और अपनी विचार कोटि के आधार पर जब भी हम परम सत् को जानने का प्रयास करते हैं तो हम भाषा-बिडम्बना में पड़ जाते हैं। उपनिषदों में भी नेति-नेति कहकर बताया गया है कि निर्गुण ब्रह्म को किसी भी भाषा के द्वारा चर्चित नहीं किया जा सकता है।

अब यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि किस प्रकार के भाषा का प्रयोग करके रहस्यमय महान् की उपस्थिति को चर्चित नहीं तो कम से कम परिलक्षित किया जाए? मेरी समझ से भाषा के लाक्षणिक उपयोग के द्वारा रहस्यमय महान् का उद्बोधन किया जा सकता है। जैसे, राजा मिलिन्द के बार बार पूछने पर कि निर्वाण का क्या स्वरूप है, भदन्त नागसेन चुप्पी मारकर बैठ गये। राजा के द्वारा फिर कई बार पूछे जाने पर भदन्त नागसेन ने कहा, "निर्वाण शान्त"। राजा को इससे संतोष नहीं हुआ। उन्होंने फिर हाथ जोड़कर विनय किया और कहा, भदन्त नागसेन, "कुछ भी तो आप कहें, जिससे मेरी जिज्ञासा शांत हो जाए।" इस पर नागसेन ने कहा अक्षरशः निर्वाण के संदर्भ में कुछ भी नहीं कहा जा सकता है, पर उपमाओं के द्वारा इसके स्वरूप पर थोड़ा प्रकाश पड़ सकता है। निर्वाण समुद्र के समान गहरा, आकाश के समान ऊँचा, मधु के समान मीठा, कमल के समान जल में रह कर भी अनार्द्र है। स्पष्ट है कि नागसेन ने उपमाओं के द्वारा राजा मिलिन्द को "शांत निर्वाण" का उद्बोधन कराया। इसी तरह शंकर के अद्वैत वेदान्त में जब कहा जाता है कि 'जीवो ब्रह्मैव, नापरः' तब वहाँ जीव-ब्रह्म के ऐकात्म्य का लाक्षणिक अर्थ लिया जाता है। यहाँ ब्रह्म का बोध होता है, जिसे शब्दों के द्वारा वर्णित नहीं किया जा सकता है, पर असाक्षात्

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

रीति से ब्रह्म-चेतना जगायी जा सकती है। अतः धर्म-भाषा आत्म बोधनात्मक तथा उद्‌बोधनात्मक होती है।[१२] जब साधारण भाषा के द्वारा अपने में ही इस ब्रह्मानुभूति को जगाया जाता है तो इस असाक्षात् रीति से व्यवहृत भाषा को आत्मबोधनात्मक कहा जाता है, और जब अन्य श्रोतागणों में उपमामय नकारात्मक तथा अन्य प्रकार की साधारण भाषा को असाक्षात् रीति से काम में लाकर उनमें रहस्यमय महान् के प्रति नूतन दिव्यदृष्टि का भान करायां जाता है तो इस प्रकार की भाषा को उद्‌बोधनात्मक कहा जाता है।

स्पष्ट है कि धार्मिक भाषा की सार्थकता को सत्यापनीयता–मिथ्यापनीयता की कसौटी पर कस कर नहीं बल्कि धार्मिक जीवन पद्धति के अन्तर्गत जी कर जाना जा सकता है।

दर्शन विभाग — के. पी. वर्मा
ल. ना. मिथिला विश्वविद्यालय
दरभंगा– ८४६ ००४ (बिहार)

टिप्पणियाँ

१. आई. एम. क्रॉम्बी, " दि पॉसिबिलिटी ऑफ थियॉलॉजिकल स्टेट्‌मेंट्स ' फेथ एण्ड लॉजिक, संपादक बेसिल मिचेल, जार्ज अॅलन १९७५, पृ. ३२

२. डॉ. याकूब मसीह, समकालीन धर्मदर्शन, बिहार हिन्दी ग्रंथ अकादमी, सम्मेलन भवन, पटना, १९७२, पृ. २९३

३. आई. एम. क्रॉम्बी, " दि पॉसिबिलिटी ऑफ थियॉलॉजिकल स्टेट्‌मेंट्स ", दि फिलासॉफी ऑफ रिलिजन, संपादक बेसिल मिचेल, ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस १९७८, पृ. २४

४. जॉन हिक, " थियॉलॉजी अॅण्ड व्हेरिफिकेशन " दि फिलॉसॉफी ऑफ रिलिजन, संपादक बेसिल मिचेल, ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस १९७८, पृ. ५३

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

५. उद्धृत डॉ. वेद प्रकाश वर्मा, समकालीन विश्लेषणात्मक धर्मदर्शन, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय, १९८२; पृ. ९७

६. जॉन हिक, फेथ ऍण्ड नॉलेज, दि एविजस्टन्स ऑफ गॉड, कॉर्नेल युनिवर्सिटी प्रेस, १९५७ पृ. २६२

७. ए. जे. एयर, लॅंग्वेज, ट्रूथ ऍण्ड लॉजिक; भीक्टर गोलोन्ज, १९४८; पृ. ११८

८. डॉ. वेद प्रकाश वर्मा, समकालीन विश्लेषणात्मक धर्मदर्शन, हिन्दी माध्यम कार्यान्वय निदेशालय, दिल्ली विश्वविद्यालय १९८२, पृ. २९

९. वही, पृ. ३३

१०. न्यू एसेज इन फिलॉसॉफिकल थियॉलॉजी, संपादक, अॅ. फ्ल्यू और अ. मॅकिंटायर उद्धृत डॉ. वेद प्रकाश वर्मा द्वारा, समकालीन विश्लेषणात्मक धर्मदर्शन पृ. ३९

११. डॉ. याकूब मसीह, सामान्य धर्मदर्शन, मोतीलाल बनारसीदास, पटना, १९८५ पृ. ६६

१२. वही, पृ. ६८

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अद्वैत वेदान्त में जीवन्मुक्ति का सम्प्रत्यय

भारतीय दर्शन में (चार्वाक को छोड़कर) परम शुभ एवं परम पुरुषार्थ मोक्ष को माना गया है। भारतीय दार्शनिक मोक्ष से कम किसी मूल्य को जीवन का परम शुभ स्वीकार ही नहीं करते हैं। प्राचीन ऋषियों ने तो तात्त्विक प्रश्नों का विवेचन केवल साधन रूप में ही किया है। दार्शनिक चिंतन का मुख्य लक्ष्य जीवन के दुःखों को दूर करना है। जिस प्रकार भिन्न-भिन्न रंग की गायों के दूध का रंग एक ही (सफेद) होता है, उसी प्रकार दार्शनिक आचार्यों के अलग-अलग होते हुए भी उनकी शिक्षाओं का उद्देश्य एक ही है : जीव को मोक्षदायक ज्ञान प्रदान करना। मोक्ष और मुक्ति शब्द क्रमशः मोक्ष् और मुच् धातु से बने है, जिनका अर्थ 'स्वतन्त्र होना' या 'छुटकारा पाना' है। प्राचीन ऋषियों एवं महर्षियों ने इस बात का अच्छा अनुभव किया था कि जन्म-जन्मान्तर से छुटकारा पाना ही सभी साधनाओं का लक्ष्य है। मानव-मस्तिष्क को तभी शान्ति मिलती है जबकि वह वेदान्त के इस सत्य का साक्षात्कार कर लेता है कि एकमात्र सत् ब्रह्म है तथा सम्पूर्ण विश्व उसी से उत्पन्न है।

जिस प्रकार बहती हुई नदियों के बहुत से जल-प्रवाह बड़े वेग से समुद्र के सम्मुख हुए ही दौड़ते हैं,[1] उसी प्रकार ईश्वर प्राप्ति के लिए अलग-अलग शास्त्रों एवं दर्शनों के द्वारा निर्दिष्ट मार्ग भले ही भिन्न-भिन्न हों किन्तु उन सबका एक ही लक्ष्य आत्मप्राप्ति है।

भारतीय मनीषियों ने चार प्रकार के पुरुषार्थ बताये हैं। ये हैं- अर्थ, धर्म, काम और मोक्ष। सामान्यतः इनमें से अर्थ और धर्म साधन मूल्य हैं तथा काम और मोक्ष साध्य मूल्य हैं। कठोपनिषद् में सांसारिक सुखों का रास्ता यानी काम और आध्यात्मिक रास्ता अर्थात् मोक्ष को क्रमशः प्रेय और श्रेय मार्ग कहा गया है। उपनिषदों का 'तत्त्वमसि' महावाक्य ही सबका केन्द्र रहा है। इसी आत्म-प्राप्ति या आत्मज्ञान के लिए देवर्षि नारद आत्मज्ञानी सनत्कुमार के पास गये

परामर्श (हिन्दी), वर्ष ७, अंक ३, जून, १९८६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और उनसे उस विद्या को जानने की इच्छा व्यक्त की, जिससे सब दुःखों का नाश होकर परमश्रेय को प्राप्ति होती है।[२]

कठोपनिषद् में बालक नचिकेता इहलौकिक तथा पारलौकिक सुखों के प्रलोभन में नहीं पड़ता है तथा यमराज से आत्मविद्या तथा मोक्षशास्त्र का उपदेश सुनकर उसने अमरत्व प्राप्त किया। इसी प्रकार मैत्रेयी के सांसारिक सुखों से असन्तोष ने ही ज्ञानी याज्ञवल्क्य को उसे (मैत्रेयी को) पराविद्या का ज्ञान देने के लिए मजबूर किया जिससे अमरत्व प्राप्त होता है और सांसारिक सुखों से छुटकारा मिल जाता है। वह अत्यन्त सरल प्रश्न पूछती है कि "मैं ऐसी सम्पत्ति को लेकर क्या करूंगी जिससे कि मुझे अमरत्व की प्राप्ति नहीं होती है?"[३] अन्त में याज्ञवल्क्य कहते हैं कि आत्मा का श्रवण, मनन, निदिध्यासन से दर्शन करना चाहिए। महात्मा बुद्ध को भी जीवन-मृत्यु के इस चक्र ने ही वैराग धारण करने के लिए विवश किया तथा अन्त में उन्होंने दुःख-निवृत्तिमार्ग का प्रतिपादन किया। भगवान् महावीर का भी उद्देश्य जीवन को कर्म के बन्धन से मुक्त कर कैवल्य प्राप्त कराना था।

इस प्रकार उपर्युक्त विवेचनों से (दुःख-निरोध का मार्ग है) उन आलोचकों का स्वतः खण्डन हो जाता है जो कि भारतीय दर्शन को निराशावादी और पलायनवादी करार देते है।[४] जीवन्मुक्ति के आदर्श सैद्धांतिक रूप में स्वीकार न करने वाले न्याय-वैशेषिक[५] और विशिष्टाद्वैत[६] जैसे दर्शनों में भी इहलोक में ही मनुष्य के ज्ञान की ऐसी अवस्था को प्राप्त होने की सम्भावना को स्पष्ट रूप से स्वीकार किया गया है, जो संसार के प्रति मनुष्य के दृष्टिकोण को पूर्णतः बदल कर बाद के उसके जीवन को एक बिलकुल ही नया अर्थ प्रदान कर देती है। अतः ऐसी स्थिति को जीवन्मुक्ति कहा जा सकता है। कठोपनिषद् में भी कहा गया है कि जब हृदय की सभी कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं, तब मनुष्य अमर हो जाता है और इस लोक में ही ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।[७]

आचार्य गौड़पाद ने कहा है कि जीव अनादि माया में सोया हुआ है, जब ब्रह्मज्ञान से वह जाग जाता है, तब अज्ञान निद्रा से रहित अद्वैत तत्त्व को जान लेता है।[८]

कर्म ही बंधन का कारण है इसलिए गीता में कहा गया है कि ज्ञान रूपी अग्नि समस्त कर्मों को भस्म कर देती है।[९] ब्रह्मात्म-ऐक्य की प्राप्ति ही परम-पुरुषार्थ है। ब्रह्मरूप होना आनन्द स्वरूप होना है।

आचार्य शंकर के अनुसार जगत् एवं ब्रह्म में वही सम्बन्ध है जो दही और दूध में या बर्फ और पानी में हुआ करता है। जगत् ब्रह्म का ही परिणमित रूप

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। अविद्या के कारण उसे ब्रह्म से स्वतंत्र माना जाता है। उसी प्रकार ब्रह्म और जीव में शंकर के अनुसार उसी प्रकार का सम्बन्ध है जिस प्रकार का सम्बन्ध अग्नि और उसके स्फुल्लिंग में हुआ करता है। जैसे स्फुल्लिंग में अग्नि ही है, उससे भिन्न कुछ नहीं, उसी प्रकार जीव ब्रह्म ही है। लेकिन अविद्यावशात् लोग जीव को ब्रह्म से भिन्न मानते हैं। चित्सुख के अनुसार जिस प्रकार ताप की सत्ता का अनुमान हम उसकी जलाने की शक्ति से लगा सकते हैं उसी प्रकार अविद्या की सत्ता का अनुमान हम उसके परिणाम से लगा सकते हैं।

शंकर के अनुसार मोक्ष कोई नई चीज नहीं है जिसे प्राप्त करना है। जीव का स्वयं को वैसा समझ लेना ही मोक्ष है जो कि वह पहले से ही था, अथवा हमेशा से उसका सहज स्वरूप था परन्तु अविद्या के कारण कुछ समय के लिए वह अपने स्वरूप को भूल गया था। उपनिषद् में कहा गया है– 'तत् त्वं असि' (वह तू है), तत् त्वं भव (वह तू हो जा)। शंकराचार्य ने गान्धारवासी एक राजकुमार का दृष्टान्त दिया है जिसका लालन-पालन बचपन से ही एक शिकारी के घर में हुआ है पर बाद में जो जान लेता है कि वह एक राजकुमार है।[१०] यहाँ वह कुछ नया नहीं हो गया क्योंकि वह पहले से ही एक राजकुमार था और उसे अब यह बात समझ में आ गयी है कि वह एक राजकुमार है। उसी प्रकार मुक्ति को समझना चाहिए। आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान की प्राप्ति के लिए सर्वप्रथम अन्तःकरण की शुद्धि आवश्यक है। यहाँ यह ध्यान देना अपेक्षित है कि सदाचरण और अन्तःकरण की शुद्धि निश्चय ही आवश्यक है, पर ये केवल ज्ञान के सहायक हैं, मोक्ष के नहीं।[११] मोक्ष-प्राप्ति के ये नैतिक साधन दो प्रकार के हैं जिन्हें क्रमशः बहिरंग एवं अन्तरंग साधन कहा जाता है। विवेक, वैराग्य, शमादि और मुमुक्षत्व ये चार बहिरंग साधन हैं जिन्हें साधन चतुष्टय कहा जाता है। श्रवण, मनन, निदिध्यासन ये तीन अन्तरंग-साधन हैं। निदिध्यासन का अर्थ ब्रह्मात्म के स्वरूप का सतत ध्यान करना है। ध्यान ज्यों ज्यों दीर्घकाल तक अभ्यासपूर्वक किया जायेगा त्यों-त्यों ध्यान से आत्मज्ञान प्रकट होगा। इस प्रकार श्रुति से परोक्ष ज्ञान उत्पन्न होता है और वह तर्क तथा ध्यान से अपरोक्ष ज्ञान में परिणत हो जाता है। इसके समर्थक वाचस्पति मिश्र एवं मंडन मिश्र हैं किन्तु विवरण प्रस्थानवादी पद्मपाद के अनुसार मानते हैं कि तत्त्वमसि आदि वाक्यों से अपरोक्ष ज्ञान होता है।

शंकर के अनुसार मोक्ष स्वयं का ब्रह्म से अभेद ज्ञान है और यह ज्ञान जरूरी नहीं कि मनुष्य के जीवन में न प्राप्त हो। इस प्रकार वे जीवन्मुक्ति को स्वीकार करते हैं। उनका स्वयं का जीवन ही इसका प्रमाण है। आत्मज्ञान तथा शरीर की उपस्थिति में कोई आत्मविरोध नहीं है। इसको स्पष्ट करने के लिए वे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतिप्रश्न करते है -- यदि जीवनमुक्त अर्थात् पूर्णज्ञानी इस संसार में न होते तो संसार का पथप्रदर्शन कौन करता ? दूसरे, किसी अन्य व्यक्ति को जीवन्मुक्ति के संप्रत्यय के खण्डन का अधिकार भी न होगा क्योंकि वह अपूर्ण ज्ञानी होगा। शंकर पूर्वपक्षी के रूप में पूछते है कि किसी मनुष्य के शरीर रहते ब्रह्म-ज्ञान के अन्तरंग अनुभव के सम्बन्ध में अन्य कोई व्यक्ति कैसे विवाद कर सकता है ? [१२] यहां एक चीज का उल्लेख कर देना आवश्यक है कि जीवन्मुक्ति का संप्रत्यय हमेशा से ही विभिन्न वेदान्ती सम्प्रदायों में, तथा स्वयं शंकर के अनुगामियों में, विवाद का विषय रहा है। अन्य वेदान्तियों की यह आपत्ति है कि शरीर अविद्या या कर्म का परिणाम है तथा मोक्ष ब्रह्म का ज्ञान है तो यह कैसे सम्भव हो सकता है कि मोक्ष भी प्राप्त हो जाय अर्थात् ब्रह्म का ज्ञान हो जाय एवं कर्म या अविद्या का परिणाम शरीर भी रहे ? क्या प्रकाश और अंधकार एक साथ रह सकते हैं ? इस प्रश्न का समाधान इस प्रकार हो सकता है कि केवल सकाम कर्म ही ऐसे कर्म हैं जो कि अतृप्त इच्छाओं से प्रेरित होते है, बन्धन के कारण होते हैं। निष्काम कर्म बन्धन के कारण नहीं होते हैं। मुक्तात्मा जीवित अवस्था में भी अहंभाव से ऊपर उठ जाते है और इस प्रकार विधान तथा कर्म के शासन से भी परे हो जाते हैं और वे सर्वोच्च सत्ता के भाव से ओतप्रोत होकर कर्म करते है। कर्म तथा मुक्ति के मध्य अनिवार्य प्रतिकूलता नहीं है। [१३] जीवन्मुक्ति को लेकर शंकरोत्तर वेदान्तियों में काफी मतवैभिन्य रहा। मुख्य प्रश्न यह रहा कि मोक्ष की प्राप्ति एवं शरीर की उपस्थिति इन दोनों में कैसे सामंजस्य बिठाया जाय ? इसका उत्तर यह है कि ज्ञान का उदय होने पर भी अज्ञान या अविद्या का कुछ अंश शेष रह जाता है जिसे अविद्यालेश कहते हैं। जिस प्रकार हींग के डिब्बे को धोने पर भी हींग की महक रह जाती है वैसे ही अज्ञान की वासना का रहना अविद्यालेश है। इस अविद्यालेश के कारण प्रारब्ध कर्म जब तक भोग नहीं लिए जाते हैं तब तक मुक्त जीवन का शरीर रहता है। मुक्त जीव अपने संचित तथा क्रियमाण कर्मो को नष्ट कर देता है। अतः प्रारब्ध के समाप्त होने पर उसका देहपात होता है और पुनर्भव नहीं होता है। मोक्ष-प्राप्ति पर भी शरीर की विद्यमानता से कोई विरोध नहीं है। जिस प्रकार दण्डिका को हटा लेने पर भी कुम्हार का चक्र कुछ समय तक घूमता रहता है क्योंकि पहले से जो गति इसने प्राप्त कर ली है उसे रोकने का कोई कारण उसके अन्दर नहीं है। [१४] जिनमें सर्वज्ञात्म मुनि एवं प्रकाशानन्द प्रमुख हैं ऐसे अन्य कुछ वेदान्तियों अनुसार ज्ञान से सम्पूर्ण अविद्या का नाश होता है। अविद्यालेश नामक कोई वस्तु नहीं है। इस प्रकार ये लोग विदेहमुक्ति का समर्थन करते है तथा जीवन-मुक्ति को स्वतोव्याघाती पद बतलाते हैं। मुक्ति में शरीर का पात आवश्यक है। परन्तु यदि हम जीवन्मुक्ति को

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अस्वीकार करते हैं तो अनेक कठिनाइयां उत्पन्न होती है। प्रत्यगात्म-स्वरूप कहते हैं कि अविद्या-निवृत्ति जीवन काल में ही होती है क्योंकि जीवन के बाद ज्ञानोत्पत्ति के साधन इन्द्रियादि के न रहने से ज्ञानोत्पत्ति नहीं हो सकती है। इस तरह यदि मुक्ति है तो वह जीवन्मुक्ति ही है और यदि जीवन्मुक्ति नहीं है तो मुक्ति भी नहीं है।[१५]

इसके आलावा जीवन्मुक्ति के समर्थन में अनेक श्रुतियों का उल्लेख किया गया है।[१६]

१ – मुण्डक उपनिषद् (३।२।६) में कहा गया है कि ब्रह्म को जाननेवाला स्वयं ब्रह्म बन जाता है।[१७]

२– बृहदारण्य उपनिषद् (४।४।७) में कहा गया है कि वह यहीं पर ब्रह्म को प्राप्त कर लेता है।

३ – केन उपनिषद् (२।५) में कहा गया है कि यदि ब्रह्म को यहां नहीं जाना तो महान् विनाश होता है।

४ – बृहदारण्यक उपनिषद् (३।८।१०) में कहा गया है कि जो इस संसार से ब्रह्म को बिना जाने चला जाता है उसकी दशा अत्यन्त शोचनीय है। वह (आध्यात्मिक दृष्टि से) बहुत गरीब है।

५ – कठ उपनिषद् (२।३।१४) में कहा गया है जिस समय सम्पूर्ण कामनाएँ टूट जाती हैं उस समय वह मर्त्य अमर हो जाता है और इस शरीर से ही ब्रह्म भाव को प्राप्त हो जाता है।

वस्तुतः औपनिषदिक दर्शन का सार ही यह बतलाना है कि ब्रह्मज्ञान एवं शरीर में कोई विरोध नहीं है। जीवन्मुक्ति को अस्वीकार करने का अर्थ श्रुति की प्रामाणिकता को अस्वीकार करना है और श्रुति को अस्वीकार करने का अर्थ मानव अनुभव के सबसे मूल्यवान् अंश को अस्वीकार कर देना है।

मोक्ष या मुक्ति का सम्प्रत्यय भारतीय दर्शन की विश्वचिंतन को दी गयी अमूल्य निधि है। इसकी महत्ता तब और बढ़ जाती है जबकि यह शरीर रहते ही प्राप्त हो सकती है तथा उसके लिए शरीर-पतन जरुरी नहीं है। आचार्य शंकर ने जीवन्मुक्ति के सम्प्रत्यय का उद्घोष करके मानवता को एक साहसपूर्ण वचन का सहारा दिया है। शंकर के अद्वैत में मानव चिंतन अपने चरम शिखर पर पहुँच गया है जिसके अनुसार ब्रह्म ही एक मात्र परमतत्त्व है और जीव एवं जगत् उससे नितान्त अभिन्न हैं।

एल्. आई. जी. टाइप 'बी'
ब्लॉक क्रमांक ९।५०
गोविन्दपुर कॉलनी
इलाहाबाद, (उ. प्र.)

– राजेशकुमार सिंह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

टिप्पणियाँ

१. यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखाद्रवन्ति ।
श्रीमद्भगवद्गीता ११।२८ ॥

२. तरति शोकमात्मविदित सोऽहं भगवः शोचामि तं मा
भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति । छान्दोग्य उपनिषद् ७।१।३ ॥

३. बृहदारण्यक उपनिषद् २.४.३ । ४.५.४ ॥

४. Schweitrer Albert– *Indian Thought and its Development*

५. वात्स्यायन, न्यायसूत्र भाष्य ४.२.२

६. रामानुज; श्रीभाष्य ४.१.१३ ॥

७. कठोपनिषद् २.३.१४ ॥

८. अनादिमाययासुप्तो यदा जीव प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥
– माण्डूक्यकारिका १।१६ ॥

९. ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा ।
– गीता ४।३७ ॥

१०. बृहदारण्यक शांकरभाष्य २.१.२० ॥

११. वेदान्तसूत्र, ३.४.२७ ॥

१२. ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य, ४.१ १५ ॥

१३. राधाकृष्णन्– भारतीय दर्शन –२ (हिन्दी अनुवाद), पृ. ४४६ ॥

१४. ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य ४।१।१५ ।

१५. चित्सुखी– नयन प्रसादिनी टीका पृ.६०४ ॥

१६. लाड अशोक कुमार; भारतीय दर्शन में मोक्ष चिन्तन पृ. १७३–१७४ ॥

१७. ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति ।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संशय का दार्शनिक विश्लेषण

भारतीय ज्ञानमीमांसा में 'प्रमा' पद अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। यह पद बहुधा 'यथार्थ ज्ञान' के पर्याय के रूप में प्रयुक्त किया गया है। प्रमा का विरोधी पद 'अप्रमा' है। भारतीय दार्शनिक संशय को अप्रमा की कोटि में रखते हैं। कुमारिल ने एक स्थान पर प्रमा की परिभाषा करते हुए 'तस्मात् दृढ़ं' पद का प्रयोग किया है[1]। अम्बिका ने इसकी व्याख्या करते हुए 'दृढ़ं' को सन्देह का अभाव कहा है। इस प्रकार प्रमा की अभावात्मक उपाधि के रूप में भी संशय का विवेचना अनिवार्य प्रतीत होती है। नैयायिकों ने भी संशय को प्रमा की कोटि से अलग रखा है।[2] इस प्रकार भी प्रमा के स्वरूप निरूपण के लिये संशय का विश्लेषण अपेक्षित है। पाश्चात्य तर्कनिष्ठ अनुभववादी भी जानने की अनिवार्य उपाधि विश्वास बताते हैं जो 'संशय' का विरोधी है। इस प्रकार ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से 'संशय' का विश्लेषण महत्त्वपूर्ण है।

१. संशय का स्वरूप

संशय के स्वरूप के संबंध मे स्पष्टतः मनोवैज्ञानिकों की भाँति हम यह प्रश्न नहीं करेंगे कि संशय की स्थिति में हम किस प्रकार की मानसिक प्रक्रिया या किन प्रकार की मानसिक प्रक्रियाओं से गुजर रहे होते हैं। हमारा प्रश्न यह होगा कि वे कौन सी बाह्य और आन्तरिक उपाधियां हैं जो किसी प्रतिज्ञप्ति को संदिग्ध बनाती हैं अथवा कौनसी स्थिति को सन्देह की संज्ञा दे देती हैं।

सन्देह अथवा संशय क्या है? साधारण बोलचाल की भाषा में किसी भी स्थिति के बारे में दो या अधिक भिन्न मत, जिनमें से दोनों या सभी एक साथ संभव न हो और किसी एक के प्रति या एकाधिक के प्रति हम अपनी मति अथवा अपने विश्वास को स्थिर न कर पा रहे हों, तो उस स्थिति को सन्देह की स्थिति कहेंगे। प्रायः दार्शनिक गवेषणा का विषय भी संशय का यही स्वरूप रहा है। नैयायिक सन्देह को तृतीय पदार्थ कहते हैं। वे इसे इस प्रकार का ज्ञान कहते है

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जिसका विषय दो विरोधी कोटियाँ होती हैं।[३] तर्कसंग्रह में संशय को एक ही वस्तु को विभिन्न व्याघाती धर्मों से युक्त बतानेवाली मानसिकता कहा गया है।[४] श्लोकवार्तिक में कुमारिल ने संशय को अनवधारणात्मक ज्ञान कहा है जिसमें एक ही वस्तु को विपरीत धर्मों से युक्त समझा जाता है तथा जिन धर्मों के प्रति निश्चयात्मकता का अभाव रहता है, जैसे किसी लम्बी वस्तु को देखकर निश्चय नहीं कर पाना कि यह मनुष्य है अथवा वृक्ष का तना।[५] इसी आधार पर डॉ. गोवर्धन भट्ट ने संशय को निश्चयात्मकता या विश्वास का अभाव बताया है।[६] परन्तु डॉ. सतीशचन्द्र चटर्जी के अनुसार संशय मात्र निश्चयात्मकता अथवा सन्देह का अभाव नहीं। यह एक भावात्मक अवस्था है जहाँ एक ही वस्तु का बोध एक ही समय में विपरीत गुणों से युक्त होकर होता है[७]

डॉ. चटर्जी ने संशय का विश्लेषण निम्नलिखित प्रकार से किया है।[८]

१) संशय में एक अस्तित्ववान् वस्तु की उपस्थिति होती है।

२) साहचर्य गुण के कारण उपस्थित वस्तु में दो या दो से अधिक गुणों की चेतना होती है जिनमें से प्रत्येक पृथक् पृथक् उचित भी प्रतीत होता है, साथ ही सहचारी चेतना के द्वारा बाधित भी प्रतीत होता है।

३) किसी निश्चित बोध के अभाव में मन किसी एक चेतना के प्रति स्थिर नहीं हो पाता और सन्देह उत्पन्न होता है, तथा

४) इस प्रकार सन्देह एक ही वस्तु में विभिन्न विरोधी गुणों का स्मरण है जिसके समान कुछ भी वस्तुजगत् में उपस्थित नहीं होता (विषय स्मृत्यापेक्षा)। सन्देह में मानसिक आन्दोलन की सही प्रक्रिया एक प्रश्न के रूप में अभिव्यक्त होती है। यथा–क्या यह कोई मनुष्य है या खम्भ है या वृक्ष का तना है?

परन्तु पाश्चात्य दार्शनिक बोसांके संशय को इस प्रकार का प्रश्न नहीं बल्कि वैकल्पिक प्रतिज्ञप्ति कहते हैं। वस्तुतः इस बात पर विवाद की पूरी सम्भावना है कि संशय प्रश्न है या वैकल्पिक प्रतिज्ञप्ति?

पुनः विवाद का एक बिन्दु यह भी है कि डॉ. चटर्जी संशय की विषय–वस्तु को अस्तित्ववान् कहते हैं। अस्तिवान् कहने से विषय–वस्तु का दो प्रकार से बोध होता है। प्रथमतः ऐसी वस्तु जो वस्तुतः अस्तित्ववान् हो, यथा इस समय जो कलम मेरे हाथ में है वह अस्तित्ववान् है। तथा द्वितीयतः ऐसी वस्तु जिसका अस्तित्व इस वस्तुजगत् में तो हो पर किसी काल विशेष में किसी स्थान–विशेष पर वह उपस्थित न हो, जैसे हाथी अस्तितत्वान् है परन्तु इस समय इस कमरे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

में उपस्थित नहीं है। डॉ. चटर्जी ने प्रथम अर्थ में अस्तित्ववान् शब्द का प्रयोग किया है।

अब क्या वस्तुतः संशय की स्थिति में कोई अस्तित्ववान् वस्तु उपस्थित होती है? रात में अन्धेरे में जब हमारी नींद खुलती है, वातावरण एकदम निस्तब्ध होता है, बिना किसी समान्य सरसराहट का भी अनुभव किये हमारे मन में यह संशय आता है क्या आंगन में चोर छुपकर बैठा है? ऐसी स्थिति में वहाँ मैं के अतिरिक्त कोई अस्तित्ववान् वस्तु संशय के लिये उपस्थित नहीं होती। वस्तुतः जैसा कि देकार्त स्वीकार करता है, संशय से संशयकर्ता के अतिरिक्त किसी भी वस्तु का अस्तित्व सिद्ध नहीं होता। या जैसा कि देकार्त के आलोचक कहते हैं, यह भी कहा जा सकता है कि संशय से मात्र संशय सिद्ध होता है, संशयकर्ता भी नहीं।

किन्तु क्या वस्तुतः संशय से संशय की वस्तु और संशयकर्ता सिद्ध नहीं होते? फिर संशय से क्या सिद्ध होता है? मात्र संशय? तो संशय का स्वरूप क्या है? उसके संघटक तत्त्व क्या हैं? क्या इन संघटकों में संशय की वस्तु और संशयकर्ता सम्मिलित नहीं हैं?

ऐसा प्रतीत हो रहा है जैसे यह एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया की भाँति संशय की जाँच की जा सकती है। परन्तु दर्शन और मनोविज्ञान के तथ्यों को घालमेल से बचाना होगा। क्योंकि स्पष्टतः दर्शन और मनोविज्ञान के विषय–वस्तु अगर एक हों तो भी दोनों की विधियों में अन्तर है, और यही अन्तर मनोविज्ञान और दर्शन के बीच की विभाजक रेखा है। यह रेखा अनिवार्य है क्योंकि दर्शन वहाँ भी, जहाँ कि वह पूर्णतः आनुभविक जगत् की बात करता है, तार्किक संभाव्यता की बात करता है किन्तु मनोविज्ञान या दूसरे आनुभविक शास्त्र मात्र आनुभविक संभावनाओं और सत्यों से ही काम चलाते हैं। यही कारण है जहाँ दूसरे शास्त्र या विज्ञान अपने अपने निष्कर्षों को अनिवार्य स्वीकार कर चलते हैं वहाँ दर्शन इस अनिवार्यता को भी संशय की दृष्टि से देखता है। इस दृष्टि से हमें यहाँ तार्किक सन्देहवाद और मनोवैज्ञानिक संशय का भेद समझ लेना होगा।

२. तार्किक सन्देहवाद और मनोवैज्ञानिक संशय

दर्शन में सन्देहवाद का प्रारम्भ प्राचीन युनानी दर्शन से होता है[१०]। प्राचीन यूनान में सन्देहवाद के भी पूर्व एक दार्शनिक हठवाद आया जो दर्शन के प्रारम्भ में ही कुछ आधार वाक्यों को मान लेता था और इस आधारवाक्यों की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परीक्षा किये बिना इन आधारवाक्यों से दार्शनिक निष्कर्ष निकालता था [११]। इसकी प्रतिक्रिया में यूनान में सोफिस्ट सम्प्रदाय आया जो इन परम्परागत रूढ़वादी दर्शन के व्याघात को उजागर करने लगा। [१२]। ख्याति-प्राप्त सोफिस्ट प्रोटागोरस का लब्धप्रतिष्ठ सिद्धान्त उस काल में आया-मानव ही सभी सत्यों का मापदण्ड है। [१३] अतः व्यक्ति के लिये वही सत्य है जो उसे सत्य प्रतीत होता है। परन्तु व्यक्तिगत सत्य तो व्यक्तिगत संवेदना और अनुभूति तक ही सिमित है अतः सत्य सार्वभौम न होकर व्यक्तिगत हो जाता है। समस्त सोफिस्ट विचार-धारा को तीन वर्गों में बाँटा जाता है-- ज्ञान, राजनीति और नीति। [१४] ज्ञान और नीति के विषय में सोफिस्ट सम्प्रदाय का निष्कर्ष है कि ज्ञान सम्भव नहीं तथा नैतिकता सार्वभौम नहीं। [१५] ज्ञान की संभावना के प्रति निराशावादी मत प्रकट करने के कारण सोफिस्ट संशयवादी हैं। [१६]

परन्तु सोफिस्ट संशयवाद की धारा अधिक दिनों तक नहीं चली। देकार्त ने दर्शन के क्षेत्र में सार्वभौम तथ्य की खोज प्रारम्भ की। यद्यपि देकार्त के दर्शन का प्रारम्भ संशय से ही होता है तथापि देकार्तीय संशय और सोफिस्ट संशयवाद में अन्तर है। देकार्तीय संशय एक मनोवैज्ञानिक संशय है और देकार्तीय दर्शन में वह एक विधि की तरह प्रयुक्त हुआ है। यह विधि देकार्तीय दर्शन का प्रारम्भ है, अन्त नहीं। देकार्त निश्चित तथ्य की प्राप्ति के लिये सन्देह प्रारम्भ करता है और अन्ततः आत्मा की अनिवार्य सत्ता स्वीकार करता है। [१७]

अतः देकार्तीय सन्देह साधन है, साध्य नहीं। परन्तु सोफिस्ट सन्देहवाद मनोवैज्ञानिक नहीं तार्किक सन्देह है जो उनके दर्शन का चरम प्रतिफल है।

देकार्तीय सन्देह और सोफिस्ट सन्देह से भिन्न सन्देहवाद एक ज्ञान-मीमांसीय सिद्धान्त के रूप में भी उभरा। ह्यूम के सन्देहवाद का अर्थ है कि हमारा प्रत्येक ज्ञान संदिग्ध है, सन्देह से परे हम कुछ नहीं जानते। आधुनिक सन्देहवादी ह्यूम न तो वैज्ञानिक कथनों का निषेध करता है [१८] और न तत्त्व-मीमांसीय विश्वासों का। वह मात्र वैज्ञानिक कथनों की अनिवार्यता का निषेध करता है और तत्त्व-मीमांसीय ज्ञान का निषेध करता है। [१९] यही नहीं, ह्यूम समस्त वस्तुजगत् के ज्ञान के प्रति सन्देह प्रकट करता है। परन्तु ह्यूम वस्तुजगत् के ज्ञान की व्यवहारिकता को भी स्वीकार करता है। ह्यूम के अनुसार, वस्तुजगत् का ज्ञान संदिग्ध है इसका अर्थ मात्र इतना है कि वह अनिवार्य नहीं है। अनिवार्य वह है जिसका निषेध स्वतोव्याघाती हो। [२०] सूरज कल निकलेगा का निषेध सूरज कल नहीं निकलेगा स्वतोव्याघाती नहीं है। इसलिये यह ज्ञान संभावित है। [२१] और इसकी प्रामाणिकता का मापदण्ड विश्वास है। [२२]

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस प्रकार ह्यूम, चाहे तत्त्वमीमांसा के प्रति उसने कितना भी नकारात्मक रुख क्यों न अपनाया हो, [२३] वस्तुजगत् के अस्तित्व को नकारने या स्वीकारने के प्रति उतना आग्रहशील नहीं है, जितना इस बात के प्रति कि उस जगत् का असंदिग्ध ज्ञान हमें नहीं हो सकता।

तर्कनिष्ठ अनुभववाद तक आते-आते सन्देहवाद का स्वरूप और बदलता है। ह्यूम, मिल, बेन इत्यादि कहते रहे कि अनुभव से प्राप्त प्रत्येक ज्ञान संदिग्ध है। [२४] परन्तु एयर तक आते-आते सन्देहवादी प्रहार स्वतः अनुभव पर ही प्रारम्भ हो गया। अब तक प्रश्न यह था कि जिन सत्यों को हम अनिवार्यतया जानने का दावा करते हैं वे सत्य जिन प्रमाणों पर आधारित हैं उन प्रमाणों से क्या वैधतः ये निष्कर्ष निगमित होते हैं? और अब प्रश्न हो गया कि क्या ये प्रमाण ही स्वतः वैध हैं? [२५] ह्यूम के अनुसार अनुभव कार्य-कारण संबंध का प्रमाण नहीं है क्योंकि अनुभव से हम कार्य-कारण संबंध को नहीं जानते। पुनः उसने अनुभव को स्थायी आत्मा का प्रमाण स्वीकार नहीं किया क्योंकि अनुभव से सम्वेदनाओं के चंचल प्रवाह के अतिरिक्त हम कुछ नहीं जानते। परन्तु एयर तक आते-आते सन्देहवाद का रूप हुआ कि ज्ञान के समस्त स्रोत प्रत्यक्ष, स्मृति, शब्द आदि संशय से परे नहीं है। [२६] आधुनिक युग और इससे प्रभावित परवर्ती दर्शनों में भी संशयवाद एक ऐसे नकारात्मक सिद्धान्त के रूप में समझा जाता रहा, जिसके आधार पर मनुष्य के ज्ञान की सम्भावना के प्रश्न का उत्तर अत्यधिक निराशाजनक रहा। किन्तु समसामयिक दर्शन में सन्देहवाद को एक नये ढंग से समझने की चेष्टा की गयी। यहाँ संदेहवाद को निराशावाद का समर्थक नहीं बल्कि अनिवार्यता की माँग की मोह-निद्रा से जगे एक सफल आलोचक के रूप में समझा गया। अब तक सन्देहवाद को अनुभववाद की अनिवार्य परिणति समझ कर अनुभववाद का दूषण नहीं भूषण माना और कहा कि सन्देहवाद का उद्देश्य सिर्फ यह दिखाना है कि जहाँ तार्किक अनिवार्यता सम्भव नहीं है वहाँ तार्किक अनिवार्यता की माँग एक प्रकार की मोहग्रस्तता है, हठवादिता है और एक असंगति है। [२७]

युग के अनुसार संशयवाद का स्वरूप चाहे जितना बदला हो दार्शनिक संशयवाद सदैव मनोवैज्ञानिक संशय से मुक्त रहा है। मनोवैज्ञानिक संशय को एक मानसिक प्रक्रिया के रूप में समझने की चेष्टा करता है। जैसे हम अन्धेरे में किसी लम्बी लटकती हुई वस्तु को देखकर एक क्षण में यह अनुमान करते हैं कि यह सर्प है तथा दूसरे क्षण में यह अनुमान करते हैं कि यह रस्सी है। दार्शनिक सन्देहवाद में भी निश्चयात्मकता के अभाव की बात की जाती है। मनोवैज्ञानिक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

संशय अवस्था–विशेष में किसी वस्तु-विशेष के प्रति किसी ज्ञाता-विशेष को होता है और दार्शनिक संशय प्रत्येक आनुभविक अवस्था में, प्रत्येक आनुभविक वस्तु पर प्रत्येक अनुभवकर्ता के लिये स्वीकार किया जाता है।

तार्किक सन्देहवादी यहाँ तक सन्देहवादी है कि सन्देह के आधार पर सन्देहकर्ता को भी स्वीकार नहीं करता। उसके अनुसार सन्देह एक विचारात्मक प्रक्रिया है और सन्देहकर्ता एक सम्भावित सत्ता। विचार से सत्ता का अनुमान अवैध है। विचार से मात्र विचार सिद्ध होता है। अतः सन्देह की क्रिया से सन्देहकर्ता सिद्ध नहीं होता।

किन्तु मनोवैज्ञानिक रूप से सन्देह तभी होगा जब कि कोई सन्देहकर्ता होगा। यहाँ इस मनोवैज्ञानिक तथा तार्किक धारणा के विरोध की तह में जाकर देखने से कुछ और ही तथ्य सामने आएगा। तार्किक सन्देहवादी सन्देह को एक वस्तु के रूप में स्वीकार करता है, और मनोवैज्ञानिक संशय को एक क्रिया के रूप में स्वीकार करता है। इस चीज को एक उदाहरण से समझा जा सकता है। जैसे, वृक्ष एक वस्तु है और उसके ग्रहने का हिलना एक क्रिया। तार्किक सन्देहवादी के लिये संशय का कर्ता इसीलिये आवश्यक नहीं है क्योंकि वस्तु के लिये कर्ता आवश्यक नहीं। यहाँ यह कहा जा सकता है कि प्रत्येक वस्तु का कारण होता है। अतः अगर संशय वस्तु है तो इसका कारण (कर्ता) होना चाहिये। परन्तु यह तर्क सन्देहवादियों पर लागू नहीं होता है क्योंकि सन्देहवादी स्वतः कार्यकारण नियम के सार्वभौम और अनिवार्य रूप पर संशय प्रकट करता है। इस प्रकार मनोविज्ञान संशय को एक क्रिया के रूप में स्वीकार करता है और क्रिया के लिए संशयकर्ता अनिवार्य है। यही कारण है कि देकार्त संशय के लिये संशय-कर्ता को अनिवार्य कहता है। २८

इसी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से, अन्तर्निरीक्षण के आधार पर हमें स्वीकार करना होगा कि व्यक्ति को जब भी संशय होता है, यह संशय किसी विषय-वस्तु के प्रति होता है परन्तु उस विषय–वस्तु का यथार्थतः उपस्थित होना अनिवार्य नहीं होता। यथा रात में नींद खुलने पर हम कमरे का दरवाजा खोलकर आँगन में जाने के पहले संशय करते है कि आँगन में कोई चोर किसी घातक हथियार के साथ छुपा हुआ है या नहीं ? यहाँ संशय करते समय हमारे सामने यथार्थ जगत् में कोई वस्तु नहीं होती।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

इस प्रकार हम पुनः अपने मूल प्रश्न पर आते हैं कि संशय का स्वरूप क्या है? इतना हम देख चुके हैं कि संशय की विषय-वस्तु के रूप में किसी अस्तित्ववान् वस्तु का उपस्थित होना आवश्यक नहीं। किन्तु संशय की कोई विषय-वस्तु अवश्य होती है। प्रश्न है कि यह विषय-वस्तु क्या है?

संशय के स्वरूप का निर्धारण और संशय की विषय-वस्तु का निर्धारण करने के पूर्व हम भारतीय दर्शन में बताए गये संशय के कुछ प्रकारों और कारणों को देखेंगे ताकि हम अधिक स्पष्ट होकर संशय का दार्शनिक स्वरूप निर्धारित कर सके।

३) संशय के प्रकार

वात्स्यायन संशय के पाँच प्रकार बताते हैं। इन्हें संशय का कारण भी कहा जा सकता है —

(क) साधारण- धर्म के ज्ञान से उत्पन्न संशय [२९] ऐसा संशय उन धर्मों के कारण होता है जो धर्म एकाधिक वस्तुओं में पाये जाते हैं, जैसे लम्बाई का गुण मनुष्य और वृक्ष के तने में समान रूप से पाये जाने के कारण संशय होता है।

(ख) विशिष्ट धर्म के कारण उत्पन्न संशय- [३०] ऐसा संशय उस धर्म के कारण होता है जो धर्म किसी एक ही जाति में पाया जाता है, उस जाति के समान या असमान दूसरी जाति में न पाया जाता हो। यथा-शब्द के संबंध में यह संशय कि यह शाश्वत है या अशाश्वत। क्योंकि यह न तो शाश्वत आत्मा या अणु में पाया जाता है और न अशाश्वत पृथ्वी और अग्नि में।

(ग) द्वन्द्वात्मक आप्तवचन- [३१] एक ही वस्तु के बारे में द्वन्द्वात्मक आप्तवचन से संशय उत्पन्न होता है। यथा-आत्मा के सम्बन्ध में एक आप्तवचन यह है कि आत्मा एक है, दूसरा आप्तवचन है कि आत्मा अनेक हैं। इस प्रकार संशय होता है कि आत्मा एक है अथवा अनेक?

(घ) उपलब्धि की अव्यवस्था- [३२] अनियमित प्रत्यक्ष के कारण भी संशय होता है। यथा कभी-कभी तड़ाग में वर्तमान जल प्राप्त हो जाता है और कभी-कभी (मरीचिका की स्थिती में) तड़ाग में जल नहीं बालू प्राप्त होता है। इस प्रकार संशय होता है कि तड़ाग में जल है अथवा नहीं?

(ङ) अनुलब्धि की अनियमितता- [३३] अनुलब्धि की अनियमितता से भी संशय होता है। यथा-जिस वस्तु को वर्तमान समय में हम नहीं देख पा रहे हैं वह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

अस्तित्ववान् है अथवा नहीं, क्योंकि बहुधा कुछ उपाधियों के अभाव में हम अस्तित्ववान् वस्तुओं को नहीं देख पाते हैं।[३४]

परन्तु परवर्ती नैयायिकों में से उद्योतकर और वाचस्पति ने मात्र दो प्रकार के संशय बताए।[३५] उनके अनुसार उपलब्धि तथा अनुलब्धि की अनियमितताएँ संशय का स्वतंत्र कारण नहीं है। उसी प्रकार आप्त वचनों की द्वन्द्वात्मकता भी संशय की एक उपाधि मात्र है, स्वतंत्र कारण नहीं। गंगेश[३६] संशय के दो कारण बताते हैं -- उपाधि का अविश्वसनीय होना तथा अनेक वस्तुओं में विभेदक गुण के बोध के बिना समान गुण का बोध।

वैशेषिक सभी संशयों को मूलतः एक ही प्रकार का बताते है क्योंकि वैशेषिकों के अनुसार सभी संशय अनेक वस्तुओं में समान धर्मों की उपस्थिति के कारण होते हैं।[३७]

कुमारिल संशय के तीन कारण बताते हैं— अनेक वस्तुओं के समान धर्म, किसी वस्तु का विचित्र धर्म तथा एक ही वस्तु में विरोधी गुणों की प्रतीति। यथा वायु को आकारविहीन भी कहा जाता है तथा इस में स्पर्श की शक्ति भी होती है। आकारविहीन होना प्रत्यक्ष के परे है जब कि स्पर्श का गुण प्रत्यक्ष-योग्य है। अतः वायु में प्रत्यक्ष के योग्य और प्रत्यक्ष के अयोग्य व्याघाती गुण हैं जो संशय उत्पन्न करते हैं।[३८]

४) ज्ञान और सन्देह

सन्देह क्या है? इसकी मनोवैज्ञानिक व्याख्या से अलग हटकर सन्देह के जितने भी प्रकार या कारण बताए गये हैं उनके आधार पर सन्देह के बारे में एक बात निश्चित रूप से कही जा सकती है कि सन्देह में सन्देह की विषय-वस्तु के बारे में कोई निश्चित अभिकथन नहीं किया जाता।

परन्तु सन्देह में भी कोई वाक्य होता है, यथा, क्या अन्धेरे में चोर है अथवा नहीं? प्रश्न है– इस वाक्य का रूप क्या है? क्या यह वाक्य कोई प्रतिज्ञप्ति है और अगर प्रतिज्ञप्ति है तो यह प्रतिज्ञप्ति किस प्रकार की है— निरपेक्ष, हेत्वाश्रित या वैकल्पिक? ज्ञानमीमांसीय दृष्टिकोण से यह प्रश्न महत्त्वपूर्ण है। क्योंकि अगर सन्देह से संबंधित अभिकथन कोई प्रतिज्ञप्ति है तो यह ज्ञान हो सकता है, अथवा नहीं? क्योंकि ज्ञान के लिए अगर सत्यता या यथार्थता आवश्यक है तो सत्यता या यथार्थता का निर्णय प्रत्येक वाक्य पर नहीं किया जा सकता। यह निर्णय मात्र प्रतिज्ञप्ति पर ही दिया जा सकता है। ऐसी स्थिति में अगर सन्देह

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

को व्यक्त करनेवाली प्रतिज्ञप्ति सत्य होती है तो फिर दोनों बातें हो सकती हैं। अर्थात् सन्देह ज्ञान हो भी सकता है नहीं भी हो सकता है। किन्तु अगर प्रतिज्ञप्ति असत्य है तो संशय ज्ञान नहीं हो सकता है। यह प्रश्न किसी विशेष संशय से सम्बधित नहीं है बल्कि संशय जाति से संबंधित है।

संशयात्मक वाक्य का रूप क्या है? पाश्चात्य दार्शनिक बोसांके कुछ स्थितियों में संशयात्मक वाक्य को वैकल्पिक प्रतिज्ञप्ति कहते हैं।[३९] जब हमें संशय होता है कि अन्धेरे में दिख रही लम्बी वस्तु आदमी है या वृक्ष का तना, तो अभिकथन का रूप होता है— या तो यह आदमी है या वृक्ष का तना।

परन्तु बोसांके के इस कथन को स्वीकार करने में कठिनाई है। जब हम संशय के संबंध में निश्चित हो जाते हैं कि या तो यह मनुष्य है या वृक्ष का तना तो हमारा यह अभिकथन एक विश्वास को अभिव्यक्ति देनेवाला होता है। पुनः इस कथन के लिए हमारे पास प्रमाण भी होता है कि मैं उस वस्तु को देख रहा हूँ, वह लम्बी है। इस प्रकार की आकृति मनुष्य की भी हो सकती है और वृक्ष के तने की भी, आदि। और मान लें कि हमारा विश्वास सत्य भी निकलता है अर्थात् वह वस्तु मनुष्य निकलती है (या वृक्ष का तना, तब भी, क्योंकि वैकल्पिक प्रतिज्ञप्ति की सत्यता के लिए उसके एक अणुवाक्य की सत्यता पर्याप्त होती है) तो हमारा यह संशय कि या तो यह मनुष्य है या वृक्ष का तना ज्ञान की कोटि में आ जाती है, बशर्ते जानने की वे तीनों उपाधियाँ वैध हों, जिन्हें पाश्चात्य अनुभववादी जानने के लिए अनिवार्य और पर्याप्त बताते हैं।[४०]

परन्तु अगर जानने की ये तीनों उपाधियाँ वैध हैं तो संशय को वैकल्पिक प्रतिज्ञप्ति कहना परिभाषा में जरा घपला पैदा करता करता है। जानने की अनिवार्य उपाधि विश्वास है तो संशय– जो विश्वास का अभाव भले न हो, विश्वास का विरोधी पद अवश्य है– ज्ञान कैसे हो सकता है? दूसरे शब्दों में, अगर ज्ञान एक प्रकार का सत्य विश्वास है तो यह संशय कदापि नहीं हो सकता, क्योंकि संशय और विश्वास विरोधी पद हैं।

परन्तु अगर जानने की वे तीनों उपाधियाँ वैध नहीं हैं तो भी क्या संशय वैकल्पिक प्रतिज्ञप्ति हो सकती है? नहीं, वैसी स्थिति में भी संशय वैकल्पिक प्रतिज्ञप्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि वैकल्पिक प्रतिज्ञप्ति भी एक प्रकार का अभिकथन है और जैसा कि बोसांके कहते हैं इस अभिकथन के बारे में आदमी निश्चित होता है, अर्थात् आश्वस्त होता है कि या तो यह मनुष्य है या वृक्ष का तना। ऐसी स्थिति में यह वैकल्पिक प्रतिज्ञप्ति एक प्रकार के विश्वास का अभिकथन

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

है। अर्थात् यह कहना कि अगर संशय निश्चित है तो यह निश्चय ही एक वैकल्पिक प्रतिज्ञप्ति है कहने के समान है कि अगर संशय निश्चित है तो यह निश्चय ही एक प्रकार का विश्वास है– जो एक असंगत बात है।

तब क्या संशय की अभिव्यक्ति प्रश्नवाचक वाक्यों में होती है? डॉ. सतीशचन्द्र चटर्जी उसे मन की एक अनिर्णीत प्रश्नवाचकता कहते हैं। [४१] उनके अनुसार संशय को व्यक्त करनेवाला वाक्य कोई निर्णय (अथवा प्रतिज्ञप्ति) है ही नहीं। यह अपने विषय-वस्तु के संबंध में निश्चित रूप से कोई अभिकथन नहीं करता। संशय की स्थिति में न तो हम कुछ जान रहे होते हैं और न हमारा जानने का कोई दावा ही होता है। यहाँ तक कि हम यह भी नहीं कह सकते कि यह या तो क है या ख, बल्कि वाक्य यह होता है – क्या यह क है या ख है? इसी भाँति डॉ. चटर्जी के अनुसार संशय के संबध में सत्यता-असत्यता का भी प्रश्न नहीं उठता [४२]। क्योंकि संशय कोई निर्णयात्मक अवस्था है ही नहीं। परम्परागत भारतीय दर्शन में संशय को अप्रमा की श्रेणी में रखा गया है। नैयायिकों के अनुसार संशय अप्रमा है, यद्यपि कभी कभी यह एक प्रकार की अनुभूति है तथापि यह प्रमा से भिन्न है, क्योंकि इसमें न तो यथार्थत्व है और न प्रवृत्ति-सामर्थ्य [४३]। इस प्रकार संशय में निश्चयात्मकता का अभाव है और यह अनुभूति के संबंध में प्रश्न उपस्थित करता है।

५) – संशय का अभाव –– प्रमा की अनिवार्य उपाधि के रूप में

श्लोकवार्तिक [४४] में प्रमा की परिभाषा करते हुए 'तस्मात् दृढं' प्रयोग आया है। कुमारिल के टीकाकारों में उम्बेक ने इसका अर्थ संशय का अभाव कहा है, अर्थात् उम्बेक के अनुसार प्रमा की अनिवार्य उपाधि उसका सशयरहित होना है। इस प्रकार प्रमा की उपाधि के रूप संशय का अभावात्मक स्थान है। भावात्मक रूप में संशय प्रमा की उपाधि नहीं है, अर्थात् अगर ज्ञान की विषयवस्तु संदिग्ध हो तो ज्ञान प्रमा नहीं है। इसके विपरीत अगर ज्ञान की विषयवस्तु असंदिग्ध हो तो अन्य उपाधियों के उपस्थित रहने पर ज्ञान प्रमा होगा।

परन्तु मात्र संशय का अभाव प्रमा की उपाधि नहीं कहा जा सकता। यथा मुझे इस समय किसी प्रकार का संशय नहीं हो रहा है, अर्थात् संशय का अभाव है परन्तु संशय के अभाव की यह प्रतीति प्रमा की उपाधि नहीं है। वस्तुतः प्रमा की एक विषय-वस्तु होती है। यह विषय-वस्तु (प्रमेय) कोई अध्यात्मिक तत्त्व हो, या भौतिक या प्रतिज्ञप्ति, प्रमा की सारी उपाधियाँ इस विषय-वस्तु के सन्दर्भ में ही बताई जाती हैं। जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि मुझे इस समय संशय नहीं

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

हो रहा है, अर्थात् मैं संशय के अभाव की स्थिति में हूँ तो यह संशय का अभाव प्रमा की उपाधि इसलिए नहीं है क्योंकि यहाँ संशय का अभाव प्रमा की विषय-वस्तु को संदर्भित नहीं करता। यहाँ संशय का अभाव एक मानसिक अनुभूति मात्र है जिसकी कोई विषय-वस्तु नहीं है। इस प्रकार संशय का अभाव जब तक ज्ञान की विषय-वस्तु से संबधित नहीं होता वह प्रमा की उपाधि नहीं है।

६) – पाश्चात्य सन्देहवाद और भारतीय दर्शन में संशय का स्थान

भारतीय और पाश्चात्य ज्ञानमीमांसा में एक प्रमुख भेद संशय और संशय-वाद का भी है। भारतीय ज्ञानमीमांसा में संशय का उल्लेख किसी वाद या सिद्धांत की भाँति नहीं हुआ है। यहाँ संशय दो अर्थों में प्रयुक्त हुआ है – प्रथमतः ज्ञान की विषय-वस्तु के रूप में, जहाँ उसे निश्चयात्मकता के अभाव के कारण अप्रमा कहा गया, तथा द्वितीयतः प्रमा की अभावात्मक उपाधि के रूप में। यहाँ भी संशय कोई वाद नहीं माना गया है। यहाँ भी संशय का अर्थ मनोवैज्ञानिक संशय है जिसकी उपस्थिति में बोध अथवा ज्ञान अप्रमा-रूप हो जाता है।

इससे भिन्न पाश्चात्य दर्शन में कुछ संशयवादी विचारक हैं। प्रोटागोरस या ह्यूम की भाँति इस प्रकार के वाद का समर्थक भारतीय दर्शन में एक भी दार्शनिक नहीं है। कहीं– कही ऐसा उल्लेख मिलता है कि उपनिषद् – दर्शन के बाद के शताब्दियों में संजय वेलठपुत नामक एक अनिश्चयवादी विचारक हुआ था जिसकी विचारधारा पाश्चात्य संशयवादियों के समान थी, [४५] परन्तु स्पष्टतः संजय वेलठपुत की विचारधारा भारतीय दर्शन पर कोई महत्त्वपूर्ण प्रभाव नहीं डाल सकी।

वस्तुतः संजय वेलठपुत के प्रभावहीन न रह जाने का तथा दूसरा और प्रबल संशयवादी उत्पन्न न होने का कारण है। भारतीय दर्शन में ज्ञान अथवा प्रमा, व्यावहारिक अर्थ में स्वतः-साध्य नहीं है। अतः संशयवाद को ज्ञानमीमांसा में प्रश्रय देने से ज्ञान का साधन-रूप नष्ट होता है, क्योंकि अपने चरम रूप में संशयवाद व्यावहारिक ज्ञान की अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं कर पाता। पुनः पारमार्थिक अर्थ में भी प्रमा परमार्थ प्राप्ति का साधन है। कहीं-कहीं 'सत्यंज्ञानमनन्तं ब्रह्म' का उल्लेख आता है तो यहाँ ज्ञान के ब्रह्म-रूप या ब्रह्म को ज्ञान-रूप कहने का अर्थ मात्र ब्रह्म की सर्वव्यापकता और सर्वज्ञता की स्वीकृति ही समझना चाहिए। इस प्रकार पारमार्थिक अर्थ में भी संशयवाद को प्रश्रय देने से साधन रूप में ज्ञान ब्रह्म या परमार्थ तक पहुचाने में असफल रहेगा, तथा साध्य-रूप ज्ञान अर्थात् ब्रह्म, जिसे यथार्थ सत्ता कहा गया है, संदिग्ध हो उठेगा, जो भारतीय - दार्शनिक कदापि स्वीकार नहीं कर सकते। भौतिकवादियों में एकमात्र चार्वाक मोक्ष, परमार्थ, ब्रह्म,

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ईश्वर की वास्तविकता या संभावना पर सन्देह प्रकट करता है। चार्वाक इन सत्ताओं को बलपूर्वक नकारता है। यदि इसे चार्वाक का सीमित सन्देहवाद समझा जाय तो भी इसका भारतीय दर्शन की धारा पर कोई दिग्दर्शक प्रभाव नहीं पड़ता। इसका कोई प्रभाव इस धारा पर पड़ता है तो मात्र इतना कि प्रत्यक्ष के अतिरिक्त प्रमा के अन्य साधनों की स्थापना के लिए दूसरे भारतीय दार्शनिकों ने अपने तर्कों को और पैना कर लिया है।

दर्शन विभाग — नीलिमा सिन्हा
गौतमबुद्ध महिला कॉलेज
गया (बिहार)

टिप्पणियाँ

१. श्लोकवार्तिक, २।८०, कुमारिल, मद्रास वि. वि., प्रकाशन. मद्रास, १९४०
२. तर्कभाषा, केशवमिश्र, व्याख्याकार, आचार्य विश्वेश्वर सिद्धान्त शिरोमणि, चौखम्भा, संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी– १, प्र. १९
३. समानानेकधर्मोपपत्ते विप्रतिपत्तेरुपल ब्धयनुपल ब्धयव्यवस्थतश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः– न्यायदर्शनम् वात्स्यायन भाष्य, प्रथमोध्यायः, प्रथमाह्निकम्, सूत्र २३, पृ. ६७, सं. श्री नारायण मिश्र, चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी,
४. एकस्मिन् धर्मिणि विरुद्ध नानाधर्म वैशिष्ट्यमवगाही ज्ञानं संशय :– तर्कसंग्रह; उत्तर प्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, लखनऊ १६७६, पृ. ९२
५. श्लोकवार्तिक, पृ. २।५४
६. भट्ट जी. पी. एपिस्टेमॉलॉजी ऑफ दि भाट्ट स्कूल ऑफ पूर्वमीमांसा, चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफीस, १९६२,
७. चटर्जी एस्. सी. न्याय थिअरी ऑफ नॉलेज, द्वितीय संस्करण, यूनीवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, १९५०, पृ. २६
८. वही, पृ. २६
९. एयर, ए. जे. दि प्रॉब्लेम्स ऑफ नॉलेज, पेंग्विन बुक्स, १९५६, पृ. ७
१०. चटर्जी, पी. वी., आउट लाइन्स ऑफ जनरल फिलॉसफी, एलैवन्थ एडिशन, दि ऑथर, ३२, बेडन स्टीट, कलकत्ता, पृ. १६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

११. वही, पृ १८,
१२. स्टेस, डब्ल्यू टी.; ए क्रिटिकल हिस्ट्री ऑफ ग्रीक फिलॉसफी, लंदन, मैकमिलन एण्ड कम्पनी लि., न्यूयार्क, १६६४, पृ. ११४।
१३. होमोमेन्स्यूरा।
१४. वही, पृ. ११६–११८।
१५. वही, पृ. ११८
१६. वही, पृ. ३६१।
१७. कॉजिटो अर्गो सम्
१८. फाल्कनबर्ग, आर; ए हिस्ट्री ऑफ माडर्न फिलॉसफी, मैकमिलन, न्यूयार्क १६४१, पृ. २३
१९ वही पृ. २२८।
२०. स्मिथ, एन. के. दि फिलॉसॉफि ऑफ डेविड ह्यूम, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी
२१. फाल्कनबर्ग, आर., ए हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न फिलॉसफी, पृ, २२३
२२. थिल्ली, एफ.; ए. हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न फिलॉसफी, सेन्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, १६२८, पृ. ३७८।
२३. फाल्कनबर्ग, हिस्ट्री ऑफ मॉडर्न फिलॉसफी, पृ. २२८,
२४. चटर्जी, पी. बी., आउट लाइन्स ऑफ जनरल फिलॉसफी, ग्यारहवां संस्करण, दि ऑथर, ३२ वेडेन स्ट्रीट कलकत्ता, पृ. १०–२०
२५. एयर, ए. जे., दि प्रॉब्लेम्स ऑफ नॉलेज, पृ. ३६
२६. वहीं, पृ. ३६।
२७. वही, पृ. ३६–८२।
२८. वस्तुतः मनोविज्ञान संशय जैसी संज्ञा पर पृथक् रूप से विचार नहीं करता। वह इसे भ्रम, विभ्रम, प्रत्यक्षीकरण का मिला–जुला रूप मानता है। किन्तु इस व्याख्या में भी संशय की क्रिया सदैव किसी व्यक्ति या संशयकर्ता के मन में होती है।
२९. समानधर्मोपपत्ते विशेषापेक्षा विमर्शः संशय इति–न्याय दर्शनम्
३०. अनेकधर्मोपपत्तेरिति। – वहीं पृ. ६९
३१. विप्रतिपत्तेरिति। – वही पृ. ७०
३२. उपलब्ध्यव्यवस्थातः। वहीं, पृ. ७०।
३३. अनुपलब्ध्यव्यवस्थातः। – वहीं पृ. ७०
३४. न्यायभाष्य। १।१।२३।
३५. न्यायवार्तिक तथा न्यायवार्तिक टीका, १।१।२३, बिब्लिओथिका इण्डिका, कलकत्ता, १६११

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

३६. तत्त्वचिंतामणि, भाग–२, गंगेशोपाध्याय, महाराज महेश ठक्कर कृत दर्पण सहित (प्रामाण्यवादान्तः प्रथमः खण्डः) मिथिला इन्स्टीटयूट ऑफ पोस्ट ग्रेजुएट स्टडीज एण्ड रिसर्स इन संस्कृत लर्निंग, १६५०, प्र. २१०–२११
३७. पदार्थ धर्मसंग्रह, चौखम्भा, पृ. ८५ ।
३८. श्लोकवार्तिक पृ ८४–६५
३९. चटर्जी, सतीशचन्द्र, दि प्रोब्लेम्स ऑफ फिलॉसफी, द्वितीय संस्करण युनिवर्सिटी, ऑफ कलकत्ता, १६६४, पृ. ६०
४०. हॉस्पर्स, जॉन, दार्शनिक विश्लेषण परिचय, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना
४१. चटर्जी, एस. सी; दि प्रॉब्लेम्स ऑफ नॉलेज, पृ. ६०
४२. वहीं, पृ. ६१ ।
४३. चटर्जी, सतीशचन्द्र; दि न्याय थिअरी ऑफ नॉलेज, पृ. ३१ ।
४४. श्लोकवार्तिक, २।८० ।
४५. देवराज, पूर्वी और पश्चिमी दर्शन, बुद्धिवादी प्रकाशन गृह, उत्तर प्रदेश, द्वितीयावृत्ति, प्र. २६

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का सौन्दर्य-बोध

" प्रत्येक मनुष्य सौन्दर्य का अनुभव करता है, परन्तु सौन्दर्य क्या वस्तु है, इस विषय में बता सकना किसी भी व्यक्ति के लिए कठिन है। साधारण अर्थ में सौन्दर्य दृष्टि का विषय है। हम किसी फूल को, लता को, वृक्ष को, मूर्ति को जब सुन्दर कहते हैं, तब हमारे मन में उस वस्तु की समग्रता से उत्पन्न एक आनन्दोद्रेचक की भावना काम करती रहती है। किसी फूल को सुन्दर कहने का यह मतलब नहीं है कि उसकी पंखडिया सुन्दर हैं, उसका आकार सुन्दर है, या उसके विभिन्न अवयव सुन्दर हैं, बल्कि उसका अर्थ यह होता है कि वह सब मिलाकर हमारे चित्त में एक प्रकार का आनन्दाद्रेक करता है। उस आनन्द को प्रकट करने के लिए हम उसे सुन्दर कहते हैं। साधारणतया किसी वस्तु को सुन्दर कहते समय हमारी दृष्टि के सामने उसका संतुलन, आकार, रूप, विकासावस्था, विभिन्न अवययों के बीच में छूटी हुई जगह, प्रकाश, रंग, गति खिचाव और अभिव्यक्ति जैसी चीजें आती हैं। इन्हीं के सामंजस्य, संतुलन से दर्शक के चित्त में आल्हाद उत्पन्न होता है। सब समय यह स्पष्ट नहीं होता कि कौन सी बात दर्शक को विशेष रूप से आकृष्ट कर रही है। यह एक प्रकार का चाक्षुष निर्णय है। कभी कभी सुन्दर वस्तु के अनेक गुणों में से कोई एक या दो अधिक आकर्षक जान पड़ते हैं, परन्तु थोडा विचार किया जावे तो यह बात बहुत ऊपरी सिद्ध होगी। जैसे, किसी फूल का लाल रंग आकर्षक हो, तो भी यह नहीं कहा जा सकता कि वह वस्तु सिर्फ उस रंग के कारण सुन्दर दिखाई दे रही है, क्योंकि उस प्रकार का रंग किसी और जगह भी देखा जा सकता है।" (कालिदास की लालित्य योजना, पृष्ठ १०८)

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की सुप्रसिद्ध कृति कालिदास की लालित्य योजना से उद्धृत उपरोक्त उद्धरण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सौन्दर्य क्या है व किसी चीज को जब हम " सुन्दर " कहते हैं, सौन्दर्यवान् मानते हैं तो उससे हमारा क्या अर्थ होता है? आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सौन्दर्य के उपासक रहे हैं। उनकी कृतियों में यथा– उपन्यासों में, निबन्धों में विस्तृत रूप से " सौन्दर्य " की

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

व्याख्या है। आचार्य द्विवेदी जी के सौन्दर्य-तत्त्व की ओर प्रयाण की भूमिका है। डॉ रमेश कुन्तल मेघ के अनुसार "वैष्णव भावुकता, कबीरी सहजता, रवीन्द्र-नाथीय मानवता, कालिदासीय पर्युत्सुकता, शैवानन्दवादी दार्शनिकता आदि की सम्यक् दृष्टियों ने उनके मानवतावाद तथा सांस्कृतिक पॅटर्न का विन्यास किया। यही सौन्दर्य-तत्त्व की ओर उनके प्रयाण की भूमिका है" (शान्ति निकेतन से शिवालिक, पृ. १६९) पर आगे चलकर इसी लेख में श्री रमेश कुन्तल मेघ द्विवेदी जी की लालित्य मीमांसा को आंगिक मानते हैं।

यह सत्य है कि द्विवेदी जी ने कालिदास के साहित्य का भी गहन अध्ययन करके और डॉ. नामवर सिंह के अनुसार तो "कालिदास के प्रेमि पण्डितों को पहली बार इस रहस्योद्घाटन से अवश्य ही धक्का लगा होगा कि जिस कवि को वे अब तक अपनी आर्य संस्कृति का महान् गायक समझते आ रहे थे, वह गन्धर्व, यक्ष, किन्नर आदि आर्येतर जातियों के विश्वासों और सौन्दर्य कल्पनाओं का सबसे ज्यादा ऋणि है।" (दूसरी परम्परा की खोज पृ. ८६) कहकर यह सिद्ध कर दिया कि कालिदास पर नये सिरे से गम्भीरता से सर्वप्रथम द्विवेदी जी ने ही विचार किया है। पर इसके साथ ही द्विवेदी जी पर जैसा की श्री. रमेश कुन्तल मेघ स्वयं स्वीकारते हैं कि आचार्य द्विवेदी जी के सौन्दर्य-तत्त्व की ओर प्रयाण की नींव में वैष्णव भावुकता, कबीरी सहजता, रवीन्द्रनाथीय मानवता, कालिदासीय पर्युत्सुकता, शैवानन्दवादी दार्शनिकता आदि की अहम्-भूमिका है। ऐसी स्थिति में यह स्पष्ट हो जाता है कि सौन्दर्य-चिन्तन में उपरोक्त सभी का कमोवेश प्रभाव पड़ा है। उनकी सौन्दर्य-मीमांसा की इमारत इन्हीं पर टिकी हुई है।

साधारणतया जिस वस्तु से हमारे मन में कोई सुखद अनुभूति होती है; उसको हम सुन्दर कहते हैं। नृसिंहाचार्य के अनुसार व्युत्पप्ति की दृष्टि से सौन्दर्य का अर्थ 'मन को आर्द्र करने वाला' है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी का मानना है कि "जिसे हम सुन्दर कहते हैं, वह वस्तुतः हमारे भीतर की चित् शक्ति के ज्ञान, इच्छा और क्रिया का समन्वय है। द्विवेदी जी इसमें यह और जोड़ते हैं कि केवल ज्ञान, इच्छा और क्रिया-शक्ति के समन्वय होने से कोई वस्तु सुन्दर नहीं कही जा सकती। सुन्दर होने के लिए कुछ और गुण भी आवश्यक है। प्रत्येक द्रष्टव्य वस्तु स्रष्टा के ज्ञान, क्रिया और इच्छा शक्ति का समवेत रूप है, परन्तु प्रत्येक वस्तु सुन्दर नहीं कही जा सकती। विचारणीय है कि वह कौन सी वस्तु है जो ज्ञेय वस्तु के इच्छित और श्रेष्ठ रूप में दूसरे प्रकार की महिमा भरती है"। (कालिदास की लालित्य योजना पृ. ११०)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का स्पष्ट मानना है कि "सुन्दर" शब्द दो प्रकार की वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होता है। द्विवेदी जी चूंकि मानवतावादी विचारक हैं अतः वे स्पष्ट रूप से 'मानव' पक्ष को महत्त्वपूर्ण स्थान देते हैं। इनके अनुसार सौन्दर्य एक तो प्रकृति–प्रदत्त है व दूसरा मनुष्य–निर्मित। द्विवेदी जी प्रथम कोटी में नदी, पहाड, जंगल, फल, फूल, मनुष्य, पशु, पक्षि आदि को लेते हैं व मानव–निर्मित सौन्दर्य में चित्र, मूर्ति, संगीत, काव्य आदि को लेते हैं।

द्विवेदी जी ने अपने चिन्तन में कलागत सौन्दर्य अर्थात् मानव–निर्मित सौन्दर्य अर्थात् मूर्ति, चित्र, संगीत आदि के सौन्दर्य के लिए 'लालित्य' शब्द का प्रयोग किया है और यह भी स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि लालित्य व प्रकृति–दत्त सौन्दर्य में क्या भेद है? इस भेद की खोज उन्होंने नाटय शास्त्र में की है। भरत मुनि ने अपने समय में प्रचलित रूपकों में से पूर्णांक केवल नाटक और प्रकरण को ही माना है जहाँ नायक मनुष्य होता है। इसके अनुसार मनुष्य ही धीरोदात्त हो सकता है जबकि देवों में फल की उतावली होती है। यही कारण है कि देवता की तुलना में मानव अधिक स्वतन्त्र है अपनी खोज के लिए। यहाँ यह भी स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि द्विवेदी जी लालित्य को प्रकृति के सौन्दर्य से भिन्न किन्तु उसके समानान्तर चलने वाला मानव रचित सौन्दर्य मानते हैं।

प्रकृति-दत्त सौन्दर्य वह है जहाँ 'जैसा है वैसे' की बात होती है, जबकि मनुष्यकृत सौन्दर्य में 'जैसा होना चाहिये, वैसे की' बात होती है। यही कारण है कि द्विवेदी जी मनुष्य–कृत सौन्दर्य में चित्र, मूर्ति, संगीत आदि को लेते हैं जिनमें कि होना चाहिये की बात की जाती है। द्विवेदी जी इसे लालित्य कहते हैं।

सुन्दर और असुन्दर की चर्चा करते हुए द्विवेदी जी कहते हैं कि जहाँ कहीं उल्लास है, आकर्षण है वही सृष्टि की इस मूल छन्दोधारा के अनुकूल हो जाने की प्रवृत्ति है। जहाँ वह नहीं हैं वहाँ इस मूल छन्दोधारा का प्रातिकूल्य है। वही असुन्दर और भद्दी है। (कालिदास की लालित्य योजना, पृ. ५७)

एक प्रश्न यह उभरता है कि सुन्दर क्या है? या क्या सुन्दर नहीं है? इसका निर्णायक क्या है? स्पिनोजा के अनुसार हम किसी वस्तु को सुन्दर इसलिए नहीं कहते कि वह सुन्दर है अपितु इसलिए कहते हैं कि हम उसे चाहते हैं, वह हमारी–इच्छा शक्ति की गति के अनुकूल होती है। नीत्शे का भी यही मानना है कि सुन्दर और असुन्दर की धारणा प्राणतत्त्व की माँग के अनुसार होती है। (बायोलाजिकल)। इनके अनुसार हम चीनी इसलिए नहीं खाते कि वह मीठी लगती है बल्कि इसलिए मीठी लगती है कि वह हमारे प्राणतत्त्व की माँग पूरी करती है, उसमें शक्ति देने का गुण है जो हमारी जिजीविषा की पूर्ति करता है। असुन्दर वह है जो हमारी जिजीविषा के प्रतिकूल है। द्विवेदी जी कहते हैं कि इस

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकार के विचारों से समस्या अधिक उलझती गयी है, यद्यपि इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता क्योंकि इसमें व्यक्तिगत इच्छा की महिमा व्यक्त होती है। इस प्रकार की व्यक्तिगत इच्छा का कोई अन्त नहीं है। इससे यह उभर कर आता है कि "सुन्दर" का कोई निश्चित रूप नहीं स्थिर हो सकता। ऐसी स्थिती में दीर्घकालीन आदत, एक ही परिस्थिति में बसने वाली मानव मण्डली के सामान्य अनुभव आदि बातों की कल्पना करनी पडती है। द्विवेदी जी के अनुसार कालिदास व्यक्ति-इच्छा को समष्टि-व्यापिनी इच्छा का विशिष्ट रूप मानते हैं। विश्व-व्यापिनी समष्टि-इच्छा के अनुकूल जा कर ही व्यष्टिगत इच्छा सार्थक हो पाती है। समष्टि-इच्छा चेतन धर्म होने के कारण सृजनात्मक है।

आचार्य द्विवेदी जी त्रिगुणों के माध्यम से इच्छा को समझाते हुए कहते हैं कि जिस इच्छा में अज्ञान है, मोह है, परोत्साद वृत्ति है, वह पाप इच्छा है, वह चित्त में तमोगुण को उद्रिक्त करती है, जडत्व से अभिभूत करती है, सौन्दर्य उसमें नहीं होता।

सौन्दर्य की मीमांसा द्विवेदी जी ने बहुत ही अच्छे ढंग से अपने साहित्य में की है। सत्त्वोद्रेक- इच्छा से प्राप्त सौन्दर्य ही सच्चा सौन्दर्य है। द्विवेदी जी की यह स्पष्ट मान्यता है कि सौन्दर्य के मूल में मंगल निहित है। जहाँ सौन्दर्य है वहाँ पाप आदि असद्गुण दूर दूर तक रह ही नहीं सकते। चारुचन्द्रलेख में रानी चन्द्रलेखा का रूप वर्णन करते समय वह स्पष्ट कहते हैं कि जहाँ सौन्दर्य है वहाँ कलुष हो ही नहीं सकता। कालिदास का यह उद्धरण द्विवेदी जी बार बार दोहराते हैं कि "यदुच्यते पार्वति पापवृत्तये न रूपमित्यव्यभिचारितद्वचः" अर्थात् हे पार्वती, यह जो कहा जाता है कि रूप (सौन्दर्य) पापवृत्ति के लिए नहीं होता वह वचन आज सिद्ध हुआ है। जो रूप पापवृत्ति को उपजाता है वह जड़त्व की उपज है। वह तामसिक है, उसमें सत्त्वोद्रेक की शक्ति नहीं होती है, इसलिए वह "सुन्दर" नहीं कहा जा सकता। सुन्दरता-रूपी सोना सही मायने में तो तपस्या की अग्नि में तपकर खरा उतरता है ऐसा द्विवेदी जी ने कालिदास के साहित्य से निष्कर्ष निकाला है। और यह उनकी स्वयं की पक्की मान्यता है। उन्होंने अपने उपन्यासों में यही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है। निबन्धों में भी इसी बात को सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि सच्चा रूप वही है जिसमें कलुष न हो, जो तपस्या की अग्नि में तपा हुआ हो।

द्विवेदी जी यह भी बताने का प्रयत्न करते हैं कि सौन्दर्य की रचना सत्त्वस्थ चित्त ही कर सकता है। इस मान्यता का आधार है चित्रकला। विद्ध चित्र की रचना कलाकार तभी कर सकता है जब वह सत्त्वस्थ हो क्योंकि विद्ध चित्र में ज्यों कि त्यों या हू-ब-हू चित्रण करना होता है और थोडी सी भी शिथिलता आने पर

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ऐसा नहीं हो सकता है। सौन्दर्य की रचना के समय यदि थोडी भी शिथिलता आ जाती है तो फिर सौन्दर्य नहीं रह पाता हैं और शिथिलता का कारण रजोगुण और तमोगुण हैं। कालिदास का निश्चित मत है कि रजोगुण और तमोगुण से अभिभूत चित्त से प्राणवन्त सुकुमार सौन्दर्य नहीं मिल सकता। ऐसा हजारी प्रसाद जी का भी मानना है।

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी सौन्दर्य को मनुष्यत्व के साथ जोड़ते हैं। मनुष्यत्व के लिए यह आवश्यक है कि वह सौन्दर्योपासक हो। मनुष्यत्व के साथ ही द्विवेदी जी इसे मूल्यात्मक भी मानते हैं। वास्तव में देखा जावे तो सत्य की ओर अग्रसर होने का रास्ता है सौन्दर्य। द्विवेदी जी की स्पष्ट मान्यता है कि विलासिता और कलात्मक विलासिता दोनों में भेद है। विलासिता में भूख होती है, नंगी चाह होती है, केवल प्राप्ति होती है, द्विवेदी जी के शब्दों में दलित द्राक्षा की तरह द्रवित होने की भावना नहीं होती, जबकि कलात्मक विलासिता, जो कि वास्तव में सौन्दर्य है, उसमें पहली और अनिवार्य आवश्यकता है संयम और शालीनता की। द्विवेदी जी बार बार उद्घोषणा करते हैं कि "कलात्मक विलासिता किसी जगत् के भाग्य में सदा सर्वदा नहीं जुटती। उसके लिए ऐश्वर्य चाहिए, समृद्धि चाहिए, त्याग और भोग का सामर्थ्य चाहिए और सबसे बढकर ऐसा पौरुष चाहिए जो सौन्दर्य और सुकुमारता की रक्षा कर सके।" इससे भी एक कदम आगे बढ कर कहते है कि "जो जाति सुन्दर की रक्षा करना नहीं जानती वह विलासी भले ही हो पर कलात्मक विलास उसके भाग्य में नहीं बदा होता।" (प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद) डॉ. नामवर सिंह के अनुसार "इस सौन्दर्य-बोध में सर्वथा शास्त्रीय प्रत्यभिज्ञान ही नहीं है बल्कि उसमें एक सजग ऐन्द्रिय संवेदना की प्रत्यग्रता भी है। रूप, शोभा, सुषमा, सौभाग्य, चारुता, लालित्य, लावण्य का ऐसा सूक्ष्म परिज्ञान और संवेदना हिन्दी में दुर्लभ है।" (दूसरी परंपराकी खोज पृ. ९४)

जैसा कि मैंने पूर्व में भी स्पष्ट किया है वह यह कि द्विवेदी जी सौन्दर्य के लिए तपस्या को अनिवार्यता से स्वीकारते हैं। उनकी स्पष्ट मान्यता है कि सौन्दर्य के लिए संयम, दलित द्राक्षा की तरह निछावर करने, अपने आपको निस्वार्थ समर्पण की भावना है। कुछ नैतिकता-वादी, खासतौर से शुक्ल जी आदि, को प्राकृतिक सौन्दर्य से परे सूर आदि भक्त कवियों के नारी सौन्दर्य भी ग्राह्य नहीं है। क्योंकि वे सम्भवतया माधुर्य को साधना-मार्ग में बाधक मानते हैं। इसके विपरीत द्विवेदी जी का सौन्दर्य-बोध सर्वाधिक सशक्त नारी सौन्दर्य में ही उभरा है। वे इसे साधना-मार्ग में बाधक न मानकर साधक मानते हैं। नारी-सौन्दर्य संयम व शालीनता का पाठ पढ़ाता है, वही सात्त्विक सौन्दर्य है। द्विवेदी जी ने सात्त्विक सौन्दर्य की चर्चा करते हुए मेघदूत-एक पुरानी कहानी में कहा है कि "जो

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सम्पत्ति परिश्रम से नहीं अर्जित की जाती है और जिसके संरक्षण के लिए मनुष्य का रक्त पसीने में नहीं बदलता, वह केवल कुत्सित रुचि को प्रश्रय देती है। सात्त्विक सौन्दर्य वहाँ है, जहाँ चोटी का पसीना ऐडी तक आ जाता है और नित्य समस्त विकारों को धोता रहता है।"

संक्षेप में यदि हम कहना चाहें तो यह कहना प्रर्याप्त होगा कि द्विवेदी जी के चिन्तन के मूल में चूंकि मानव-मंगल निहित है अतः वे "सौन्दर्य" की मीमांसा भी उसी फ्रेम-वर्क में करते है और यह स्पष्ट कर देते हैं कि सात्त्विक सौन्दर्य ही सच्चा सौन्दर्य है और जो सुन्दर की पूजा नहीं कर सकता, वह सभ्यता अधिक दिन तक चल नहीं सकती। उन्होंने स्पष्ट घोषणा की है कि "भारत वर्ष में एक समय ऐसा बीता है जब इस देश के निवासियों के प्रत्येक कण में जीवन था, पौरुष था, कौलिन्य गर्व था और सुन्दर के रक्षण-पोषण और सम्मान का सामर्थ्य था। उस समय के काव्य, नाटक, आख्यायिका, आख्यान, चित्र, मूर्ति, प्रासाद आदि को देखने से आज का अभागा भारतीय केवल विस्मय विमुग्ध होकर देखता रहता है। उस युग की प्रत्येक वस्तु में छन्द है, राग है, और रस है।" (प्राचीन भारत के कलात्मक विनोद पुस्तक का रॅपर।)

द्विवेदी जी आज की मूल्य-हीनता की स्थिति से दुःखी हैं और इसका कारण वे सौन्दर्य को विलासिता मानने को एवं दूसरा कारण सौन्दर्य को खास तौर से लालित्य को साधना मार्ग में कुछ लोगों द्वारा हेय मानना मानते हैं। द्विवेदी जी सौन्दर्य को मूल्य से जोडते हैं और स्पष्ट घोषणा करते हैं कि सौन्दर्योपासक संस्कृति ही वास्तविक प्रेरक व आदर्श संस्कृति है। आज हमारे सोच में इसी की आवश्यकता है। यही आज की मूल्यहीनता की स्थिति का निराकारण हो सकता है। आशा है हम लोग वास्तविक सौन्दर्योपासक बनेंगें।

दर्शन विभाग — राजेन्द्र शर्मा
राजस्थान विश्वविद्यालय
जयपुर, (राजस्थान)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उन्मीलन

मानसिक हिन्द-स्वराज का वैतालिक
दार्शनिक षाण्मासिक

संपादक– यशदेव शल्य

सहयोगी– गोविंदचंद्र पांडे, दयाकृष्ण, राजेंद्रप्रसाद पांडेय

जुलाई, १९८६ के अंक की लेखादि सामग्री

अभाव-सम्प्रत्यय की दार्शनिक संभावनाएँ– नारायणशास्त्री द्राविड़

धार्मिक चेतना पर एक दार्शनिक दृष्टि– राजेंद्रप्रसाद पाण्डेय

जिड्डू कृष्णमूर्ति - यशदेव शल्य

शंकर-चैतन्य भारतीकृत दर्शन-सर्वस्वान्तर्गत निबन्ध "स्वातंत्र्यवाद" का अनुवाद– अनुवादक– नवजीवन रस्तोगी

तत्त्वमीमांसा का जन्म और निधन– गोविंदचन्द्र पाण्डे द्वारा दयाकृष्ण के आक्षेपों का उत्तर

सांख्य-वेदान्त वाद-विवाद– प्रेमलता शर्मा द्वारा नारायणशास्त्री द्राविड़ की आलोचना का उत्तर

मनुष्य और जगत् पुस्तक के लेखक द्वारा समीक्षा के प्रसंग में कुछ स्पष्टीकरण

पुस्तक-समीक्षाएँ

वार्षिक शुल्क : व्यक्ति : २०–०० रुपये
संस्थाएँ ४०–०० रुपये
आजीवन शुल्क क्रमशः २५०–००/१५०० रुपये

दर्शन प्रतिष्ठान
पी–५१, मधुवन पश्चिम, टोंक रोड,
जयपुर– ३०२०१५

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रतिक्रियाएँ

– १ –

मौलिक चिंतन के मार्ग में नागफनी के पौधे....

परामर्श (हिंदी), खंड VI, अंक III, जून 1985 में प्रकाशित डॉ. रामजी सिंह का निबंध 'समकालीन भारतीय दर्शन की दिशा' और खंड VII, अंक I, दिसंबर, 1985 में प्रकाशित इस निबंध पर दो प्रतिक्रियाएं पढ़ी। डॉ. सिंह का निबंध और उसपर प्रकाशित प्रो. हिरेंद्र प्रसाद साह की प्रतिक्रिया दोनों अभिनन्दन के योग्य हैं। क्योंकि डॉ. सिंह ने अपने निबंध में इस ऐतिहासिक तथ्य का उद्‌घाटन किया है कि 'समकालीन भारतीय दार्शनिकों में एक भी ऐसा मौलिक चिन्तक पैदा नहीं हुआ है, जो मौलिक चिन्तन कर सका हो।' और प्रो. साह ने इस क्रांतिकारी तथ्य को समझकर यह मूलभूत प्रश्न उठाया है कि 'आज भारत में मौलिक चिंतन किस तरह प्रारंभ हो ? मौलिक चिंतन शुरू हो, तो वह खुद दिशा का निर्देश करेगा।' वास्तव में यही आज का मुख्य दार्शनिक प्रश्न है। यह है मूल निबंध एवं उस पर प्रतिक्रियाओं में प्रस्तुत विचारों का सार। अब हम इस निबंध पर प्रकाशित पहली प्रतिक्रिया की चर्चा करेंगे। क्योंकि यही मौलिक चिंतन के मार्ग में सबसे बड़ा रोड़ा है, यही नागफनी के पौधे हैं। और इन्हें जबतक हटाया नहीं जायेगा, तब तक इस देश में मौलिक चिंतन शुरू नहीं होगा, जिसका आवाहन डॉ. सिंह ने किया है।

प्रतिक्रिया के लेखक मानते हैं कि 'भारतीय दार्शनिक संपदा अत्यन्त समृद्ध रही है।' वास्तव में इस तरह की मान्यता अपने आप में परंपरावादिता तथा जड़वादिता की पुरानी बीमारी का प्रमुख लक्षण है। आगे उन्होंने बताया है कि 'वेदों से लेकर गदाधर भट्टाचार्य अर्थात् १६ वीं शताब्दि तक का दार्शनिक साहित्य

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

की टक्कर में किसी भी प्रकार न्यून अथवा अपर्याप्त नहीं है।' शायद प्रतिक्रिया-लेखक इस बात को भूल जाते हैं कि १६ वीं से २० वीं शताब्दि तक जो ४०० वर्षों तक का लंबा सफर है, उसमें एक भी मौलिक चिंतक पैदा नहीं हुआ है और यही इस बात का सबसे बड़ा प्रमाण है कि गौरवमय अतीत की महिमा-गायन से नवीन चिंतन का श्री गणेश नहीं होता। लेकिन विडंबना यह है कि समृद्ध अतीत का गुणगान करते वेतन-भोगी दार्शनिकों का जी कभी अघाता ही नहीं। यही कारण है कि प्रतिक्रिया-लेखक यह मानते हैं कि 'कोई युगप्रवर्तक दार्शनिक अपने गौरवमय अतीत से प्रेरणा लेकर ही अपने सिद्धांतों का नवीन ताना-बाना बुनने में समर्थ हुआ है।' और अपने मत के समर्थन में प्रतिक्रिया-लेखक ने समकालीन दार्शनिक कार्ल मार्क्स, फ्रायड, विटगेंस्टीन का उदाहरण दिया है। ऐसा लगता है कि उन्होंने इन दार्शनिकों को शायद पढ़ा नहीं है और यदि पढ़ा है, तो उनके विचारों को ठीक तरह से समझा नहीं है। क्योंकि फ्रॉयड ने जिसस, मार्क्स ने हेगेल और विटगेंस्टीन ने तो संत अगस्तीन से लेकर रसेल और यहाँ तक कि खुद अपने प्रथम चरण के दर्शन ट्रैक्टेटस् के दर्शन तक को गलत कहने में तनिक भी संकोच नहीं किया। और यह तो जग-जाहिर है कि ये तीनों समकालीन धुरंधर दार्शनिक परंपरा-भंजक रहे हैं। अतः इन्हें अतीतोन्मुख साबित करना अपनी अज्ञानता का ढ़िंडोरा पीटना है। अतः इस तरह की युक्तियों से सावधान रहने की जरूरत है। जहां तक अतीत की रचनाओं को आत्मसात् करने का प्रश्न है, हमें समझना चाहिये कि अतीत की रचनाओं को आत्मसात् करना एक बात है और अतीतोन्मुखी होना बिलकुल दूसरी बात है। चूंकी 'सच्चाई' वर्तमान और भविष्य में है, इसलिए अतीतोन्मुखी होना भले ही अपराध न हो, किन्तु यह अवास्तविक जरूर है। और यही उसका पर्याप्त दुर्गुण है।

उसके बाद प्रतिक्रिया-लेखक ने विश्व-दृष्टि या जीवन-दृष्टि से सम्पन्न मौलिक दृष्टि के अभाव का कारण संस्कृत भाषा की अज्ञानता और अंग्रेजी भाषा के ज्ञान के प्रति उदासी को स्वीकार किया है। इसका अर्थ यह हुआ कि मौलिक चिन्तन करना है, तो किस भाषा में ? क्या भाषा का प्रश्न खड़ा करना, मौलिक चिंतन से कतराना नहीं है ? व्यक्ति जो भाषा बोल-चाल रहा है, समझ रहा है, क्या वह उसमें मौलिक चिंतन नहीं कर सकता ? मेरे विचार से तो व्यक्ति जिस भाषा में दिन-रात स्वयं को व्यक्त करता है, सिर्फ उसी भाषा में वह मौलिक चिंतन कर सकता है। रही बात संस्कृत भाषा के अज्ञान की, तो संस्कृत भाषा की अज्ञानता का कारण उसका ही आभिजात्य संस्कार है। क्योंकि वह सदैव एक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सीमित परंपरावादी पुरोहितपन में फँसा रहा, जिसके कारण आज तक उसे नवीन ज्ञान का स्पर्श तक नहीं हो सका। नतीजा यह हुआ है कि आज के अधिकांश संस्कृत पंडित मूलतः अवैज्ञानिक और प्रतिगामी प्रवृत्ति रखते हैं। ऐसी स्थिति में कम-से-कम संस्कृत पंडित से तो नवीन भारतीय चिंतन की अपेक्षा ही नहीं की जा सकती। और अगर आज कोई भारतीय मौलिक चिंतन होना हो, तो विश्व के समस्त नवीन ज्ञान की उपेक्षा असंभव है।

अंत में प्रतिक्रिया-लेखक ने भाषा के प्रश्न के बाद 'भारतीयता' का प्रश्न उठाया है और कहा है कि 'भारतीयता बड़ा व्यापक एवं अर्थ-गर्भित पद है, जिसपर पृथक् रूप से विचार करना आवश्यक है।' दरअसल 'भारतीयता' के लक्षणों की खोज प्रतिक्रिया-लेखक के अतीतोन्मुखी मनोवृत्ति का सूचक है। हम 'भारतीयता' को कहां ढूँढेंगे ? बेशक अतीत की परंपराओं में और यही तो अतीतगामी प्रवृत्ति है। और डॉ. सिंह ने अपने निबंध में इसी अतीतोन्मुखी प्रवृत्ति का विरोध किया है। उन्हीं के शब्दों में– 'दुर्भाग्य से हमारा वर्तमान दार्शनिक चिन्तन एवं लेखन मुख्य रूप से या तो अतीतोन्मुखी रहा है या पाश्चात्यनुयायी।' यदि इस तथ्य को समग्र रूप से समझ लिया जाय, तो कोई भी विवेकशील मनुष्य न तो भाषा का प्रश्न उठायेगा, न भारतीयता का। क्योंकि ऐसा प्रश्न मनुष्य को मौलिक चिन्तन से विमुख कर देगा। मौलिक चिन्तन का नारा जब कोई दार्शनिक देता है, तो बजाय इसके कि मौलिक चिन्तन की प्रक्रिया में शामिल हो जायें, ऐसे सवाल उठाये जाते हैं, जिससे सिर्फ बौद्धिक असहायता का ही पता चलता है। लगता है ऐसे लोगों में अपने बल-बूते पर चिंतन करने का संपूर्ण विश्वास ही समाप्त हो चुका है। माननीय प्रतिक्रिया-लेखक को यह देखना चाहिये कि हमारी सांस्कृतिक धरोहर में इतने विविध तत्त्व हैं कि भारतीयता का एकमेव परिभाषीकरण संभव ही नहीं है। जबकि दूसरी ओर वर्तमान में भारतीयता एक जगह सुनिश्चित हो गयी है, हमारे अतीत के कौन से गुण भारतीयता के दूर या पास हैं, यह तो विवादास्पद हो सकता है; किन्तु हम निर्विवाद रूप से अब भारतीय हैं। इसे कोई भी सीधे-सादे तौर पर इन्कार नहीं कर सकता। स्वतंत्र भारत में हमारे अस्तित्व में आज एक ऐसा सुनिश्चित तत्त्व मौजूद है। इसलिए हम अतीत में भारतीयता की खोज न करके वर्तमान में अपने नये चिन्तन से क्यों न अपनी भारतीयता की नई पहचान बनायें ? इस संबंध में प्रो. साह की दूसरी प्रतिक्रिया अधिक सटीक दृष्टिकोण उपस्थित करती है। उनके अनुसार 'हमारा राष्ट्रीय चरित्र बताना शायद कठिन हो। लेकिन हमारे प्रमुख राष्ट्रीय दुर्गुणों में एक है –वर्तमान की उपेक्षा करते हुए अतीत की महिमा का गायन।' दरअसल अत्यधिक रटित विचार व्यक्ति की बुद्धि की नसबंदी कर देता है और वह खुद विचार करने के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

काबिल नहीं रह जाता है। नतीजा यह होता है कि वह या तो अतीत का अंध-भक्त होता है, या फिर वह पाश्चात्य दर्शन का अंधानुकरण करता है। बस यही उसका पुरुषार्थ होता है। इस अर्थ में प्रो. ब्रजनारायण शर्मा की प्रतिक्रिया से उनके पुरुषार्थ का पता चलता है।

अंत में हम डॉ. सिंह के निबंध पर कुछ मौलिक प्रश्न उठाना पसंद करेंगे। उनके अनुसार, 'दर्शन वास्तव में संस्कृति की आत्म-चेतना ही है।' यहाँ यह स्पष्ट नहीं है कि संस्कृति की आत्म-चेतना का अर्थ क्या होता है? और दूसरा यह है कि उन्होंने गांधी को दार्शनिक मानने का आग्रह किया है। उनके इस आग्रह का क्या अर्थ लगाया जाय? जबकि गांधी का समस्त चिन्तन अतीतोन्मुखी प्रवृत्तियों का एनसाइक्लोपीडिया है और साथ ही थोरो, रस्किन आदि पाश्चात्य दार्शनिकों के विचारों का अंधानुकरण का स्पष्ट लक्षण भी उसमें मिलता है।

द्वारा, कामेश्वर प्रसाद
एडवोकेट
डिकशन रोड,
भागलपुर – ८१०००१ (बिहार)

– ओम् प्रकाश सामवे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

— २ —

परामर्श (हिन्दी) खंड ६, अंक ३ में डॉ. रामजी सिंह का एक लेख प्रकाशित हुआ था– 'समकालीन भारतीय दर्शन की दिशा'। डॉ. विजयकुमार सिन्हा ने अपनी प्रतिक्रिया उक्त निबन्ध पर प्रकट की है। उनकी प्रतिक्रिया परामर्श, खंड ६, अंक २ में प्रकाशित हुई है।

मेरी विनम्र अवधारणा के अनुसार डॉ. सिंह के लेख में जिन मुद्दों को उठाया गया है वे निम्नलिखित हैं–

(क) समकालीन भारतीय दर्शन वर्तमान सामाजिक समस्याओं से विमुख है, और यह उसका दुर्भाग्य है। मैं इस बात से सहमत हूँ।

(ख) समकालीन भारतीय दर्शन या तो अतीतोन्मुखी है या पाश्चात्यानुयायी बना है।

(ग) समकालीन भारतीय दर्शन मूल्यपरक नहीं है, वरन् इतिहासजन्य है। विश्वविद्यालयीन पाठ्यक्रम में जिस दर्शन का अध्ययन–अध्यापन किया जाता है, वह मात्र दर्शन का इतिहास है, उसमें वर्तमान समस्याओं के दार्शनिक विश्लेषण की अपेक्षा है, दर्शन के इतिहास की नहीं।

(घ) दर्शन संस्कृति–सापेक्ष है, उसकी प्रगति का मूल कारण उसकी संस्कृति–सापेक्षता यही है।

(ङ) दर्शन काल और देश की सीमा के बाहर नहीं हो सकता।

(च) समकालीन भारतीय दर्शन को सर्जनात्मक होना चाहिए, नवीन प्रतिपाद्य का स्थापक होना चाहिए।

(च) समकालीन भारतीय दर्शन में समन्वयात्मक प्रवृत्ति होनी चाहिए।

(ज) आत्मविश्वास (जैसा कि मार्क्स, फ्रॉयड, शंकर बुद्ध इत्यादि में था) की कमी ने समकालीन भारतीय दर्शन को मौलिक नहीं रहने दिया है।

(झ) परिणामतः भारतीय दर्शन की दुर्गति उसकी ही जन्मभूमि में हो रही है। दुर्गति क्या, भारतीय दर्शन का अवसान ही समझिए।

डॉ. रामजी सिंह की उपर्युक्त बातों में तथ्य है, कोरी कल्पना नहीं। समकालीन भारतीय दर्शन के सभी महान् चिन्तकों को देख जाइये, शंकर के अद्वैत की सीमा में बँधे मिलते हैं या साम्यवादी खूँटों में जड़े पाते हैं अथवा विएना

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

सर्किल की चौकड़ी का आनन्द लेना चाहते हैं; और दर्शन को जीवन की समस्याओं से पृथक् कर भाषा–विश्लेषण, तर्कीय प्रत्यक्षवाद आदि मानसिक–व्यामामी सिद्धांत को ही दर्शन मान बैठते हैं। वास्तव में दर्शन कोई सिद्धांत नहीं, कोई विषय नहीं। दर्शन जीवन–दृष्टि है, जीवन–पद्धति है। जीवन–दृष्टि और जीवन–पद्धति वर्तमान सामाजिक समस्याओं के अनुरूप बनाती है। इसलिए आज हमें जिस दर्शन की जरूरत है, उसके लिए आवश्यक है– समकालीन भारतीय दर्शन को न तो अतीतोन्मुखी होने देना और न ही पश्चात्यानुयायी होने देना। अपनी समस्याओं के तहत एक नये दर्शन की उत्पत्ति आवश्यक है। समयानुकूल दर्शन ही वास्तविक दर्शन है, व्याख्यात्मक दर्शन नहीं। किन्तु डॉ. विजय कुमार सिन्हा व्याख्यात्मक दर्शन को ही वास्तविक दर्शन मानते हैं, ऐसा प्रतीत होता है क्योंकि फ्रॉयड, मार्क्स, विट्गेंस्टाइन आदि का उदाहरण लेना उनकी दृष्टि में भौतिकवादी बन जाना है।

विद्वान् मनीषी डॉ. सिंह ने फ्रॉयड आदि का उदाहरण लेकर यह बतलाने की कोशिश की है कि समयानुकूल (वास्तविक) दर्शन की उत्पत्ति के लिए फ्रॉयड आदि की तरह साहसी एवं निर्भीक होना चाहिए। डॉ. सिंह ने शंकर, विवेकानन्द आदि आध्यात्मिक विचारकों का भी उदाहरण लिया है और उनके साहस एवं निर्भीकता की प्रशंसा की है। पर मेरे विद्वान् मित्र डॉ. सिन्हा शायद इसी बिन्दु को नजरअन्दाज कर रहे हैं।

जिस तरह डॉ. सिन्हा ने शंकरादि के उदाहरण को छोड़ दिया है, उसी तरह उन्होंने समकालीन भारतीय दर्शन को मात्र पाश्चात्यानुयायी माना है, अतीतोन्मुखी नहीं। शायद उन्होंने भारतीय दर्शन (प्राचीन और समकालीन) का अध्ययन नहीं किया है, और यदि उन्होंने भारतीय दर्शन का अध्ययन किया है तो समकालीन भारतीय दर्शन को अतीतोन्मुखी नहीं मानना उनका 'प्रीजुडिस्' है। डॉ. सिन्हा की मान्यता है कि (क) समकालीन भारतीय दर्शन अतीतोन्मुखी नहीं है। और (ख) कोई (भी) विचार पूर्वगामी विचारधाराओं से प्रभावित होता है।

समकालीन भारतीय दर्शन पूर्वगामी विचारों का ही संकलन है। अतः यदि (ख) प्रतिज्ञप्ति को मान लिया जाय, तो समकालीन दर्शन अतीतोन्मुखी है। अतएव डॉ. सिन्हा की उपर्युक्त दोनों मान्यताएँ विरोधी एवं असंगत हैं।

ऐसा लगता है कि डॉ. सिन्हा लेख के भाव को सही ढंग से नहीं समझ पाये हैं। एक उदाहरण से यह स्पष्ट होता है। डॉ. सिंह की इन पंक्तियों– "आधुनिक भारतीय दार्शनिकों की मुख्य समस्या है कि वह अपने दार्शनिक वर्तमान में अपनी परम्परा को किस तरह व्याख्यापूर्ण ढंग से समन्वित करें। यही है शंका, संभ्रम

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

और लक्ष्यभ्रष्टता की स्थिति।"— से डॉ. सिंहा ने आशय लिया है कि डॉ. सिंह 'अतीत के कुछ मूल्यों की शाश्वतता' को नूतन परिवेश में स्वीकारते हैं। किन्तु इन पंक्तियों का भाव यह नहीं है, वरन् समकालीन भारतीय दर्शन की दिशा-विहीनता और लक्ष्यविहीनता का मुख्य कारण परम्परा (अतीत-मूल्य) का वर्तमान दर्शन में जुड़ा रहना है- यही भाव है डॉ. रामजी सिंह का।

डॉ. सिन्हा मानते हैं कि हमारे पास आत्मविश्वास की कमी नहीं है, केवल आत्मविश्लेषण की कमी है। आत्मविश्लेषण आत्मविश्वास के बिना असंभव है। अतः डॉ. सिन्हा पुनः विरोधी एवं असंगत बात कहते हैं। यदि आत्मविश्लेषण की कमी है, तो यह न तो पाश्चात्य-संस्कृति का अनुकरण करने से आयेगा और न ही कर्म-सिद्धांत की माला फेरने से। यह वर्तमान सामाजिक समस्याओं के अंदर से ही उत्पन्न होगा, केवल आवश्यकता है विश्वास और साहस की। अतीतोन्मुखी होकर हमने इसे खो दिया है। पाश्चात्यानुयायी होने का भी यही परिणाम है। समकालीन भारतीय दर्शन को दिशा-बोध देने के लिए इन दोनों ध्रुवों से अलग होना होगा, और वर्तमान सामाजिक समस्याओं से ही जुड़ा रहना होगा।

— नरेशप्रसाद तिवारी
व्याख्याता, दर्शन विभाग
एस्. यू. कॉलेज, हिलसा (नालन्दा)- ८०१३०'.

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

– ३ –

परामर्श (हिन्दी) खण्ड–७ अंक १ में श्री. विश्वप्रकाश दीक्षित "बटुक" द्वारा मेरे लेख "'दम्पति' शब्द का लिंग" के संबंध में की गई आलोचना पढ़कर लगता है कि उन्होंने लेख को समझने की आंशिक कोशिश ही की है। उन्होंने सिर्फ इकारान्त और ईकारान्त वाले तर्क को (जो कि सहायक जैसा है) पकड़कर अच्छा खासा शब्दजाल बुन दिया है। कवि, हरि आदि जिन संज्ञाओं की चर्चा की गई है उनके अर्थबोध में और लिंग वचन आदि के संबंध में वे घोटाले संभव नहीं हैं जो 'दम्पति' के साथ हो सकते हैं क्यों कि 'दम्पति' एक समूह-वाचक संज्ञा (कलेक्टिव नाउन) है। लेख के संबंध में लेख से बड़ा स्पष्टीकरण देना मैं फिलहाल नहीं चाहता। एक बात और, मुझे आश्चर्य हुआ यह जानकर कि श्री. 'बटुक' भूल गए कि नपुंसक लिंग हिन्दी में नहीं है। मजें की बात तो ये है कि स्वयं 'नपुंसक' शब्द भी नपुंसक लिंग का शब्द नहीं है।

– अनिलकुमार हर्षे
म. प्र. विद्युत् मण्डल, गाड़ासरई (मंडला). (म. प्र.)

श्री. अनिलकुमार हर्षे जी के लेख पर प्रतिक्रिया इसके साथ समाप्त की जा रही है।

– कार्यकारी सम्पादक

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

ग्रन्थ–समीक्षा

(नंदकिशोर आचार्य; रचना का सच.; वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर; १९८६; पृष्ठ–संख्या १८२; डिमाई; मूल्य : साठ रुपये)

नंदकिशोर आचार्य सर्जक ही नहीं, चिंतक भी हैं। साहित्य–मूल्यों के विषय में वे निरंतर सोचते–विचारते रहते हैं। उनका यह सोच–विचार सिद्धान्त–प्रतिपादन और समीक्षा–कर्म दोनों रूपों में व्यक्त होता रहा है। वत्सल–निधि और राजस्थान साहित्य अकादमी द्वारा आयोजित गोष्ठियों में उन्होंने अनेक बार पत्र–वाचन किया है। राजस्थान–पत्रिका के लिए उन्होंने कुछ समय तक स्तम्भ–लेखन भी किया था और विभिन्न पत्र–पत्रिकाओं के लिए पुस्तक–समीक्षा का कार्य किया था। यह सारी सामग्री रचना का सच में संकलित कर के उपलब्ध कराई गई है।

इस सामग्री के विषय में पुस्तक के 'निवेदन' में आचार्यजी ने लिखा है; "ये लेख और टिप्पणियाँ मूल्यांकन नहीं हैं" क्योंकि "आलोचना मेरे लिए मूलतः अपने ही रचना-कर्म के सवालों को समझने और उन्हें सुलझाने की एक कोशिश रही है। प्रत्येक रचना मूलतः और अन्ततः एक रचना दृष्टि– क्रिएटिव व्हिज़न का रूप–ग्रहण और सम्प्रेषण है...।" ध्यान देने की बात है कि उन्होंने क्रिएटिव व्हिज़न या सर्जनात्मक संदृष्टि के रूपग्रहण का ही नहीं, उसके सम्प्रेषण का भी उल्लेख किया है। इससे आलोचना उनके अपने रचना–कर्म की व्याख्या और रचना की समस्याओं का विवेचन बनने से बच गई है।

लेखक की "कोशिश एक रचना–प्रक्रिया में साफा करने की रही है।" ऐसा इसीलिए हो सका है कि समीक्षा के क्षणों में आचार्यजी ने अपने–आपको लेखकत्व की चेतना से पूरी तरह मुक्त रखा है। इसलिए पुस्तक पढ़ते समय ऐसा प्रायः नहीं लगता कि पाठक किसी सर्जक की समीक्षा–कृति पढ़ रहा है।

आचार्यजी ने रचना के आस्वाद का विश्लेषण रचना के सर्जनात्मक वैशिष्ट्य के सम्बंध से किया है। इस समीक्षापद्धति का एक उदाहरण निर्मल वर्मा के

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

कहानी-संग्रह कब और काला पानी की समीक्षा से दिया जा सकता है। इस कहानी-संग्रह की समीक्षा करते हुए आचार्यजी ने पहले आस्वाद के कोण से लिखा है; "ये कहानियाँ किसी उदासी में डुबाकर नहीं छोड़ जाती बल्कि आत्मा के किसी घाव को जैसे कुरेद जाती हैं और इसी कारण इन कहानियों को पढ़ चुकने पर हम एक गहरी बेचैनी और तिलमिलाहट देर तक महसूस करते हैं।" (पृष्ठ १२३) इसके बाद उन्होंने इस अनुभूति का कारण निर्मल वर्मा के कथा-शिल्प में खोजा है; "निर्मल वर्मा की यह भाषा सिर्फ नैरेशन की- वर्णन की भाषा नहीं है। यह प्रस्तुति की, नाटक की भाषा है और इसिलिए 'डर का कोई कारण नहीं था' वाक्य आत्मविश्वास की सारी कोशिश के पीछे काँपते मन को हमारे सामने नंगा कर देता है- लेकिन नंगा ही करता है, स्पष्ट नहीं करता क्योंकि नंगापन एक अहसास है जबकि स्पष्टता समझ।" (पृष्ठ १९६)

'रचना-कर्म के सवालों को समझने' की कोशिश के पीछे सर्जनात्मक मूल्यों के प्रति लेखक का आग्रह भी रहा है। यथार्थ और विचारधारा को लेखक तब तक महत्त्व नहीं देता जब तक वे सर्जन में खप नहीं जाते। साहित्य को एक अस्त्र मानकर प्रचार के लिए उसका प्रयोग करनेवाली दृष्टि का उन्होंने रह-रह कर प्रतिवाद किया है। 'परिवेश की चुनौतियाँ और आलोचना' शीर्षक लेख में उन्होंने लिखा है; "कोई भी विचारधारा- चाहे वह आध्यात्मिक हो या भौतिकवादी- साहित्य की रचना, परख और मूल्यांकन की कसौटी नहीं हो सकती। वह साहित्य के विश्लेषण और समझ में एक सीमा तक हमारी सहायता कर सकती है, लेकिन उसकी श्रेष्ठता या प्रासंगिकता के एकमात्र प्रतिमान के रूप में स्वीकार नहीं की जा सकती। यदि ऐसा होता है तो यही मानना होगा कि विचारधारा या संगठन चाहे वह राज्य हो या कोई राजनैतिक दल या कोई साम्प्रदायिक संस्था साहित्य की ही नहीं मानव मात्र की स्वाधीनता के लिए दमनकारी है।" (पृष्ठ ४६) इसी प्रयोजन से उन्होंने सर्वेश्वर दयाल सक्सेना के ये शब्द भी रेखांकित किए हैं; "मेरे खयाल से अगर कोई यह सोचकर लिखता है कि कविता से वह समाज बदल देगा, तो उससे बड़ा बेवकूफ दुनिया में कोई नहीं होगा। कविता लिखकर तो हम अपने अस्तित्व को सार्थक करते हैं। "समाज कविता लिखने से बदल जाएगा या कविता हथियार-जैसा कुछ है, यह सब तो राजनीतिक लोग कहते हैं। कवि यह नहीं मानता" (पृष्ठ ११३)

लेखक की मान्यता रही है कि साहित्य में परिवर्तन की क्षमता होती भी है तो उसकी प्रक्रिया बहुत ही सूक्ष्म, परोक्ष, और धीमी होने के कारण अलक्षित रहती है। साहित्य समाज को किसी दिशा में हाँकने की चेष्टा करता है तो उससे

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

उसका अपना सौन्दर्य आहत होता है। साहित्य से समाज में कोई परिवर्तन होता है तो संवेदना के संस्कार के माध्यम से ही; "साहित्य यदि समाज में कोई परिवर्तन घटित करता भी है तो वह संवेदन के गहनतम स्तर का पुनः संस्कार ही होता है।" (पृष्ठ ५६) विजयदेव नारायण साही की कविताओं की समीक्षा में भी आचार्यजी का यह दृष्टिकोण व्यक्त हुआ है कि कविताएँ कवि का एकालाप होने की स्थिति में भी पाठक को साक्षीदार बना सकती हैं और ऐसा होने पर एकालाप संवाद बन जाता है। नंद चतुर्वेदी के कविता-संग्रह यह समय मामूली नहीं की समीक्षा करते हुए उन्होंने स्पष्ट शब्दों में लिखा है: "भाषा यदि हथियार हो भी तो उसका अंधाधुंद इस्तेमाल न केवल कवि के असामर्थ्य को बताता है, बल्कि भाषामात्र की काव्यात्मक विश्वसनीयता पर आघात करता है।" (पृष्ठ १०८) साहित्य को प्रचार का साधन मान लेने का अर्थ होगा छल और फरेब के लिए उसके प्रयोग को छूट देना। इसे आचार्यजी सर्जन-कर्म का विलोम मानते हैं और रचनाकारों की प्रयोगशीलता को 'भाषा की इस काव्यात्मक विश्वसनीयता को अर्जित करने के ही प्रयास' के रूप में देखते हैं। (पृष्ठ ३५)

'विचारधारा' के मोह ने किस प्रकार शिल्प का विचार साहित्य-समीक्षा से बहिष्कृत कर दिया है, इस बात की चर्चा लेखक ने सारिका द्वारा आयोजित कहानी-प्रतियोगिता के निर्णायकों द्वारा की गई टिप्पणी पर टिप्पणी करते हुए की है। इस स्थिति को उन्होंने साहित्य की सर्जनात्मकता के लिए घातक बतलाया है। उनके इस विचार से कोई भी सच्चा साहित्यप्रेमी शायद ही असहमत होगा।

शिल्प और कला के प्रति इस आग्रह के कारण आचार्यजी को कलावादी कहना उचित होगा, लेकिन इस शब्द का प्रयोग उनके विरुद्ध एक आरोप के रूप में किया जाता रहा है। इस पुस्तक के अनेक लेखों से यह प्रकट होता है कि वे साहित्य-रचना की ऐतिहासिक सामाजिक प्रक्रिया को स्वीकार करते हैं। रचनागत अनुभूति से लेकर 'विभिन्न स्तरों पर' सत्ता द्वारा भाषा के संवेदनात्मक शोषण, और मीडिया द्वारा झूठ के प्रसार के लिए भाषा की सर्जनात्मक क्षमता के अपहरण की चर्चा तक यह देखा जा सकता है कि साहित्य-रचना के ऐतिहासिक सामाजिक परिप्रेक्ष्य की अनदेखी आचार्यजी ने नहीं की है। अतएव इस अर्थ में उन्हें 'कलावादी' कहना उनके साथ अन्याय करना होगा।

आचार्यजी के विचारों में यदि कहीं असंतुलन या अतिवाद है तो वहाँ जहाँ वे 'यथार्थ' पर रचना से हटकर विचार करना अस्वीकार करते हैं। यह तो सही है कि रचना अपनी सर्जनात्मक गुणवत्ता के नाते ही महत्त्वपूर्ण मानी जानी चाहिए और यथार्थ का विचार भी उसकी सर्जनात्मक परिणति के प्रकाश में ही किया

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

जाना चाहिए; लेकिन यह मानना सही प्रतीत होता कि "किसी भी साहित्य-रचना को वास्तविक अर्थों में सर्जन तभी कहा जाना चाहिए या उसकी उत्कृष्टता का निर्धारण इसी आधार पर किया जाना चाहिए कि वह किसी पूर्वनिर्धारित यथार्थ को सम्प्रेषित करने की बजाय यथार्थ के किसी नये स्वरूप का सर्जन कर सकने में समर्थ है या नहीं।" (पृष्ठ ७१) यथार्थ, यथार्थ-बोध और यथार्थ का सम्प्रेषण तीनों अलग-अलग हैं। इनमें से किसी एक को महत्त्व देने के लिए अन्य दो में से किसी एक की या दोनों की अवमानता उचित नहीं जान पड़ती। माना कि साहित्य में रचनागत यथार्थ ही प्रासंगिक होता है, लेकिन 'यथार्थ के किसी नए रूप के सर्जन' की परिकल्पना द्वारा यथार्थ की सत्ता निरस्त नहीं की जा सकती। साहित्य-रचना का यथार्थोन्मुख होना आवश्यक नहीं है, लेकिन यथार्थ 'दिया हुआ' ही होता है, रचनाकार उसका सर्जन नहीं करता।

इस असहमति के बावजूद यह स्पष्ट है कि आचार्यजी के विचारों में प्रखरता और दृढता है। तर्क और विश्लेषण की अद्‌भुत क्षमता का साक्ष्य भी इस पुस्तक में मिलता है। इस पुस्तक में व्यक्त विचार पाठक को अपने साथ बहा ले जाने के स्थान पर उसे झकझोर में डालते हैं। इसी नाते यह एक महत्त्वपूर्ण कृति है।

५६, गोल्फ कोर्स
जोधपुर- ३४२००१
(राजस्थान)

- जगदीश शर्मा

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

आजीवन सदस्य (संस्थाएँ)

१४. ग्रन्थालयाध्यक्ष
नागपुर विश्वविद्यालय ग्रन्थालय
नागपुर– ४४००१०

१५. प्राचार्य,
सन्त अल्बर्टस् कॉलेज
रांची– ८३४० १
(बिहार)

१६. ग्रन्थालयाध्यक्ष
मणिपुर विश्वविद्यालय ग्रन्थालय
कांचीपुर
इम्फाल– ७९५००३
(मणिपुर)

१७. ग्रन्थालयाध्यक्ष
गुजरात विद्यापीठ ग्रन्थालय
अहमदाबाद–३८००१४

आजीवन सदस्य (व्यक्ति)

९५. प्रोफेसर धर्मेन्द्र गोयल
मकान नं. टी १/१२
सेक्टर २५
चन्दीगढ़– १६००१४

९६. डॉ. रघुवंश झा
दर्शन विभाग
ल. ना. मिथिला विश्वविद्यालय
दरभंगा (बिहार)

९७. श्री. सत्यप्रकाश पाण्डेय
दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी– २२१००५
(उ. प्रदेश)

९८ डॉ. गोरखनाथ मिश्र
म्युनिसिपल ब्लॉक क्र. A–२/१
टोंक।
कारंझालेम– ४०३ ००२
(गोवा)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

९९. डॉ. राकेश विष्णुदत्त
अध्यक्ष, हिन्दी विभाग
गुरुकुल कांगडी विश्वविद्यालय
कांगड़ी– २४९४०४
(उ. प्र.)

१००. डॉ. केशव प्रथमवीर
३६७ ब, शिपी आळी
के. एस्. अग्रवाल बिल्डिंग
सेंट्रल स्ट्रीट
पुणे– ४११००१

१०१. डॉ. करण सिंग
३, न्याय मार्ग
चाणक्यपुरी
नई दिल्ली

१०२. प्रोफेसर कान्तिलाल जे. शहा
नवोदय नगर
धारवाड– ५८०००३

१०३. डॉ. कु. निर्मल गर्ग
२१, गुमानपुरा
पुलिस चौकी के पास
कोटा
(राजस्थान)

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

प्रकाशनार्थ लेखों की दो टाईप की हुई प्रतियाँ भिजवाई जाएँ तो हमारे लिए अधिक सुविधा होगी। लेख सामान्यत: ६५०० शब्दों से बड़ा न हो। लेख के बारे में निर्णय लेख के प्राप्त होने पर दो महीनों में ही सूचित किया जायगा। जिन लेखों के प्रकाशन की पूर्वसूचना लेख प्राप्त होने से दो महीनों में लेखकों के पास नहीं पहुंचेगी उन्हें अस्वीकृत समझें। जिस लेखनसामग्री का हम उपयोग नहीं कर पाएँगे उसे आवश्यक पोस्टेज सहित लिफाफा साथ में रहने पर वापस किया जा सकेगा।

परामर्श वैचारिक पत्रिका है अत: विशुद्ध चिन्तनपरक सामग्री का स्वागत होगा। यह जरूरी नहीं कि लेखकों के विचारों से संपादक सहमत हों। प्रकाशित लेखों के संबंध में आई हुई वैचारिक टिप्पणियों का भी स्वागत है और उन्हें आवश्यकतानुसार प्रकाशित भी किया जाएगा।

पुणे विश्वविद्यालय का दर्शन विभाग और प्रताप तत्त्वज्ञान केन्द्र अमलनेर के लिए संपादक सुरेन्द्र बारलिंगे ने यह त्रैमासिक महाराष्ट्र राष्ट्रभाषा सभा प्रेस, पुणे ४११०३० में छपवाकर प्रकाशित किया।

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

परामर्श (हिन्दी)

पंजीकरण सं. 39883 / 79

जगदीश शर्मा	साहित्य रचना और समाज	२१३
विनोद शंकर	गणित के क्षेत्र में ज्ञान की संभावना	२२१
छाया राय	पद्धतिशास्त्र एवं दर्शनशास्त्र	२२६
राममूर्ति त्रिपाठी	कालिदास और अश्वघोष– सौन्दर्य-दृष्टि	२३५
कमलाकुमारी	सोरेन किर्केगार्ड का मानव व्यक्ति– एक विवेचन	२४१
के. पी. वर्मा	धार्मिक भाषा की सार्थकता	२५६
राजेशकुमार सिंह	अद्वैत वेदान्त में जीवनन्मुक्ति का संप्रत्यय	२६८
नीलिमा सिन्हा	संशय का दार्शनिक विश्लेषण	२७४
राजेन्द्र शर्मा	आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का सौन्दर्य-बोध	२८८
	प्रतिक्रियाएँ	२९५
	ग्रंथ–समीक्षा	३०३

CC-0. RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-2

RajGuru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.

CC-0. In Public Domain. Digitization by eGangotri/Sarayu Trust. Funding IKS-MoE-Grant-

Guru Math, Shivala, Varanasi Collection. Equipment: Heritage Foundation, Jalgaon.